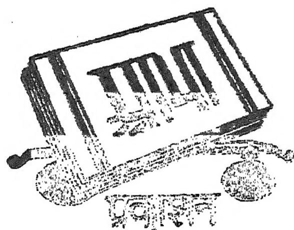
# ज्वार सेतु

## राजेन्द्र शर्मा



# सागर-सेतु

महामण्डलेश्वर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ श्री १०८ स्वामी चैतन्य-
गिरिजी महाराज के प्रवचनों के आधार पर



राजेन्द्र शर्मा

आभा प्रकाशन
७/३ दरियागंज, दिल्ली

प्रकाशक :
आभा प्रकाशन,
७/२ दरियागंज, दिल्ली।

मुख्य वितरक :
राजकमल प्रकाशन लिमिटेड,
दिल्ली, बम्बई, नई दिल्ली।



मूल्य पांच रुपये

मुद्रक :
श्री गोपीनाथ सेठ, नवीन प्रेस, दिल्ली।

# निवेदन

ज्ञानी भक्तों में कबीर बहुत उच्चकोटि के भक्त हो गए हैं। वह निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे। देहाभिमान से वह इतने मुक्त हो चुके थे कि उन्होंने गाया—'दास कबीर जतन सौं ओढ़ी ज्यों-की-त्यों धर दीनि चदरिया।' संसार से वह विरक्त थे और पूर्णब्रह्म में उनकी स्थिति थी। तथापि, ऐसा प्रसिद्ध है कि जब उनका अन्तिम समय आ पहुँचा, तो वह रोने लगे। उनके अश्रु-सिंचित नेत्र देखकर पास बैठी शिष्य-मण्डली आश्चर्य से स्तब्ध रह गई। जिसकी देह में आसक्ति नहीं, उसकी आँखों में मरण-काल में अश्रु कैसे? कबीर ने उनकी आश्चर्यमयी भंगिमा को देखा और प्रश्न किया—"किस लिए आप ऐसे चकित दिखाई दे रहे हैं?"

"गुरुदेव! आपके नेत्रों में इस समय जल का होना ही हमारे विस्मय का कारण है।"

"समझा!" गम्भीर वाणी में कबीर बोले—"परन्तु, आप यह नहीं जान पाये कि मेरी आँखों में आँसू क्यों हैं। मैं इसलिए नहीं रो रहा कि मेरा नश्वर शरीर अब मुझसे छूट रहा है, वरन् मुझे दुःख इस बात का है कि सत्संग और शास्त्र-चिन्तन नहीं कर पाऊँगा। यही मेरे दुःख का वास्तविक कारण है।" कबीर की इस वाणी से सत्संग और शास्त्र-चिन्तन दोनों का महत्त्व स्पष्ट हो रहा है। सत्संग से ही शास्त्र-चिन्तन की प्रेरणा प्राप्त होती है और सत्संग द्वारा ही शास्त्र का युक्तियुक्त अर्थ समझ में आता है। जिस प्रकार हमें शरीर-निर्वाह के लिए स्थान, भोजन एवं वस्त्र की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार मानसिक तृप्ति के लिए हमें सत्संग-रूपी मकान, शास्त्र-श्रवण-रूपी वस्त्र और भगवत्-चिन्तन-रूपी भोजन की आवश्यकता रहती है। मानसिक तृप्ति के अभाव में शारीरिक तृप्ति से मनुष्य कभी सुखी

नहीं होता। इसीलिए श्रुति कहती है—"स्वाध्यायान्मा प्रमदः"। स्वाध्याय में कभी प्रमाद अर्थात् आलस्य नहीं करना चाहिए। शास्त्रों का स्वाध्याय करने से ही मनुष्य को अपने धर्म का ज्ञान होगा, अपने स्वरूप को जानने की जिज्ञासा होगी और सन्मार्ग पर अग्रसर होता हुआ वह कल्याण का भागी होगा। स्वाध्याय किस शास्त्र का करे? उत्तर है, उस शास्त्र का जो हमें इस जीवन-मरण रूपी भयंकर चक्र से छुड़ाए। और "यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम" को हमारे सम्मुख विशद रूप से श्रुतियाँ ही उपस्थित करती हैं। उनके द्वारा ही हमें अपने स्वरूप का, कूटस्थ, निर्विकार, एकरस, आनन्दघन, ज्ञानरूप आत्मा का परिचय प्राप्त होता है, साक्षात्कार करने का उपाय, प्रेरणा और साधन उपलब्ध होते हैं। इसी दृष्टि से 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में याज्ञवल्क्य ने कहा भी है कि—श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। हे मैत्रेयी! आत्मा का ही श्रवण करो, आत्मा का ही मनन करो और उसी का निदिध्यासन करो।

श्रवण से उसका स्वरूप पहले समझना होता है। श्रवण से जब उस आत्मा के स्वरूप का परिचय प्राप्त होगा, तभी उसका मनन होगा और तत्पश्चात् मनन को दृढ़तम बनाकर उसका साक्षात्कार करने के लिए है निदिध्यासन। तो इस मार्ग की सबसे पहली सीढ़ी है, श्रवण। 'तैत्तिरीयोपनिषद्' में कहा है—'प्रवचनँ सन्धानम्' अर्थात गुरुद्वारा दिया गया उपदेश ही सन्धि का हेतु है। जिस प्रकार सन्धि में दो वर्णों के मिलने से एक तीसरे ही वर्ण का जन्म हो जाता है, इसी प्रकार गुरु और शिष्य के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाली विद्या अथवा ज्ञान सन्धि के समान है। इस सन्धि के प्रकट होने का कारण है, प्रवचन। गुरु का उपदेश देना और शिष्य का उसे समझकर ग्रहण करना, यही सन्धान है। तो इस प्रकार जो गुरु के प्रवचनों को श्रद्धापूर्वक धारण करता है, वह अवश्य ही विद्या प्राप्त कर विद्वान् हो जाता है। श्रुति ने यहाँ स्पष्ट कर दिया है कि विद्या, आत्मविद्या गुरु के प्रवचन से ही सुलभ हो सकती है। इसी भाव को एक और श्रुति ने भी व्यक्त किया है :—

नैषा तर्केण मतिरापनेया
प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ। (कठ०)

यह जो शास्त्र-प्रतिपाद्य आत्मविषयक मति है, वह तर्क से अथवा अपनी बुद्धि के ऊहापोह-मात्र से प्राप्त होने योग्य नहीं है। हे प्रेष्ठ! (प्रियतम) यह शास्त्रजनित आत्मबुद्धि, तार्किक से भिन्न किसी शास्त्रज्ञ आचार्य द्वारा उपदेश किए जाने पर ही सम्यक् ज्ञान का कारण होती है। अतः श्रद्धापूर्वक तत्त्ववेत्ता गुरु के प्रवचन को ग्रहण करने की महत्ता निर्विवाद रूप से सिद्ध होती है।

प्राचीनकाल में जब कि अन्तःकरण में सत्वगुण-प्रधान वृत्तियों का बाहुल्य होता था, प्रवचन से ही शिष्यों का कल्याण सुगमता से हो जाता था। सत्वगुण का कार्य है, विवेक और बुद्धि, और यह सत्वगुण बढ़ने से स्वतः निर्मलता पा जाते हैं। निर्मल, शुद्ध बुद्धि के लिए उपदेश ग्रहण करके उसका मनन करना भी सुगम होता था। परन्तु आज के युग में जहाँ ब्रह्मवेत्ता निःस्वार्थ कृपालु गुरुओं का अभाव है और मनुष्य-मात्र के अन्तः-करण राजस अथवा तामस गुणों से आक्रान्त हैं, वहाँ उपदेश श्रवण करना ही अत्यन्त कठिन है। जिसने तनिक भी सत्संग किया है, वह यह जानता है कि जन्म-मरण-रूप घोर संसार से पार होने के लिए परम शांतिस्वरूप मोक्ष ही एकमात्र उपाय है। शास्त्र ने कहा है—'जन्तूनां नरजन्म दुर्लभतरं'; और यही नहीं, जो कल्याण के लिए प्रयत्नशील नहीं है उसे शास्त्र ने आत्महत्यारा भी कहा है :—

लब्ध्वा कथंचिन्नरजन्म दुर्लभं
तत्रापि पुंस्त्वं श्रुतिपारदर्शनम्।
यस्त्वात्ममुक्तौ न यतेत मूढ़ धीः
स ह्यात्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात्॥

अर्थात् "किसी प्रकार पुण्यविशेष से परम दुर्लभ मानव जन्म पाकर, उसमें भी सम्पूर्ण श्रुतियों का आद्योपान्त अनुशीलन करने वाले पुरुष-शरीर को पाकर भी जो मूढ़चित्त मानव अपनी मुक्ति के लिए प्रयत्न नहीं करता, वह

आत्महत्यारा है।'' अतः इस 'आत्महत्यारे' की संज्ञा से बचने का एकमात्र उपाय है ब्रह्मनिष्ठ गुरु के प्रवचनों की सहायता से आत्मा का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना।

आत्मा का भी श्रुतियों ने अनेक प्रकार से निरूपण किया है। अनेक प्रकार से इसीलिए कि किसी भी तरह इस जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान हो और यह ब्रह्मपद प्राप्त करे। उपनिषदों ने इसे 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत' कहकर जगाया, और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' कहकर इसे बताया कि सब कुछ वही है, उसी में सब 'मणिगणाइव' ओत-प्रोत हैं और फिर 'सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' एवं 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (अर्थात् यह सारी प्रजा 'सत्' रूपी कारण से ही उत्पन्न हुई है, 'सत्' में ही निवास करती है, और अन्त में 'सत्' में ही प्रतिष्ठित होती है। यह सब कुछ ब्रह्म रूप ही है। वह ब्रह्म सत्य ही है, वही आत्मा है। वह ब्रह्म तू है') कहकर आत्मा और ब्रह्म को, जीव एवं ब्रह्म को अभिन्न बताते हुए इसे अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होने के लिए कटिबद्ध किया। इसी आत्मा के स्वरूप का निरूपण करते हुए श्रुति ने स्पष्ट शब्दों में समझाया है :—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः॥
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

ब्रह्म का यह सर्वप्रकाशकत्व समझने के लिए अद्वैतवाद का सार ग्रहण करना ही साधक के लिए अभीष्ट हो जाता है और इसी अभीष्ट की सिद्धि में परम सहयोग मिला है श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महामण्डलेश्वर स्वामी श्री चैतन्यगिरिजी महाराज (ऋषिकेश) का। आपने भक्तजनों पर कृपाकर अपनी अमृतमयी वाणी से उपर्युक्त मन्त्र को आधार बनाकर (संन्यास-आश्रम, दिल्ली में) जो अद्वैतवाद का सदुपदेश किया है, वही मुख्यतः इस ग्रंथ में संयोजित किया गया है। जिस रहस्य का पूज्य स्वामीजी ने

उद्घाटन एवं विश्लेषण किया है, वह संसार-सागर पार कराने के लिए सेतु के समान है। वह आजके भटके हुए भक्त-समाजके लिए चिंतामणि के सदृश है। इस चिंतामणि को पाकर वे तुलसीदासजी के शब्दों में सगर्व कह सकते हैं कि "अब लौं नसानी अब न नसिहौं।" 'नसाने' का अर्थ मृत्यु को प्राप्त होना, पुनः-पुनः जन्म-मरण-रूपी संसार के आवागमन चक्र में पड़ना ही है। इस तत्व को जान लेने के बाद जीव की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है, वह मुक्त हो जाता है। श्रुति भी कहती है :—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

अर्थात् जब परब्रह्म परमात्मा को भली भाँति जानने वाले महापुरुष की दृष्टि में सब भूत-प्राणी एकमात्र परमात्म-स्वरूप ही दिखाई देते हैं, तब वह निरन्तर एकमात्र परमेश्वर का साक्षात्कार करने वाला पुरुष शोक-मोह से सर्वदा के लिए सर्वथा मुक्त हो जाता है, आवागमन से छूट जाता है, संसार-सागर को पार कर लेता है। इसी दिशा में मनुष्य-मात्र को आगे बढ़ना चाहिए। यही जीवन का लक्ष्य है। इसी पवित्र उद्देश्य से यह 'सागर-सेतु' प्रस्तुत किया जा रहा है। यदि इसके अनुशीलन से हम आत्मा का स्वरूप जानकर उसके मनन का महत्व भी समझ जायं, तो निश्चय जानिये हमारा कल्याण देर-अबेर हो ही जायगा, और हम भी मुक्तकण्ठ से कह सकेंगे कि—"बलिहारी गुरु आपकी जिन गोविन्द दिए बताय।'

कार्तिक, पूर्णिमा, सम्वत् २०११। राजेन्द्र शर्मा

महामण्डलेश्वर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ पूज्य श्री १०८ स्वामो
चैतन्यगिरिजी महाराज के श्रीचरणों
में सादर समर्पित



महामण्डलेश्वर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ पूज्य

श्री १०८ स्वामी चैतन्यगिरिजी महाराज

# विषय-सूची



# मृत्यु पर विजय

प्राचीन काल की बात है। एक क्षत्रिय राजा शिकार खेलने गया। दूर एकांत वन में पहुँचा। वहाँ उसने कुछ दूरी से एक झाड़ी के पीछे मृग देखा। धनुष तीर पर चढ़ाया और छोड़ दिया। तीर मृग के पेट को चीरता हुआ निकल गया। नृपति को अपने घोर परिश्रम का यह सुफल देख कर संतोष हुआ। वह उसके समीप आया। लेकिन यह क्या ? यह तो मृग नहीं है ! उसने देखा, एक ऋषि-कुमार पुष्प-चयन के लिए इस वन-प्रदेश में आया हुआ था। उसने मृगचर्म बाँधा हुआ था। इसी कारण नृप को भ्रम हुआ। ऋषि-कुमार निश्चेष्ट पड़ा था। रक्त की धारा उसके उदर से बह निकली थी। पर उसके मुख की कान्ति तनिक भी मलिन न हुई थी। साथ ही वह मृत जान पड़ रहा था। मौन, निश्चेष्ट। अब तो नृप के मुख पर आया संतोष का भाव कपूर की तरह उड़ गया। वह भय और आशंका से सूख गया। ब्रह्म-हत्या उससे अनजान में हो गई। वह आत्म-ग्लानि से भर आया। पश्चात्ताप की अग्नि ने उसे चारों ओर से लपेट लिया। पर वह राजा था बड़ा विवेकशील, धर्मपरायण और शुद्ध-हृदय। उसने सोचा जिन ऋषि का यह पुत्र है अथवा जिन ब्रह्मनिष्ठ गुरु का यह शिष्य है, वह शाप से मुझे ही नहीं, प्रत्युत् मेरे कुल राजपाट का विध्वंस कर डालेंगे। भय से उसकी देह कदली की तरह विकम्पित हुई। उसने तत्काल निर्णय किया, "उचित यही होगा कि मैं उन गुरु के आश्रम की खोज करूँ जिनका यह शिष्य

होगा। उनसे अपना अपराध स्वीकार कर, उसे क्षमा कराऊँ। यही मार्ग पाप से उद्धार कर सकेगा। ऋषि तो स्वभावतः दयालु होते हैं। परोपकार ही उनका व्रत होता है। वह मुझे अवश्य निर्भय करेंगे।" और ऐसा विचार कर राजा ने आश्रम की खोज की।

कुछ समय पश्चात् उसे आम, जामुन, कदली, पीपल और वट वृक्षों से घिरा हुआ एक आश्रम दिखाई दिया। वह डरता-डरता उसके समीप पहुँचा। उसने देखा, कोई ऋषि-कुमार स्वाध्याय में मग्न हैं, कुछ वेद-पाठ कर रहे हैं, कुछ समिधा, पुष्प आदि जुटाने में व्यस्त हैं। और कुछ भव्यमूर्ति, श्वेत जटा और दाढ़ी वाले गुरु के श्रीचरणों में बैठे उपदेशामृत का पान कर रहे हैं। चारों ओर परम शांति है। शुक-सारिका भी वहाँ वेदमंत्रों का उच्चारण कर परमात्मा की वंदना कर रहे हैं। ऐसा स्वर्गीय वातावरण देख कर राजा का मनस्ताप जैसे स्वयं ही शेष होने लगा। वह दौड़ कर गुरु के चरणों में गिर पड़ा। "मुझे बचाओ भगवन्! मैंने अनजाने में बड़ा भारी पाप किया है। मुझे क्षमा करो! क्षमा करो!!" उसका धनुष एक ओर लुढ़क कर गिर पड़ा।

राज-चिह्नों से युक्त एक पुरुष को इस प्रकार आर्द्र कण्ठ से पुकार करते सुन गुरु आश्चर्य से चौंके। वे स्तब्ध रह गए। विनीत स्वर में बोले, "राजन्! तुम कौन हो? कहाँ से आये हो? और कैसा अपराध तुम से बन पड़ा है?"

राजा को कुछ नहीं सूझ रहा था। वह केवल ब्रह्महत्या के घोर पाप से छूटना चाहता था। उसी प्रकार करुण स्वर में वह फिर कहने लगा—"आप दयालु हैं, शरणागत के पालक हैं! मेरा अपराध क्षमा करें। मुझे बचाओ भगवन्!"

"पर राजन्! कुछ स्पष्ट तो कहो! क्या अपराध तुमसे बन पड़ा है?" गुरु ने प्रश्न किया।

"महाराज, मुझ से ब्रह्महत्या हुई है। मैंने आपके आश्रम के एक ऋषि-कुमार की हत्या की है। पर यह मैंने भ्रमवश किया है, महाराज !" और राजन् का कण्ठ भर आया। वह बालक की भाँति रो पड़ा।

सदा ब्रह्म-चिन्तन का आनन्द अनुभव करने वाले वह गुरु राजन् की निष्कपट प्रार्थना से मन ही मन बड़े प्रसन्न हुए। पर प्रकट में उन्होंने वैसा ही आश्चर्य भाव प्रकट किया और बोले—"कैसी हत्या नृपति ? कैसा अपराध ? मेरे आश्रम का तो कोई भी ऋषि-कुमार नहीं मारा गया !"

"नहीं गुरुदेव !" राजा ने दृढ़ता से कहा—"मैं शिकार खेलने इधर वन में आया था। मैंने दूर झाड़ी के पीछे मृग देखा और बाण-संधान किया। उसका हृदय मैंने अपने पैने बाण से बेध दिया। लेकिन, महाराज ! मैंने निकट जाकर देखा तो वहाँ मृग नहीं था। उसके स्थान पर एक ऋषि-कुमार मरा पड़ा था। उसके मृगचर्माम्बर को देख कर ही मैंने यह भूल की। भगवन् मुझे क्षमा कीजिये। मैं अपना अपराध क्षमा कराने के लिए ही आपकी शरण में आया हूँ।"

इतना सुन वह ब्रह्मनिष्ठ गुरु तनिक मुसकाये। राजा को भयमिश्रित आश्चर्य हुआ। गुरु बोले—"राजन्, मैं अपने सभी आश्रमवासी ब्रह्मचारियों को तुम्हारे सम्मुख उपस्थित कर देता हूँ। क्या तुम उस ब्रह्मचारी को पहचान सकोगे जिसका तुमने वेधन किया है ?"

"महाराज, यह कैसे सम्भव है ? वह ऋषि-बालक तो वहाँ मृत पड़ा है।"

"मैंने कहा तो नृपति ! मेरे आश्रम का कोई ब्रह्मचारी नहीं मारा गया। मृत्यु उनका स्पर्श नहीं कर सकती....!" और दूसरे ही क्षण गुरु की आज्ञा से राजा के सम्मुख समस्त आश्रमवासी

आ उपस्थित हुए। राजा ने उन्हें बारी-बारी देखना आरम्भ किया। ब्रह्मतेज उनके मुखमण्डल पर देदीप्यमान हो रहा था। राजा के मन पर एक अद्भुत प्रभाव पड़ रहा था। अन्त में एक ऋषि-कुमार को देखकर राजा ने साश्चर्य उस पर अँगुली रख दी। वह अवाक् रह गया। यह कैसा जादू! "यही ब्रह्मचारी था, गुरु-देव!" वह सहसा चिल्ला उठा। गुरु हँसे—"तुम कहते हो इसे तुमने मारा, परन्तु यह तो यहाँ खड़ा है? राजन्, तुम्हें वास्तव में भ्रम हुआ है।"

उन तपोनिष्ठ ब्रह्मर्षि की साधना, तपस्या के महत्व को कुछ समझते हुए भी राजा के मन से संशय दूर न हुआ। उसने उसी स्थान को देखने की इच्छा प्रकट की, जहाँ झाड़ी के पीछे वह ऋषि-कुमार मृत पड़ा था। गुरु की आज्ञा से राजा कुछ आश्रम-वासियों के साथ वहाँ गया। देखा तो वहाँ न तो कोई मृग था, न ब्रह्मचारी। न मृत्यु का कोई चिह्न ही था। राजा किंकर्तव्य-विमूढ़ सा गुरु के चरणों में आ पड़ा। "यह क्या रहस्य है, गुरु-देव! मुझे कुछ नहीं सूझ रहा। मेरी बुद्धि भ्रमित हो रही है। कृपा कर मेरा अज्ञान दूर कीजिये!"

तब गम्भीर वाणी में गुरु बोले—"राजन्! हम सब लोग इस आश्रम में सदैव सत्य का पालन करते हैं। सत्य वह जो तीनों काल में रहे, जिसका अभाव न हो। स्वप्न में देखे गये पदार्थों को हम जाग्रत में आने पर उनका चिन्तन भूलकर भी नहीं करते; क्योंकि वह तो असत्य है। जो सत्य है, वह ब्रह्म है और वहाँ मृत्यु स्पर्श नहीं कर सकती। जो ब्रह्म में रमण करता है, उसे प्रिय-अप्रिय का स्पर्श नहीं होता। इसके साथ ही हम सब स्वधर्म का पालन भी करते हैं। यहाँ मृत्यु आ जाये तो हमारा तप, साधना, ज्ञान सब निष्फल हो जायें।"

"महाराज, यह कैसे?" राजा ने सरल भाव से प्रश्न किया—

"राजा-रंक, धनी-निर्धन, बलशाली और बलहीन, मृत्यु तो किसी को छोड़ती नहीं। वह तो एक डंडे से सभी को हाँक कर ले जाती है। ज्ञानी को भी मृत्यु छोड़ती नहीं।"

"राजन् समझो !" गुरु बोले—"तुम तो शरीर की बात कर रहे हो। शरीर अनात्म है। सत्य आत्मा है। उसको मृत्यु छू नहीं सकती।........"

राजा बीच में ही फिर बोला—"क्षमा कीजिए महाराज ! मैंने तो सुना है, जिस प्रकार किसी हिरन के पीछे शिकारी कुत्ते लग जाते हैं और कभी उसकी टाँग नोंचते हैं, कभी कमर पर झपट्टा मारते हैं, कभी गर्दन दबोच लेते हैं, और किसी गुहा कान्तार की खोज में वह हिरन भटकता हुआ अन्त में उन कुत्तों का शिकार हो जाता है, उसी प्रकार यह जीव भी भटक रहा है, उसे कोई गुफ़ा ऐसी नहीं मिलती जहाँ शान्ति से बैठे और मृत्यु से बच जाय !"

"राजन् ! तुम्हारी बात किसी अंश तक सही है। ये कुत्ते जो तुमने गिनाये तभी तक पीछे लगते हैं, जब तक कि सत्य का आश्रय नहीं लिया जाता। भय, शोक, चिन्ता, रोग, वृद्धावस्था ये सब मृत्यु के दूत अथवा सैनिक हैं। ये आ गए तो समझो मृत्यु निकट है। पर राजन् सुनो ! यदि सत्य का आश्रय लिया जाता है तो इस मृग-जीव को वह गुहा मिल जाती है जहाँ इन मृत्यु के अंगभूत श्वानों से रक्षा हो सकेगी; और वह है हृदयरूपी गुहा जिसमें ब्रह्म, सत्य स्थित है। श्रुति कहती है—हिरण्मयं परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् !" सो सत्य में निमग्न हुआ जीव, ब्रह्म का ही श्रवण, चिन्तन, मनन, निदिध्यासन करने वाला, उस हृदयरूपी गुहा में उसका दर्शन कर लेता है। फिर क्या उसे मृत्यु स्पर्श कर सकती है ? राजा ! सुनो ! वास्तव में मृत्यु तो अज्ञान है, और कुछ नहीं। मनुष्य मरता है, तो इस शरीर के साथ जिनका सम्बन्ध है, जो कुछ वह अपना समझता है वह सब

अज्ञान के पर्दे में छिप जाता है। मरने के बाद चाहे उसी माता के गर्भ से जीव पुनः उत्पन्न हो, पर अज्ञान के कारण वह उसे दूसरी माता और आस-पास की सभी वस्तुओं को नया करके जानता है। हम नित्य शयन करते हैं और सुषुप्तिकाल में हमारा संसार हमसे छूट जाता है, लेकिन पुनः जाग्रत में आते ही, हमें पहले की सभी वस्तुओं का यथापूर्व ज्ञान होता है। सो मृत्यु तो अज्ञान है। यदि सुषुप्ति से जाग्रत अवस्था में आने पर सब कुछ नया, दूसरा प्रतीत होने लगे, तो मनुष्य शयन करना छोड़ दे। मैले कपड़े बदलने पर हमें पहले का सब कुछ भूल जाय, तो हम नये कपड़े ही न पहनें। पर ऐसा तो होता नहीं। ज्ञान हो जाने पर शरीर छूटता नहीं, ज्ञानी जीवनमुक्त कहलाता है। मुक्ति नाम शरीर की निवृत्ति होने का नहीं, वरन् ज्ञान होने का ही नाम मुक्ति है। अनात्म पदार्थों में रंचमात्र भी आत्मभाव न होना यही सत्य है। ऐसा ज्ञान हो जाए तो आत्मा जो अपना कपड़ा रूपी शरीर बदलती है, उससे क्या भय हो सकता है? इसीलिए तो सरलतापूर्वक भगवान् ने बता दिया—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२।२२॥

इसलिए राजन्! यह तुम्हें सचमुच भ्रम हुआ है। तुमने किसी की हत्या नहीं की। तुमने देह में आत्मभाव किया है, इसी से यह भ्रम है। ऋषि-कुमार तो तपोबल से यहाँ लौट आया और अपने काम में प्रवृत्त है। किस लिए? मृत्यु, जो किसी धन, जन, कर्म, आदि से डरने वाली नहीं है, वह सत्य से डरती है। मृत्यु-लोक में यमपाश लेकर विचरने वाले यमदूतों को यमराज का यह आदेश है कि "हमारे अधिकार में केवल वही व्यक्ति हैं, जिन्होंने संसार को ही सत्य माना है। जिन्होंने संसार की ओर

पीठ करके सत्य की ओर मुख किया, जो भगवद्भक्त हैं, ज्ञानी हैं, ब्रह्मचिन्तन ही जिनका जीवन-लक्ष्य है, जो विष्णु के प्रिय भक्त हैं, उनकी ओर भूलकर भी मत जाना। अतः राजन् यहाँ तो मृत्यु आने से भी डरती है।" राजा यह सुन अपने को धन्य मानने लगा। बार-बार गुरुचरणों की रज को मस्तक पर धारण करने के पश्चात् उनका आशीर्वाद ले वह अपनी राजधानी में लौट आया।

---

## "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं"

श्रुति कहती है—"तमेव भान्तमनुभाति सर्व तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।" अर्थात् उसके प्रकाशित होने से ही सब प्रकाशित होता है और यह सब कुछ उसी के प्रकाश से प्रकाशमान् है। उसके प्रकाशित होने से सब प्रकाशित है—इसका यही आशय निकला कि उसके ज्ञान से ही सबका ज्ञान है। पहले उसका—परब्रह्म, चेतन-स्वरूप का ज्ञान है और उसके बाद ही सबका ज्ञान। अथवा वही सब में है। पहले मिट्टी का ज्ञान उसके पश्चात् मिट्टी से बने सभी पात्रों का ज्ञान। पहला ज्ञान है उपादान कारण का, फिर उसके कार्य का। ब्रह्म के उपादान कारण रूप की ओर ही यहाँ निर्देश किया जा रहा है। जैसे कपड़े में तंतु सर्वत्र है, आभूषणों में स्वर्ण विद्यमान है, मिट्टी के पात्रों में मृत्तिका है, उसी प्रकार पहले उसका भान होता है, फिर और सब का। उपादान कारण को जाने बिना हम उसके कार्य को नहीं जान सकते। एक नवीन प्रकार

के आभूषण का हम नाम-रूप न जानें, पर उसमें स्वर्ण है, यह तो हम जानेंगे ही। इस प्रकार ब्रह्म को सबका उपादान कारण माना। वह सर्वत्र है। मनुष्य सोकर उठता है, तो सबसे पहले किसे जानता है? अपने को। मैं हूँ, मैं सोया था, सुखपूर्वक नींद आई, पहले इसी की अनुभूति होती है। उसके पश्चात् और सब जाग्रत का प्रपंच सामने आता है। अतः उपादान कारण रूप से वही ब्रह्म सर्वत्र विद्यमान है। उससे रहित यहाँ कुछ भी नहीं। भगवान् गीता में कहते हैं :—

मत्त परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणाइव ॥७।७॥

इसलिए वह अन्तर्यामी भी है। जो ऐसा जानता है, उसे क्या करना चाहिए? सो भगवान् कहते हैं—"इस अनित्य और दुःख-पूर्ण लोक को प्राप्त होकर मेरा भजन कर, अपना सच्चा स्वरूप जानने का प्रयत्न कर। वही अपने जीवन का लक्ष्य बना।"

मनुष्य का शरीर प्राप्त कर यदि कल्याण का मार्ग नहीं चुना, अपने स्वरूपको पहचानने की चेष्टा नहीं की और विषयों में ही फँसा रहा, तो समझो चिन्तामणि को हाथ से गँवाकर काँच का टुकड़ा ले लिया। मनुष्य-शरीर की दुर्लभता को जानकर उस अन्तर्यामी का दर्शन पाने के लिए यत्नवान् होना चाहिए। ऋषि-कुमार कश्यप को, जो निर्धन था, एक दिन किसी धनी के वाहन से टक्कर लग कर गिरने के बाद अपमान का ऐसा भारी दुःख हुआ कि वह आत्महत्या के लिए उतारू हो गया। वह जंगल में पहुँचा और एक वृक्ष की शाखा से धोती बाँध कर गले में फंदा लगाने की तैयारी करने लगा। उसी समम उधर एक गीदड़ आ निकला। उसने ऋषि-कुमार को देखा तो आश्चर्य से पूछने लगा—"क्या कर रहे हो श्रीमान?"

आत्मग्लानि से संतप्त उस ऋषि-कुमार ने कहा—"मैं आत्म-हत्या कर रहा हूँ। एक धनी ने मुझे निर्धन समझ कर मेरा अपमान किया है। अपने वाहन का धक्का मार कर मुझे गिरा दिया। मैं भी अब आगे धनी उत्पन्न होऊँगा और इस अपमान का बदला लूँगा!"

यह सुन कर पहले तो गीदड़ हँसा, फिर बोला—"ऋषि-कुमार! तुम भूल कर रहे हो। मैं तो इस गीदड़-शरीर में यही सोच कर दुःखी हो रहा था कि भगवान् ने मुझे हाथ नहीं दिए। मेरे काँटा चुभता है, तो मैं निकाल नहीं सकता। मच्छर, मक्खी काटते हैं, तो उन्हें उड़ा नहीं सकता। कोई मुझे मारे-पीटे तो हाथ न होने से सामना नहीं कर सकता। मैं कर-विहीन अपने दुःखों की गणना नहीं कर सकता। तुम्हें तो भगवान् ने सर्वांग सम्पूर्ण सुन्दर शरीर दिया है। फिर ब्राह्मण-कुल में तुम्हारा जन्म हुआ है। मैं तो इसलिए आत्महत्या नहीं करता कि इसके बाद कहीं बिना हाथ-पैर वाला, श्रोत्र और नेत्रहीन शरीर न मिल जाए। इस बात में क्या प्रमाण है कि मरने पर तुम धनी ही उत्पन्न होगे? यदि इससे भी अधिक निर्धन हुए तो? इससे जाओ, इस बहुमूल्य मानव-देह को प्राप्त होकर अपने कल्याण का उपाय करो।" इस प्रकार मानव-शरीर की एक-एक इन्द्रिय का मूल्य लगाएँ, तो उसकी उपयोगिता, श्रेष्ठता और सामर्थ्य का पता लगता है। ऐसा मूल्यवान् शरीर पाकर मनुष्य विषयों की ओर दौड़ता है।

इसमें भी कारण यही है कि यह जीव अन्तर्यामी भगवान् को भूल कर संसार और उसके विषयों को सत्य मान बैठा है। इसे नहीं पता कि यह शरीर उस वृक्ष की तरह है जो किसी रेतीले तट वाली नदी के किनारे खड़ा हो। नदी के वेग से किनारा कट

रहा है। जल के समीप वाले वृक्ष गिर चुके हैं अथवा गिर रहे हैं और जो कुछ अन्तर पर खड़े हैं, उनकी जड़ें खोखली हो चुकी हैं। कब गिर पड़ें, कुछ पता नहीं। जिन्हें वृद्धावस्था, रोग और मृत्यु ने आ दबोचा है, वे शीघ्र शरीर त्याग देंगे। जो इससे अभी बच रहे हैं, उनकी जड़ें भी शनैः-शनैः खोखली हो रही हैं। विषय तो स्वभाव से अनित्य हैं, एक दिन स्वयमेव हमें छोड़ देंगे, तब हमें बड़ा भारी दुःख होगा। अतः हम स्वयं ही विवेक से उनका त्याग कर सुख अनुभव क्यों न करें? भर्तृहरि ने कहा है :—

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वाऽपि विषया
वियोगे को भेदस्त्यजति न मनो यत्स्वयममून् ॥
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति ॥

इसलिए संसार से प्रेम हटाना होगा और वह प्रेम परमात्मा में लगाना होगा। बिना प्रेम के मनुष्य रह नहीं सकता; क्योंकि प्रेम परमात्मा का, आत्मा का स्वरूप है। लेकिन संसार में—'अनित्यं असुखं लोकम्' को प्राप्त होकर हमें "भजस्व माम्" का निर्देश मानना होगा, अन्यथा हमारी स्थिति होगी तिलों जैसी। तिलों में स्नेह (तेल) है। तेली उसे निकालने के लिए कोल्हू में पेलता है और फेंक देता है। इसी प्रकार हममें अनात्म पदार्थों का स्नेह परिपूर्ण होगा, तो मृत्यु-देवता हमें बार-बार जन्म-मरण के कोल्हू में पेलता रहेगा। अतः विषयों से मन को हटाना आवश्यक है। संसार में आसक्ति का त्याग करना ही लक्ष्य होना चाहिए।

परन्तु, इस लक्ष्य की प्राप्ति में बाधा है, ईश्वर पर अविश्वास सारे संसार की चिन्ता जीव स्वयं ओढ़ लेता है। विषयों का संचय करके रखता है। कल मिले न मिले, ऐसा इसे संशय होता है।

जो जन्म देने से पूर्व ही माँ के स्तनों में दूध उत्पन्न करके भोजन का प्रबन्ध कर देता है, जो प्रारब्ध का रचयिता है, उस पर भी कुछ भार छोड़ देना चाहिए। हम प्रलोभन में न पड़ें कि संचय करके रख लें, फिर भविष्य में प्राप्त हो या न हो। एक गीदड़ को एक दिन जंगल में एक सुअर मरा पड़ा दिखाई दिया। पास ही व्याध भी मरा पड़ा था। व्याध का तीर जब सुअर का पेट चीरता हुआ निकल गया, तो उसने व्याध पर आक्रमण किया। व्याध मर गया और वेदना से सुअर भी मर गया। इस गीदड़ ने सोचा—आज इतना भोजन एकदम मिल गया, इसलिए आज ही नहीं खाना चाहिए। पास ही व्याध का धनुष पड़ा था। मूर्ख गीदड़ ने सोचा आज का काम तो इसे खा कर चला लें। कल माँस खायँगे। बस, उसने धनुष खाना प्रारम्भ किया। डोरी खिंची थी। उसके टूटने से धनुष का एक सिरा उसके तालू को फाड़ कर निकल गया और उसका प्राणान्त हो गया। यह हाल है, लोभ की प्रवृत्ति का। विषयों के संग्रह की भी यही गति है। इसलिए अनात्म पदार्थ की ओर से अपनी वृत्ति हटायें। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति का जो प्रपंच हमारे सामने खड़ा है, जिसमें हमने आत्मभाव कल्पित कर लिया है, उसे मिथ्या मानकर सत्य वस्तु की खोज हमें करनी चाहिए। वह सत्य वस्तु स्वयं प्रकाशित है, सर्वत्र है। उसके प्रकाशित होने से ही सब प्रकाशित हैं। जैसे अग्नि से गरम हुआ काष्ठ, जल अथवा तेल, अपनी गरमी से नहीं जलाता, अग्नि की गरमी से ही जलाता है, वैसे ही वह आत्मा स्वयंप्रकाश है, उसके प्रकाश से ही सूर्य, चन्द्र, तारे और सब कुछ प्रकाशित हैं। वही अन्तर्यामी रूप से देहस्थ है। उसे पहचानो और नानात्व बुद्धि का त्याग करो; क्योंकि नानात्व बुद्धि रखने वाला मृत्यु को प्राप्त होता है। उसे बार-बार जन्मना-मरना पड़ता है।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्योबुद्धेः परतस्तु सः ॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥३।४२।४३॥

अर्थात् इन्द्रियाँ हमारे समीप हैं और उनसे परे अथवा समीप मन है और मन से समीप बुद्धि है, बुद्धि से परे या समीप (अहंकार के बाद) आत्मा है। इस प्रकार देखें तो आत्मा हमारे समीप है। यहाँ मन के ऊपर बुद्धि को बताया। 'कठोपनिषद्' में भी कहा है—

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥२।३।७॥

अर्थात् इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि उत्तम है, बुद्धि से उसका स्वामी जीवात्मा उत्तम है और उससे अव्यक्त शक्ति उत्तम है। बुद्धि से ही हम उस आत्मा के समीप पहुँच सकते हैं, उसके दर्शन कर सकते हैं। बुद्धि कैसी ? सद्विचार वाली, और सद्विचार वाली बुद्धि होगी सत्संग से। बुद्धि का नाश होने से मनुष्य का भी पतन हो जाता है। 'बुद्धि नाशात् प्रणश्यति' कहा गया है। और यदि बुद्धि सत्संग से विचार वाली और सूक्ष्म हो गई है तो ब्रह्म का दर्शन दुर्लभ नहीं। श्रुति कहती है :—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्रयया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥

( कठ० १।३।१२ )

आत्मा सम्पूर्ण भूत में छिपा होते हुए भी सर्वत्र, सबको प्रकाशमान नहीं होता। यह तो सूक्ष्म बुद्धि से सूक्ष्मदर्शी पुरुषों द्वारा ही देखा जाता है। इसीलिए बुद्धि को आत्मारूपी रथ का

सारथी भी कहा। कर्मफल भोगने वाला यह संसारी तो रथ का स्वामी है, शरीर रथ है, क्योंकि इन्द्रियरूपी अश्व इसे खींच रहे हैं। और जिसका लक्षण है निश्चय करना, उस बुद्धि को बताया सारथी। घोड़े लगाम से नियंत्रित होते हैं, उसी प्रकार संकल्प-विकल्पादि रूप मन को लगाम जानना चाहिए। 'कठोपनिषद्' में बताया—

आत्मानँ् रथिनं विद्धि शरीरँ् रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ १।३।३ ॥

इस प्रकार सूक्ष्म बुद्धि से ही उस ब्रह्म का दर्शन हो सकता है। पर बुद्धि दौड़ रही है संसार की ओर, माया की ओर, अनित्य पदार्थों की ओर। और फलस्वरूप चित्त में अनेक प्रकार के मोह उत्पन्न हो गए हैं। भगवान् कहते हैं:—

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६।१६॥

अर्थात् वे लोग जिन्होंने विषयों की ओर अत्यन्त आसक्ति बढ़ा ली है, जो अनेक प्रकार से भ्रमित चित्त वाले हैं, मोह जाल में फंसे हुए हैं, वे तो अज्ञानी हैं और महान् अपवित्र नरक में गिरते हैं। जीव इस ओर ध्यान न देकर मायावी पदार्थों में, विषयों में रमण करता है, उन में सुख ढूँढ़ रहा है।

पर मायिक पदार्थों में कभी किसी को वास्तविक सुख मिला नहीं। वास्तविक सुख हमारे ही भीतर है। हम बाहर ढूँढ़ रहे हैं। एक सेठ जी दस-पन्द्रह हज़ार रुपये साथ लेकर यात्रा कर रहे थे। गाड़ी में जिस डिब्बे में वह बैठे, उसी में एक ठग चढ़ गया। उसे सेठ जी के धन की गंध मिल गई थी। अब डिब्बे में थे वे दोनों ही। रात्रि हुई। ठग पहले से ही सोने का उपक्रम कर

ओढ़कर लेट गया। अकेले बैठे-बैठे सेठ जी को भी निद्रा आने लगी। वह भी सो गए। अब ठग तो असल में जाग रहा था। उसे चिन्ता लगी थी, सेठजी का रुपया कैसे हड़पूँ। निद्रा आती है, निश्चिन्त व्यक्ति को, चिन्ताग्रस्त को नहीं। सो ठग ने सेठजी को एक नशीली जड़ी सुँघा दी। उनकी खूब अच्छी तरह तलाशी ली। पर रुपया न मिला। बड़ा आश्चर्य हुआ ठग को। सेठ जी भी प्रातः देर से उठे और अपना रुपया संभाला। ठग को अब तो और भी आश्चर्य हुआ। 'यह रुपया मुझे क्यों नहीं मिला? सेठ ने कहाँ छिपाया?' अस्तु, दूसरी रात फिर ऐसा ही हुआ। पर ठग को रुपया हाथ न लगा। अगले दिन सेठजी जब गाड़ी से उतरे तो ठग ने पूछा, "क्षमा करें सेठजी! आपने रुपया कहाँ रखा था?" सेठ ने सरल भाव से कहा, "मैं भी बहुत यात्रा करता हूँ और ठगों को पहचानता हूँ। तेरे लेटते ही मैं रुपये की थैली तेरे सिरहाने रख देता और जब तू निराश होकर लौटकर लेट जाता, तब चुपके से फिर उठा लेता। तू ने मुझे ही ढूँढ़ा, अपने सिरहाने नहीं देखा। अस्तु। इसी प्रकार वह सुख हमारे ही भीतर है, हम उसे बाहर ढूँढ़ कर व्यर्थ परिश्रम कर रहे हैं, समय नष्ट कर रहे हैं, बहुमूल्य आयु हाथ से गंवा रहे हैं। उसकी तलाश भीतर करो वह बुद्धि से परे, पंचकोशों से परे, हमारे अत्यन्त समीप है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशों से परे उसकी स्थिति है। उसे जानो। उसमें और ब्रह्म में एकता है। उसे भगवान् ने स्पष्ट कहा है :-

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥१३।२॥

अर्थात् हे अर्जुन! सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) मेरे को ही जान। आगे भगवान् ने यह भी कह दिया कि इस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ को तत्त्व से जानना ही मेरा ज्ञान है। ऐसा ज्ञान भी शुद्ध बुद्धि

द्वारा ही हो सकता है। जिसकी बुद्धि शुद्ध नहीं, वह सब में उसी आत्मा का दर्शन न करते हुए भेद-बुद्धि से काम लेता है।

ऐसे व्यक्ति का ज्ञान राजस होता है। ज्ञान के और दो प्रकार हैं, सात्विक और तामस। सात्विक ज्ञान की महिमा बताते हैं :—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम् ॥ १८।२०

अर्थात् वही ज्ञान सात्विक है जिस ज्ञान से मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतों में एक अविनाशी परमात्मभाव को विभाग रहित या समभाव से देखता है। सब में उसी आत्मा को देखता है। जैसे एक सूर्य की छाया सहस्रों जल-पात्रों में देखी जा सकती है, वैसे ही। और जो सम्पूर्ण भूतों में भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेक भावों को न्यारा-न्यारा करके जानता है, उस ज्ञान को भगवान् ने राजस कहा।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥१८।२१॥

इस प्रकार अलग-अलग भावना करने से भेद-बुद्धि बढ़ती है। भेद-बुद्धि का परिणाम होता है द्वेष, कलह और अशांति। यदि सात्विक ज्ञान के द्वारा मनुष्य यह जान ले कि जितना और जिस प्रकार रहने, खाने, पहनने का मुझे अधिकार है, उसी प्रकार दूसरे को भी है, तो विग्रह, द्वेष, झगड़ा क्यों हों? शान्ति रहेगी। लेकिन इसके विपरीत जो अपने शरीर को ही संसार मान कर बैठा है, वह तो तामस ज्ञान वाला है।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्
अतत्वार्थवदल्पं च तत्तामससुदाहृतम् ॥१८।२२॥

अर्थात् जो कार्यरूप शरीर में ही सम्पूर्णता के सदृश आसक्त है और जो तत्व अर्थ से रहित और तुच्छ ज्ञान है, वह ज्ञान तामस

है। ऐसे ज्ञान वाला व्यक्ति अपने स्वार्थ के आगे कुछ नहीं देखता। अपना एक पाई का नुकसान न हो, दूसरे का चाहे सौ रुपया बिगड़ जाये, ऐसी इसकी मनोवृत्ति हो जाती है। अहं श्रेष्ठता इसमें सर्वोपरि रहती है। अपने को ही सबसे श्रेष्ठ मान बैठता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में कथा आती है : इन्द्रियों में एक बार अहं श्रेष्ठता को लेकर झगड़ा हो गया। आँख कहे—मैं श्रेष्ठ हूँ। श्रोत्र कहे—मैं श्रेष्ठ हूँ। हाथ, पैर आदि सभी अपने-अपने को श्रेष्ठ बताने लगे। प्राण ने कहा—मैं सब में श्रेष्ठ हूँ। सब प्रजापति के पास पहुँचे। प्रजापति ने कहा—"ऐसा करो,कुछ समय के लिए बारी-बारी सब शरीर से बाहर घूमने चले जाओ। जिसके अभाव में शरीर का पतन हो जाए, समझो वही श्रेष्ठ है।" यह निर्णय सब इन्द्रियों को पसन्द आया। पहले आँख बाहर चली गई। शरीर का काम चलता रहा। कुछ दिनों बाद वह अभिमान से फूली लौटी कि मेरे अभाव में शरीर का अवश्य ही पतन हो गया होगा। अब तो मुझे श्रेष्ठ मानना ही पड़ेगा। पर बात ऐसी नहीं थी। शरीर तो लकड़ी के आश्रय से कार्य करता रहा। आँख लज्जित हो अपने गोलक में बैठ गई। इसी प्रकार सब इन्द्रियाँ अपनी सामर्थ्य का सही ज्ञान होने पर चुप हो कर बैठ रहीं। अब बारी आई प्राण की। प्राण ने जब बाहर जाने का संकल्प किया तो सभी इन्द्रियाँ विकल हो उठीं। सब बोलीं, "हम श्रेष्ठ नहीं, तू ही श्रेष्ठ है, तू मत जा। तेरे जाने से हमारा कोई अस्तित्व नहीं रह जायेगा।" इस प्रकार उनमें अहं-श्रेष्ठता के कारण आया मिथ्या अभिमान दूर हो गया। अहं रूप अभिमान ही मनुष्य से सब कुछ कराता है। अहं भाव आने पर ही ब्रह्म ने भी संसार की सृष्टि की। "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" उसने इच्छा की कि "मैं सृष्टि करूँ।" तो अहं भाव भी दो प्रकार का बताया—सामान्य और विशेष। सामान्य तो यह

कि "मैं हूँ।" बस और कुछ नहीं। विशेष अहंकार यह कि मैं अमुक हूँ, मैं विद्वान हूँ, मैं छोटा हूँ, बड़ा हूँ, इत्यादि। इस प्रकार का अहंभाव जब तक है तब तक सात्विक ज्ञान का होना कठिन है। सात्विक ज्ञान के बिना, सबमें समभाव से उसी आत्मा का दर्शन किए बिना, आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती, और जिसे वह सुख प्राप्त हो गया है, जिसे आत्मा का स्वरूप प्रकाशमान हो चुका है, वह इस मिथ्या कल्पित जगत् की ओर ध्यान नहीं देता। उसकी दृष्टि में अधिष्ठान रूप ब्रह्म ही है। उसे ही वह साक्षी द्रष्टा के रूप में जानता है। उसकी चेतन शक्ति से ही वह स्वयं को और समस्त जीव मात्र को चेतन देखता है। उसी की ज्योति से वह सब को प्रकाशमान् मानता है।

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥१५।६॥

उस परमानन्द को, परमधाम को, जो स्वयंप्रकाश है, न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा, न अग्नि। अर्थात् सब उसी स्वयंप्रकाश की ज्योति लेकर प्रकाशित हो रहे हैं। उसी को श्रुति बता रही है :—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

उसी की चेतनता से सब में चेतनता है, उसी के प्रकाश से सब में प्रकाश है।

# सत्य ही ब्रह्म है

जैसे अनुमान और प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि इस विचित्र जगत् का निमित्त कारण ब्रह्म है, उसी प्रकार उसे ही उपादान कारण भी बताया। वह जगत् में व्याप्त है। जगत् का अणुमात्र भी ब्रह्म से शून्य नहीं, इसलिए वही उपादान कारण है। गीता के १०वें अध्याय के ३९वें श्लोक में भगवान् ने कहा है, "चर या अचर, जड़ या चेतन ऐसा कोई भी प्राणी या भूत-समुदाय नहीं है, जो मुझसे रहित हो। यह सम्पूर्ण जगत् मुझमें व्याप्त है।" उपनिषदों में भी यही कहा गया है—

"ईशा वास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।"

उस परब्रह्म परमेश्वर से यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। सांख्य मत के अनुसार प्रकृति भी समस्त जगत में व्याप्त है। पर फिर भी ब्रह्म को ही उपादान कारण माना है, क्योंकि प्रकृति जड़ है। ब्रह्म ने ईक्षण किया कि "मैं बहुत हो जाऊँ, अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊँ।" सो ऐसा संकल्प त्रिगुणात्मिका जड़ प्रकृति नहीं कर सकती। वही परब्रह्म परमात्मा सबका परम कारण है। श्रुति कहती है :—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

(श्वेता० ६।११)।

अर्थात् "वह एक देव ही सब प्राणियों में छिपा हुआ, सर्वव्यापी और समस्त प्राणियों का अन्तर्यामी परमात्मा है, वही सबके कर्मों का अधिष्ठाता, भूतों का निवासस्थान, सबका साक्षी, चेतन-स्वरूप, सर्वथा विशुद्ध और गुणातीत है।" ऐसी व्यापकता वाला वह परब्रह्म ही अधिष्ठानरूप से इस संसार का उपादान कारण

है। अध्यस्त का भान हमें तभी होता है, जब पहले से अधिष्ठान की थोड़ी प्रतीति हो और कुछ अज्ञान हो। दोपहर की कड़कती धूप में जो रस्सी पड़ी है, उसमें सर्प कल्पित नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह सर्वथा ज्ञात है। किसी अंश में भी अज्ञात नहीं। इसी प्रकार से घोर अन्धकार में पड़ी रस्सी में भी सर्प का भ्रम नहीं होगा; क्योंकि वहाँ वह सर्वांश में अज्ञात है। किन्तु किंचित् ज्ञात और किंचित् अज्ञात अधिष्ठान में ही भ्रम होगा। जैसे थोड़े अन्धकार में जब हमें रस्सी दूर से दिखाई देगी, तभी हम उसे सर्परूप से जान सकेंगे। इससे यह सिद्ध हुआ कि अधिष्ठान का सामान्य ज्ञान अध्यास का कारण है। ऐसा कभी नहीं होता कि कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति हो जाय। कार्य के साथ-साथ उत्पन्न पदार्थ भी उस कार्य का कारण नहीं हो सकता। कारण तो नियमित रूप से पहले से ही विद्यमान होना आवश्यक है। कुम्हार के बैल को, जो घड़ा बनाने के लिए मिट्टी ढोकर लाता है, घड़े का कारण नहीं मान सकते, क्योंकि वह कभी है, कभी नहीं है। इसी प्रकार जब घड़ा बनाया जा रहा हो, तभी कुम्हार के पुत्र का जन्म हो; तो उस पुत्र को भी घड़े का कारण नहीं माना जा सकता। कारण तो वह है जो कार्य के पहले नियमित रूप से है। इससे सिद्ध हुआ कि वह सबका अधिष्ठान रूप ब्रह्म स्वयंप्रकाश, नित्य, ज्ञानस्वरूप ही है। कुछ लोग यहाँ तक न पहुँचकर घटादि के भान को ही ज्ञान मान लेते हैं। लेकिन ऐसा है नहीं। सूर्य जिस प्रकार किसी वस्तु को प्रकाशित करता है, तो वस्तु का भान होना ही ज्ञान नहीं कहा जा सकता। वस्तु हटाकर कमरे में रख दी जाय, अँधेरे में, तो वह नहीं दिखती। पर सूर्य तो रात-दिन निकलता है, कभी अस्त नहीं होता। पृथ्वी माघ में सूर्य से दूर और जेठ में उसके समीप होती है, इसीलिए सर्दी या गर्मी जान पड़ती है। तो सूर्य नित्य ज्ञान का

प्रतीक है, और वस्तु के भान को ही ज्ञान मान बैठना तो चित्त की एक वृत्ति, ज्ञान का प्रकार है। जिस प्रकार सूर्य से वस्तु का ज्ञान है, उसी प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म में ही प्रतिष्ठित है, प्रकाशमान् है। श्रुति कहती है.—

नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥
(कठ० २।२।१३)

अर्थात् "जो नित्यों का भी नित्य है और चेतनों का भी चेतन है और एक होते हुए भी इन अनेक जीवों की कामनाओं को पूर्ण करता है, उस अपने अन्दर रहने वाले पुरुषोत्तम को जो ज्ञानी निरन्तर देखते रहते हैं, उन्हीं को सदा अटल रहने वाली शान्ति मिलती है, दूसरों को नहीं।" इस प्रकार वह परब्रह्म परमात्मा नित्य है। उसका कभी अभाव नहीं। सुषुप्ति में हम सो जाते हैं, उठकर कहते हैं, हम सुखपूर्वक सोए। इससे सिद्ध है कि वहाँ भी साक्षी द्रष्टा रूप से वह चेतन-शक्ति विराजमान है। शास्त्रों में प्रलयकाल का भी वर्णन मिलता है। लिखा है, उस काल में न तो आकाश रहता है, न अँधेरा, न रज-परमाणु आदि। पर जिसने यह सब वर्णन किया, वह तो है। "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्"-हे सोम्य! सृष्टि के पूर्व वह एक, अद्वितीय, ब्रह्म ही था। एक और अद्वितीय माने सजातीय, विजातीय और स्वगत-भेद से रहित। सजातीय भेद क्या? जैसे अनेक गौएँ हों, तो एक गऊ से दूसरी का भेद किया जा सकता है। पर वहाँ तो ब्रह्म को 'एक' बताया, ऐसा नहीं था कि दो-चार ब्रह्म वहाँ रहे हों। विजातीय भेद भी उसमें नहीं। गऊ का घोड़े या ऊँट आदि अन्य जाति के पशुओं से भेद विजातीय भेद समझना चाहिए। तो ब्रह्म में ऐसा भेद भी नहीं; क्योंकि सब ब्रह्ममय ही है। वही सब को लेकर व्याप्त

है और स्वगत-भेद भी उसमें नहीं। शरीर में जैसे नाक, कान, आँख आदि का भेद किया जा सकता है, वैसे स्वगत-भेद भी ब्रह्म में नहीं। वह तो अवयव वाला होने से विकारी सिद्ध होता है और विकारी पदार्थ नाशवान् होते हैं। वह है अविनाशी, अतः उसमें कोई भेद नहीं। वह अखंड, एकरस और निर्विकार है। उसे तो श्रुति ने कहा है—

"एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष।
योनिः सर्वस्य प्रभावाप्ययौ हि भूतानाम् ॥" (मा० उ० ६)

"यह सब का ईश्वर है, सबका अन्तर्यामी है, सर्वज्ञ है, सम्पू जगत् का कारण है; क्योंकि समस्त प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का स्थान यही है।"

ऐसा ब्रह्म का स्वरूप है, वही सत्य है। उस सत्य वस्तु से असत्य संसार की उत्पत्ति फिर कैसे? सो पहले बताया कि "हे सोम्य! यह प्रकट होने से पहले भी सत्य था।" (सदेव सोम्येदम-ग्र आसीत्) जो वस्तु वास्तव में नहीं होती उसका उत्पन्न होना भी नहीं देखा जाता, जैसे आकाश से फूल उगना अथवा खरगोश के सींग उगना। जैसे सूत में वस्त्र विद्यमान है, वैसे ही जगत् अपने कारण ब्रह्म में उत्पत्ति से पहले भी स्थित है और उत्पन्न होने के बाद भी उससे पृथक् नहीं हुआ है। शक्तिरूप से जैसे तंतु में वस्त्र है उसी प्रकार शक्ति रूप से ब्रह्म में जगत् है। इससे भी ब्रह्म का सत्य, नित्य शुद्ध और ज्ञान रूप होना सिद्ध होता है। श्रुति ने बताया—सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म! (तैत्तिरीयोपनिषद)। ब्रह्म सत्य, अनन्त और ज्ञान स्वरूप है। उस सत्य को हम सत्य द्वारा ही जान सकते हैं। मुण्डकोपनिषद् में ऋषि ने सत्य की महिमा बताई—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीण दोषाः ॥(मु० ३।१।५)

उस ब्रह्म को जो सब के शरीर के भीतर हृदय में विराजमान है, परम विशुद्ध एवं ज्ञान स्वरूप है, जो सर्वथा निर्दोष है, उसे दोषों से रहित हुए साधकजन सत्यभाषण, सत्यतप, सत्य-त्याग और सत्य ब्रह्मचर्य से उत्पन्न ज्ञान द्वारा ही जान सकते हैं। यहाँ सत्य स्वतन्त्र रूप से साधन भी है और तप, ब्रह्मचर्य आदि का विशेषण भी उसे जान लेना चाहिए। लौकिक व्यवहार में भी हम देखते हैं कि दर्जी और सुनार के यहाँ कपड़ा और सुवर्ण बड़ी मात्रा में पड़ा रहता है। वह यदि सत्य व्यवहार न करें, कपड़ा और सोना खा जायँ, तो उनसे कोई कपड़ा नहीं सिलायेगा या आभूषण नहीं बनवायेगा। इस प्रकार लौकिक व्यवहार भी सत्य से चलता है। तो वह जो परम सत्य है, वहाँ तो रत्ती का हजारवाँ अंश भी झूठ नहीं चल सकता। मन, वाणी और कर्म की एकता ही सत्य है और इन तीनों की अनेकरूपता ही असत्य है। जिसकी वाणी, मन और कर्म भिन्न-भिन्न दिशाओं में चलते हैं, शास्त्र ने उसे दुरात्मा कहा और मन, वाणी, कर्म की एकता वाले को महात्मा कहा। इसी प्रकार सत्यता तप और ब्रह्म-चर्य आदि साधनों में भी होनी चाहिए। भगवान् ने गीता के १७ वें अध्याय में तप के तीन प्रकार बताए हैं।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः
अफलाकाङ्क्षिभियुक्तैः सात्विकं परिचक्षते ॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥
मूढ़ ग्राहेणात्मनो यत्पीड्या क्रियते तप।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ (१७।१७-१८-१९)

इस प्रकार दूसरों को पीड़ित करने के लिए अथवा मान-पूजा कराने के लिए तप नहीं करना चाहिए। सत्यता के साथ किये गए तप में फल की कोई आकांक्षा नहीं होनी चाहिए। अतः उस सत्यस्वरूप आत्मा को जानने के लिए एकमात्र सत्य का ही आश्रय लेना होगा। वह सर्वथा निर्दोष है। एक शुद्ध शौचाचार वाले वैष्णव से आचारविहीन मलिन व्यक्ति की भेंट जिस प्रकार सम्भव नहीं, उसी प्रकार असत्यरूप पाप का आश्रय लेने वाला सत्यरूप ब्रह्म की समीपता कैसे पा सकता है? यथालाभ संतुष्ट रहने वाला सत्य-परायण ही उसे पा सकता है। एक कोई लकड़-हारा था। बेचारा बहुत निर्धन, पर सत्य आचार-विचार वाला था। एक दिन एक नदी के किनारे वह वृक्ष पर चढ़ा शाखा काट रहा था। अकस्मात् उसकी कुल्हाड़ी हाथ से छूटकर नदी में गिर पड़ी। नदी गहरी थी। तैरना उसे आता नहीं था। बेचारा दीन की भाँति रो पड़ा। भगवान् से प्रार्थना की "मेरी कुल्हाड़ी दे दो, मैं और कोई कार-व्यापार जानता नहीं। मेरे बच्चे भूखों मर जायेंगे।" भगवान् तो परम कृपालु हैं। उसकी सत्यता पर वह प्रसन्न थे। तत्काल नदी में से एक हाथ सोने की एक कुल्हाड़ी लेकर ऊपर आया। आकाशवाणी हुई—"लो अपनी कुल्हाड़ी!" लकड़हारा आंतरिक प्रसन्नता से फूला न समाया। पर साथ ही उस कुल्हाड़ी को अस्वीकार करते हुए बोला, "भगवन्, यह मेरी नहीं। किसी और की गिर गई होगी।" तब वह हाथ चाँदी की कुल्हाड़ी लेकर ऊपर आया। लकड़हारे ने उसी प्रकार चाँदी की कुल्हाड़ी भी अस्वीकार कर दी। तीसरी बार वह दैवी हाथ लोहे की कुल्हाड़ी लेकर ही प्रकट हुआ। लकड़हारे ने प्रसन्नता से उछलकर उसे ले लिया। "हाँ! यही मेरी है।" वह गद्गद कण्ठ से चिल्लाया। आकाशवाणी हुई—"मैं तुम्हारी सत्यता से प्रसन्न हूँ। सोने और

चाँदी की कुल्हाड़ियाँ तुम्हें पुरस्कार-रूप दी जाती हैं।" इस प्रकार लकड़हारा बहुमूल्य सोने की कुल्हाड़ी लेकर जब नगर में आया तो यह अलौकिक घटना सारे शहर में फैल गई। एक लोभी व्यक्ति ने सुना तो उसने भी इसी प्रकार सोने की कुल्हाड़ी प्राप्त करने की ठान ली। एक लोहे की कुल्हाड़ी बनवाकर उसी वृक्ष पर पहुँचा और जानबूझकर कुल्हाड़ी नदी में डालकर रोने लगा। भगवान तो बड़े कौतुकी हैं। लोहे की ही कुल्हाड़ी लेकर एक हाथ नदी के ऊपर आया। आकाशवाणी हुई, "ले भाई, अपनी कुल्हाड़ी !" वह लोभी रो पड़ा। "यह तो मेरी नहीं है, महाराज !" कातर वाणी का उपक्रम करते हुए वह बोला। मन-ही-मन सोचने लगा—"मैं तो नुक़सान में रह गया।" उसके रुदन को सुन भगवान् ने चाँदी की कुल्हाड़ी के साथ एक हाथ प्रकट किया। आकाशवाणी हुई—"लो यह है तुम्हारी कुल्हाड़ी !" लोभी फिर रोया—"यह भी मेरी नहीं।" तीसरी बार स्वर्ण की कुल्हाड़ी सामने आई। लोभी प्रसन्न हो गया। उसे पकड़ने लगा। पर वह दो अंगुल दूर रह गई। आगे बढ़ा। कुल्हाड़ी और दो अंगुल आगे सरक गई। लोभी को कुल्हाड़ी-ही-कुल्हाड़ी दिख रही थी, नीचे का नदी-तट नहीं। और अन्त में वह नदी की वेगवती धारा में गिरकर बह चला। अब तो विकल हो प्राणों की रक्षा के लिए वह चिल्लाने लगा। बोला—"भगवान्, मेरी जान बचाओ। मुझे लोहे की कुल्हाड़ी भी नहीं चाहिए।" अस्तु। आगे एक झाड़ी में फँसकर वह बच सका। इस प्रकार यदि हम असत्य का आश्रय ले विषयरूप सोने की कुल्हाड़ी के पीछे दौड़ते रहेंगे तो जन्म-मरण-रूप नदी में गिरे बिना नहीं रह सकते। सत्यरूप ब्रह्म को हम पहचान नहीं सकते। उसी सत्यरूप ब्रह्म को जो हमारा आत्मा है, हमें सत्य से जानना चाहिए।

---

# आत्मा की सुखरूपता

आत्मा को 'ज्योतिषां ज्योतिः', ज्योतियों का भी ज्योति बताया है। वह स्वयं प्रकाश है। ऐसा प्रकाशमान् कि उसके पास जाकर सूर्य, चन्द्र, तारे भी फीके पड़ जाते हैं। ऐसा सिद्धान्त है कि पदार्थ अपने प्रबल सजातीय के पास जाकर फीके पड़ जाते हैं, जैसे शहद के पीछे कोई और मीठा खायेंगे तो फीका लगेगा। सजातीय पदार्थों में भी इसी प्रकार न्यूनता-अधिकता का भान होता है। तो उस परम ज्योति के पास जाकर सूर्य भी फीका पड़ जाता है। वह ज्योति भी चेतन ज्योति है, ज्ञानरूप है। ज्ञान नित्य होता है, यह पहले बताया। अनित्य मान लें उसे, तो फिर उसको कोई जान नहीं सकता, बता नहीं सकता। तो उस आत्म-रूप परम ज्योति को श्रुति ने नित्य, ज्ञानरूप और आनन्द अथवा सुखरूप बताया है। समस्त जीव प्राणी तीनों बातों की आकांक्षा रखते हैं। उनका अस्तित्व रहे, उन्हें सब कुछ ज्ञात हो और उन्हें कभी दुःख की अनुभूति न हो, सदैव सुखी रहें। मनुष्य की प्रवृत्ति सदैव छिपी वस्तु को जानने की रही है। एक गुरु अपने शिष्य को आत्मा के सत्-चिद्-आनन्द-स्वरूप को समझा रहे थे। शिष्य ने सत् और आनन्द रूप मानने में कोई आपत्ति नहीं की, पर ज्ञानरूप कैसे ? इसमें उसे थोड़ी शंका थी। गुरु ने बहुत समझाया कि मनुष्य को स्वभावतः ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा होती है, इसीलिए वह ज्ञानरूप भी है। शिष्य की समझ में बात नहीं आई। गुरु ने एक बर्तन में चुपचाप एक छोटी चुहिया डाल दी और ढककर बर्तन को एक कोने में रख दिया। दो-तीन दिन बाद उसने शिष्य को बुलाया और कहा—"देखो, यहाँ से चार मील पर जो महात्मा रहते हैं, यह बर्तन उन्हें दे आओ।

और देखो, मार्ग में खोलना नहीं।" अब वह शिष्य बर्तन लेकर चल पड़ा। आधे रास्ते में पहुँचा तो उसके मन में संकल्प उठा—"खोल कर देखूँ तो इसमें है क्या ?" तभी गुरु का आदेश स्मरण हो आया और वह दुविधा में पड़ गया। लेकिन बर्तन को खोल कर देखने का जो संकल्प उदय हुआ था, वह स्टीम की तरह जोर मारने लगा। संकल्प उदय ही न हो, तो ठीक है। उदय हो तो वह पूर्ण करना चाहिए। यही सोचकर शिष्य ने अन्त में विचार किया कि कपड़े से ढककर इस बर्तन को खोल डालना चाहिए, देखूँ इसमें क्या है। ढकना तनिक-सा ही हटाया तो उसमें से एक छोटी चुहिया निकली और फुदककर भाग गई। अब तो शिष्य को बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वह सोचने लगा कि इस खाली बर्तन को देखकर महात्मा क्या सोचेंगे। इसमें न मालूम वह रत्न अथवा किसी बहुमूल्य पदार्थ की कल्पना करें तो ? अतः वह महात्मा के पास न जाकर उदास मुख अपने गुरु के चरणों में आ पड़ा। अपना अपराध स्वीकार किया और बोला—"महाराज, मैंने मार्ग में सेइ खोलकर देखा। इसमें एक चुहिया थी, वह निकलकर भाग गई।" गुरु हँस पड़े। बोले—"मैं तो पहले ही कहता था कि छिपी हुई, अज्ञात वस्तु को जान लेने का इस मनुष्य का स्वभाव है।" इससे सिद्ध होता है कि वह स्वयं ज्ञानस्वरूप है। आत्मा ज्ञानरूप है। तो हरेक प्राणी अपनी स्थिति चाहता है, ज्ञान चाहता है और आनन्द चाहता है। आत्मा में ही यह तीनों गुण हैं। ज्ञान नित्य है, उसका उदय-अस्त नहीं होता। उदय-अस्त हो तो किसी पदार्थ की स्थिति नहीं हो सकती। तो आत्मा सत्यरूप है, ज्ञानरूप है और तीसरी बात आनन्दरूप है। आनन्दरूप है, इसकी क्या पहचान ? इसका साधारण नियम है। हम प्रेम कहाँ, अथवा किस वस्तु से करते हैं ? जहाँ हमें आनन्द मिलता है, सुख मिलता है। बालक को कोई व्यक्ति मारे तो वह उसके पास नहीं

जायेगा। हमें कहीं दुःख मिलने की सम्भावना हो तो हम वहाँ नहीं जायेंगे। यद्यपि जीव का ऐसा स्वभाव देखने में आता है कि वह विषयों में आनन्द ढूँढ़ता है। मनुष्य सिनेमा में पैसे खर्च करके भी जायेगा, वहाँ आँख बिगाड़ेगा, नींद बिगाड़ेगा और मन में विकार लेकर लौटेगा, लेकिन सत्संग में पैसे मिलने पर भी नहीं जायेगा। पर सच्चा सुख वहाँ है, जहाँ प्रेम है। प्रेम क्यों करता है? वस्तुतः अपने सुख के लिए। अपनी आत्मा के सुख के लिए।

बृहदारण्यकोपनिषद् के पंचम ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को उपदेश करते हुए बताया था—अरी मैत्रेयी! यह निश्चय है कि पति के प्रयोजन के लिए पति प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लिए पति प्रिय होता है, स्त्री के प्रयोजन के लिए स्त्री प्रिया नहीं होती, अपने ही प्रयोजन के लिए स्त्री प्रिया होती है। इसी प्रकार पुत्र, धन, पशु, ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक, देव, भूत, वेद इत्यादि अपने प्रयोजन के लिए ही प्रिय होते हैं। अपने अर्थात् आत्मा के सुख के लिए ही सब प्रिय होते हैं। इसलिए अरी मैत्रेयी! इस आत्मा को ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान करने योग्य जान।[1] इससे सिद्ध है कि आत्मा के सुखके लिए ही सबसे प्रेम

---

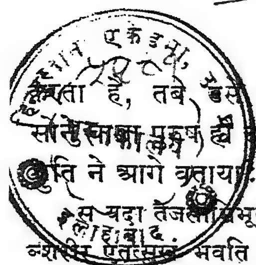
१ न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति।
आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति ।
न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति ।
आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति ।
× × ×
न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति ।
आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ।
आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि
आत्मनि खलु अरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदꣳ सर्वं विदितम् ॥

है। पति यदि पत्नी को प्रेम न कर कहीं और प्रेम करने लगे तो पत्नी को वह विष सदृश लगेगा। इसी प्रकार पत्नी किसी और से प्रेम करेगी, तो पति को वह नहीं सुहायेगी। पुत्र जिसे लाड़-प्यार से पाला-पोसा जाता है, पिता की लाज लेने पर उतारू हो तो क्या प्रिय लगेगा? धन से भी प्रेम कब तक, जब तक वह सुख देता है। यदि डाकू पिस्तौल तानकर छाती पर सवार हो जाय, तो धन भी त्याग दिया जायेगा। सिद्ध हुआ, सब कुछ आत्मा के सुख के लिए ही है। सबसे अधिक प्रेम उसी पदार्थ या वस्तु में होगा, जिससे सर्वाधिक सुख की प्राप्ति होगी। हम अपने को सबसे अधिक प्रेम करते हैं, क्योंकि हमारा आत्मा सुखरूप है, निरतिशय प्रेम हमें उससे होता है। जिसमें सबसे अधिक प्रेम है, वही सबसे बढ़कर सुखरूप है। सुषुप्ति में यह सुखरूपता और भी स्पष्ट दिखाई देती है। सुषुप्ति कैसी जिसमें गाढ़ी नींद हो, स्वप्न भी न हो। श्रुति बताती है:—

तस्मै स होवाच। यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं
गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति। ताः पुनः
पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति। तेन
तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते
नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वापितीत्याचक्षते।

(प्रश्न० ४।२)

अर्थात्—तब उस आचार्य ने कहा, हे गार्ग्य! जिस प्रकार सूर्य के अस्त होने पर सम्पूर्ण किरणें उस तेजोमण्डल में ही अस्त हो जाती हैं और उसका उदय होने पर वे फिर फैल जाती हैं, उसी प्रकार वे सब इन्द्रियाँ परमदेव मन में एकीभाव को प्राप्त हो जाती हैं। इससे तब वह पुरुष न सुनता है, न देखता है, न सूँघता है, न चखता है, न स्पर्श करता है, न बोलता है, न ग्रहण करता है, न आनन्द भोगता है, न मलोत्सर्ग करता है और न कोई चेष्टा



लगता है, तब उसे "सोता है" ऐसा कहते हैं। इस प्रकार सोया हुआ पुरुष ही इस आत्मा के सुख की अनुभूति करता है। श्रुति ने आगे बताया:—

स यदा तेजसाऽभिभूतो भवत्यत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ तदैतस्मि-न्शरीर एतत्सुखं भवति। (प्रश्न० ४।६)

अर्थात्—सुषुप्ति में जिस समय यह मन तेज से आक्रान्त होता है उस समय यह आत्मदेव स्वप्न नहीं देखता। उस समय इस शरीर में यह सुख होता है। इस समय अविद्या, काम और कर्म-जनित शरीर एवं इन्द्रियाँ शांत हो जाती हैं। उनके शांत होने पर, उपाधियों के कारण अनन्य रूप से भासित होने वाला आत्म-स्वरूप अद्वितीय, एक, शिव और शान्त हो जाता है। इसकी स्थिति ऐसी ही हो जाती है, जैसे हार-थक कर पक्षी अपने घोंसले में आ बैठे और शांत होकर सुख से सो जाय। श्रुति आती है:—

स यथा सोम्य वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते। (प्रश्न० ४।७)

अर्थात्—"हे सोम्य! जिस प्रकार पक्षी अपने बसेरे के वृक्ष पर जाकर बैठ जाते हैं, उसी प्रकार वह सब कार्य-कारण-संघात सबसे उत्कृष्ट आत्मा में जाकर स्थित हो जाता है।" यहाँ मन को पक्षी की उपमा दी है। पक्षी की तरह ही मन चंचल है। वह आत्मा को सुखरूप जानकर भी साधारणतः विषयों की ओर दौड़ता है। भर्तृहरि ने लिखा है :—

उत्खातं निधिशंकया क्षितितलं ध्माता गिरेर्धातवो।  
निस्तीर्णः सरितां पतिर्नृपतयो यत्नेन सन्तोषिताः॥  
मन्त्राराधनतत्परेण मनसा नीताः श्मशाने निशाः।  
प्राप्तः काणवराटकोऽपि न मयातृष्णेऽधुना मुंचमाम्॥

मनुष्य की स्थिति ऐसी है कि वह सुख ढूँढ़ने के लिए जमीन-

आसमान एक कर देता है। धन की आशा से पृथ्वी के तल को खोदता है। रसायन–सिद्ध होने की आशा से पर्वत की धातुओं को फूँकता है, धन अथवा दान प्राप्त करने की इच्छा से समुद्र पार करता है। विदेशों में जाता है। विदेशों का और यहाँ का भगवान् अलग-अलग नहीं है। जो प्रारब्ध में है, वह यहाँ भी मिलेगा। पर इससे भी आगे मनुष्य राजाओं को प्रसन्न करना चाहता है। मन्त्र सिद्ध करने के हेतु मन लगाकर श्मशानों में रात-रात भर एक पैर से खड़ा रहता है, लेकिन यह सब करने पर भी एक कानी कौड़ी उसके हाथ नहीं लगती। और भी दूसरी जगह भर्तृहरि ने लिखा है :—

पातालमाविशसि यासि नमो विलंध्य।
दिङ्मंडलं भ्रमसि मानसचापलेन॥
भ्रान्त्यादि जातु विमलं कथमात्मनीनं।
तद्ब्रह्म न स्मरसि निर्वृतिमेषि येन॥

ऐसा चंचल इस मन का स्वभाव है। पाताल में घुसता है, आकाश का उल्लंघन करता है और सब दिशाओं में भ्रमण करता है, परन्तु भूलकर भी अपने ही मन में स्थित उस विमल ब्रह्म का स्मरण नहीं करता जिससे मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार वह सुखरूप ब्रह्म, अपने ही भीतर आत्मा रूप से है। इसी अभिप्राय से शास्त्र ने सुषुप्ति के सुख को भगवान् का सुख बताया। वह गरीब, अमीर, विद्वान, मूर्ख सबके लिए बराबर। जाग्रत में भी वह सुख है, पर दूसरे पदार्थों के साथ होने से उतना स्पष्ट नहीं दिखता, जितना कि सुषुप्ति में। उसी सुख की जिज्ञासा लेकर एक बार नारदजी ने सनत्कुमारजी से पूछा-"भगवन्, क्या कारण है कि मैं सब कुछ होते हुए भी प्रसन्न नहीं। सुखी नहीं। और आपके पास न मकान है, न कपड़ा। आप फिर भी सुखी और शोक-विहीन हैं?" सनत्कुमारजी ने नारद से कहा-"नारद! जो भूमा है, व्यापक है,

वही सुख है, अल्प में सुख नहीं। सुख भूमा ही है। जहाँ पर पुरुष कुछ और नहीं देखता, कुछ और नहीं जानता वह भूमा है। किन्तु जहाँ कुछ और देखता है, कुछ और सुनता है, एवं कुछ और जानता है, वह अल्प है। जो भूमा है वही अमृत है। और जो अल्प है वह मर्त्य है।"[1] भूमा में सुख है, अर्थात् पूर्ण में सुख है। जैसे हमें कोई वस्तु १००) में मिलती हो, और पास में ६६॥।) हों, तो हमें वह वस्तु प्राप्त नहीं होगी। छः रोटी से भूख मिटती हो, तो चार से तृप्ति नहीं होगी। पूर्णता में ही इस प्रकार सुख है, अपूर्णता में दुःख है। इसलिए उस आत्मा में ही सुख है। उसे कहा—ब्रह्म-अर्थात् बृहद्, परिपूर्ण, जिसका कभी अभाव नहीं। इसलिए जो आत्मविद् हैं उसे शोक नहीं। जो ब्रह्म में निष्ठावाला है उसका सुख राजा के सुख से भी बड़ा है। भर्तृहरि ने एक ऐसे राजा की कल्पना की जो जंगल में शिकार खेलते-खेलते थक कर अपने तम्बू में आकर सो गया हो। सिरहाने रानी खड़ी है और ऊपर गैस जल रही है। आराम से पलंग पर वह सो रहा है। पर ऐसे सर्व साधन और ऐश्वर्य-सम्पन्न राजा के सुख से भी उस ब्रह्मनिष्ठ का सुख बड़ा है जो व्यापक भूमि को शय्या मानता है, भुजा का तकिया लगाता है, विस्तीर्ण आकाश जिसका वितान है, अनुकूल पवन जिसका पंखा है, चन्द्रमा जिसका

---

१. यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति। (छान्दोग्य० ७।२३।१)

× × ×

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाथ। यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद् विजानाति तदल्पम्। यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्॥ (छान्दोग्य० ७।२४।१)

प्रकाशमान दीपक है और विरति जिसकी स्त्री है। उसका निद्राजन्य सुख ऐश्वर्यशाली राजा से बढ़ कर है।

महो रम्या शय्या विपुलमुपधानं भुजलता।
वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोऽयमनितः॥
स्फुरद्दीपश्चन्द्रो विरतिवनितासंग मुदितः।
सुखं शान्तः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव॥

तो इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठ का सुख भी बड़ा है। उसका निश्चय, ज्ञान, देवता, वितान जो यहाँ आकाश बताया और विचार आदि सभी महान् हैं। एक कोई राजा था। उसके महल के समीप एक साधु रात्रिकाल में भूमि पर ही सड़क किनारे सो रहा। उत्सुकतावश राजा ने सोचा—इसे सड़क पर क्या नींद आई होगी। मुझे तो मखमली गद्दों पर बड़े सुख की नींद आती है। यह कैसे रात काट देता है? अतः उसने साधु को बुला भेजा। प्रश्न किया—"बाबा जी! रात कैसी कटी?" महात्मा उसके मन का भाव समझ गए। बोले—"कुछ तेरी जैसी और कुछ तुझ से अच्छी।" राजा की समझ में न आया। आश्चर्य से पूछा—"कैसे?"

बाबाजी बोले—"जब तू गहरी नींद में था, तो क्या तुझे गद्दे, हवा, ठण्डक, पलंग का भान हो रहा था?"

राजा ने उत्तर दिया—"नहीं।"

महात्मा बोले—"तो सुन, जब मैं गहरी नींद में था तो मुझे भी सड़क, भूमि और कंकड़ों का ज्ञान नहीं था। इसलिए इतनी रात तो दोनों की एक जैसी कटी। और भाई राजन्! मैं तो ब्रह्म मुहूर्त से पहले ही जाग कर ब्रह्म-चिन्तन में लग गया और तू रानी द्वारा सेवित प्रमाद में ही पड़ा रहा। इसलिए रात का पिछला भाग तेरे से अच्छा गुज़र गया।" इससे पता लगता है कि निद्रा का सुख सबका एकसा। ब्रह्म में, आत्मा में विकार नहीं, पर जीव राजा की तरह विषयों में सुख ढूँढ़ रहा है। विषयों में सुख नहीं।

भर्तृहरि कहते हैं—"चाहे रेत पेलने से तेल निकल आए, प्यासा भी कदाचित् मृगतृष्णा से पानी पी ले, प्यास बुझा ले, ढूँढ़ने से शायद खरगोश का सींघ भी मिल जाए, पर मूर्खचित्त जिस वस्तु की ओर झुका है, जिन विषयों की ओर प्रवृत्त है, उधर से उसका हटना सम्भव नहीं।"

लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीड़यन्।
पिबेच्च मृग तृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः
कदाचिदपि पर्यटञ्छशविषाणमासादयेत्,
न तू प्रतिनिविष्ट मूर्खजन चित्तमाराधयेत्॥

इसलिए सन्तकुमार ने नारद को पूर्णता, भूमा में सुख की प्राप्ति बताई, विषयों में नहीं। विषय अथवा सभी सांसारिक पदार्थ अपूर्ण हैं। अपूर्ण, अनात्म पदार्थों की ओर जब यह देखता नहीं, उन्हें जानता नहीं, उन्हें सुनता नहीं, तभी आत्मा का सुख जान लेता है। ऐसी स्थिति, अनात्म पदार्थों को न देखने, न सुनने, न जानने की स्थिति सुषुप्ति में भी यद्यपि है, तथापि वह सुख की उपलब्धि स्वाधीन नहीं, पराधीन है। हम जब चाहें तब नींद लाकर उस सुख को नहीं पा सकते। और नींद जब जबरदस्ती आती है तो सारा काम कल पर छोड़कर, घर आये सम्बन्धी से बात बन्द कर, खाना भी छोड़कर सो जाते हैं। हम भोजन बिना कुछ दिन रह जायँ, पर नींद बिना नहीं रह सकते। तो ऐसी स्थिति प्राप्त करने के लिए जिसमें यह नींद का सुख स्वाधीन हो जाय, जब चाहें, सोते, जागते, चलते, फिरते, उठते-बैठते हम इस सुख को अपने वश में देखें, हमें उसी सुख-रूप आत्मा की शरण में जाना होगा। और उसके सुख को पाकर हमें बिना पवन के दीपक जैसी, बिना तरंग के समुद्र जैसी शान्ति प्राप्त होगी।

---

उसी की ज्योति से सब प्रकाशमान् हैं; श्रुति ने ऐसा बताया। इससे हमें आत्म और अनात्म पदार्थों में विवेक करने का उपदेश भी मिलता है। ब्रह्म का, आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए विवेक ही सर्वप्रथम साधन है। जब कोई अश्वारोही राजा युद्ध करने के लिए रणस्थल में जाता है, तो उसके पास अश्व के अतिरिक्त असि और वर्म भी होते हैं। "सर्ववेदान्त सिद्धान्त सार संग्रह" में बताया—

आरूढस्य विवेकाश्वं तीव्र वैराग्यखड्गिनः।
तितिक्षावर्मयुक्तस्य प्रतियोगी न दृश्यते॥

जिसे ब्रह्म को जानना है, उसे विवेक के घोड़े पर आरूढ़ होना होगा। तीव्र वैराग्य की तलवार धारण करनी होगी और तितिक्षा, सहनशीलता का कवच पहनना होगा। ब्रह्म को जानने वाले मुमुक्षु के सामने शत्रु के स्थान पर काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, दम्भ, ईर्ष्या, राग आदि की सेना है। ये आसुरी सम्पत्ति का समूह है, जिसे जीतना होगा। भगवान ने गीता में बताया :—

दम्भोदर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्॥१६।४॥

तो इस आसुरी सम्पत्ति के समूह को वह नहीं जीत सकता जो इन्द्रियों के वश में है, असंयतात्म है।

असंयतात्मनायोगो दुष्प्राय इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥६।३६॥

इस प्रकार जब जीव पर दम्भ, पाखण्ड, अहंकार, क्रोधादि का आक्रमण हो और वह सबसे द्वेष करने लगे तो समझो वह

परमात्मा से विमुख हो गया है। उसका विवेक नष्ट हो गया है। उस पर अहंकार का सब से प्रबल आक्रमण होता है। अहंकार बुद्धि से कहता है, "अरी मूर्खा! तू इस जीव को क्यों जगाती है। यह जाग गया तो, न तो तू रहेगी, न मैं रहूँगा, न यह जगत् रहेगा। इसलिए इसे सोने दे।" जागना जीव का तभी सच्चा है जब उसे विषयों में विराग हो। यह होता है विवेक से। तुलसीदास जी ने लिखा है—

जानिय जीव तबहि जग जागा। जब उपजइ सब विषय विरागा॥

तो अहंकार बुद्धि से कहता है—"इस जीव को प्रबुद्ध न होने दे। प्रबुद्ध हो गया तो अपने स्वरूप में इसकी स्थिति हो जायेगी।" माण्डूक्यकारिका में लिखा है,—"यह जीव तो अनादि काल से अविद्या की नींद में सोया पड़ा है। और जब तक यह नींद की भी नींद, अविद्या, अज्ञान नहीं छुटेगा तब तक उसे ब्रह्म का दर्शन ही नहीं हो सकता। और जीव जागेगा कब? तब जब कि विषयों से सर्वथा विमुख होगा। तब इसे जन्मादि षड्विकारों से रहित, कार्य-कारण उभयरूप विद्या से शून्य, विपरीत दर्शन (स्वप्न) से रहित, अविद्या से रहित, अद्वैत ब्रह्म का ज्ञान हो जायगा। ज्ञान से इसका अज्ञान दूर हो जायेगा। अविद्या की निवृत्ति होगी। ज्ञान से ही अविद्या की निवृत्ति होती है, अविद्या हटने से ज्ञान नहीं होता, जैसे सूर्य आने से अँधेरा स्वयं भाग जाता है, अँधेरा हटने पर सूर्य नहीं आता। तो इस ज्ञान की प्राप्ति करनी इसी मनुष्य शरीर से है। पर अहंकार ने तो इस जीव को पुत्र, धन, स्त्री, मकान आदि में फँसा रखा है। यह बुद्धि से कहता है, जब तक जीव सो रहा है, तभी तक हम धनादि में खेलते रहेंगे। यदि यह सावधान हुआ तो हमारी एक न चलेगी। स्वामी के सावधान होने पर कर्मचारी भी सतर्क रहते हैं और स्वामी प्रमादी हुआ, तब तो वह स्वामी को ही दास

बना लेते हैं। एक कोई प्रमादी राजा था। कभी देखता ही नहीं था कि राज्य में कितना कोश है और क्या व्यय हो रहा है। मन्त्रियों ने उसके प्रमाद से लाभ उठाकर रुपया ऐंठने की सोची। एक दिन युक्ति से राजा को सन्ध्या समय भ्रमण के लिए वन में ले गए। वहाँ उस समय गीदड़ रो रहे थे। राजा ने पूछा "यह क्या उत्पात है!"

मन्त्री बोले—"महाराज! ये गीदड़ हैं। ये प्रार्थना कर रहे हैं कि जब से महाराज सिंहासन पर विराजे हैं, हमारा उन्होंने कुछ ख्याल नहीं किया। सड़क, पुल, भवन, धर्मशाला, कूप-बावड़ी सब कुछ बनवाए। और तो और घोड़े, गौओं के लिए भी प्रबन्ध हुआ। पर हमारे लिए मकानों का प्रबन्ध नहीं हुआ। हम सर्वथा असुरक्षित हैं।" राजा सोच में पड़ गया। बोला—"तो गीदड़ों के लिए मकानों का प्रबन्ध कर दो। राज्य-कोष से ५० हज़ार रुपया ले लो।" अब मन्त्रियों को अवसर मिल गया। मकान तो क्या बनवाने थे गीदड़ों के लिए, रुपया स्वयं हज़म कर गए। कुछ दिनों बाद पुनः राजा को उसी मार्ग से जाने का अवसर हुआ। गीदड़ फिर रो रहे थे। इस बार मन्त्रियों ने राजा को समझाया कि—"महाराज! यह कहते हैं, हमारे लिए भोजन का प्रबन्ध भी होना चाहिए।" राजा ने प्रमादवश राज-कोष से लंगर खोलने की भी आज्ञा दे दी। इसी प्रकार एक दिन और राजा से गीदड़ों के कपड़े बनवाने की आज्ञा मन्त्रियों को मिल गई और अन्त में राजा को समझा दिया गया कि अब यह आपको धन्यवाद देते हैं और नित्य इसी समय आपकी वन्दना करने का इनका निश्चय है। उधर कोष खाली होने को आ गया। इसी बीच में राजा ने नया कोषाध्यक्ष रखा। उसने सारा आय-व्यय का हिसाब देखा तो राजा से बोला, "आपके कोष में तो बहुत धन होना चाहिए। पर यहाँ तो साधारण धनराशि ही है।" तब राजा

ने गीदड़ों पर व्यय की गई धनराशि का वृत्तान्त सुनाया। कोषाध्यक्ष बोला—"आपने कभी स्वयं जाकर देखा है कि गीदड़ों के कैसे मकान बने, कहाँ लंगर चलता है और क्या-क्या वस्त्र वे धारण करते हैं?" अब राजा को विवेक हुआ। जाकर देखा, तो न वहाँ मकान थे, न लंगर, न गीदड़ों के तन ही ढके थे। इस प्रकार यदि यह जीव, जो इस शरीर-रूपी नगरी का राजा है, अपने कर्मचारियों अर्थात् नेत्र, श्रोत्र, हाथ, पैर, नासिका, बुद्धि, और मन आदि के वश हो जाय, प्रमादवश ये जिधर ले जायं उधर वह जाय, तो अन्त में इसे पश्चाताप करना होगा। जिस प्रकार राजा की प्रतीक्षा में मन्त्री रहते हैं, उसी प्रकार यह इन्द्रियाँ भी विवेकपूर्ण बुद्धि की आज्ञा में ही रहनी चाहिएँ। 'प्रश्नोपनिषद्' में बताया :—

यथा सम्राडेवाधिकृतान्विनियुङ्क्ते। एतान्ग्रामाने
तान्ग्रामानधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष प्राण इतरा-
न्प्राणान्पृथक्पृथगेव संनिधत्ते। (३।४)

अर्थात् जिस प्रकार सम्राट् ही "तुम इन-इन ग्रामों में रहो" इस प्रकार कहकर अधिकारियों को नियुक्त करता है, उसी प्रकार यह मुख्य प्राण ही इन्द्रियों को अलग-अलग नियुक्त करता है। इसलिए जो इन इन्द्रियों के अधीन हो जाता है, वही पतन को प्राप्त होता है। मनु ने लिखा है :—

इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छत्य संशयम्।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति। २।६३॥

मनुष्य इन्द्रियों के प्रसंग से निस्सन्देह दोष को प्राप्त होता है और उनको ही रोककर उस संयम से ही सिद्धि पाता है। इस प्रकार इन्द्रियों के वश होना तो मनु ने आपदाओं को निमन्त्रित करना बताया है और इन्द्रियों को वश में करना संपदाओं का घर

बताया है। इस मनुष्य शरीर में सबसे बड़ी संपदा, ब्रह्म अथवा आत्मा को ही प्राप्त करना चाहिए। अथर्ववेद में आता है, परमात्मा ने इस पुरुष को आज्ञा दी कि मनुष्य शरीर पाकर उन्नति करना। अपने आप ही इस ओर यत्नशील होना, किसी दूसरे के भरोसे नहीं रहना। अपना उद्धार आप ही करना। गीता में भी भगवान् ने कहा—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ ६।५॥

अपना उद्धार आप ही करो। अवनति की ओर मत जाओ। अवनति की ओर ले जाने वाले यह विषय ही हैं। जो विषयों का सहारा लेता है, अपने से भिन्न के भरोसे रहता है वह पराजय को प्राप्त होगा। मोह, ममता की कीचड़ में जो फँसा हुआ यह जीव है, उसे वहाँ से विवेक का आश्रय दे निकालना चाहिए और आत्मस्वरूप के निष्कलंक, महान्, शुभ्र शिखर पर बैठा देना चाहिए। पर जिसने इन्द्रियों पर ही अपने सारे जीवन का दायित्व छोड़ दिया है, वह इस कीचड़ से कैसे निकल सकता है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में आता है कि यह देवता (इन्द्रियगण) इस जीव को आत्मतत्व के पास भी नहीं फटकने देना चाहते। वे चाहते हैं कि यह हमारा ही दास बना रहे।

तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः।१।४।१०॥

इन्द्रियाँ ही हमें विषयों की ओर ले जाती हैं। इनका स्वभाव बहिर्मुखी है। श्रुति कह रही है :—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छिन्॥ (कठ० २।१।१)

अर्थात् स्वयंभू परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है। इसी से जीव बाह्य विषयों को देखता है, अन्तरात्मा को नहीं। जिसने अमरत्व की इच्छा करते हुए अपनी

इन्द्रियों को रोक लिया है, ऐसा कोई वीर पुरुष ही प्रत्यगात्मा को देख पाता है। इसलिए इन्द्रियों को विषय-वासना से—शब्द रूप, रस, गंध, स्पर्श के मिथ्या आनन्द से हटाना है। मुक्ति में यह सब नहीं। इसीलिए लोग उसे अँधेरी कोठरी जैसी कोई चीज़ बताते हैं। पर वस्तुतः बात ऐसी नहीं। वहाँ तो तद्रूप होने जैसी बात है। विषयों का सेवन करते हुए उस अलौकिक ब्रह्म-सुख की प्राप्ति सम्भव नहीं। विषय-वासना के वश होकर तो यह अपना नाश स्वयं बुलाता है। 'विवेक चूड़ामणि' में भगवान् शंकराचार्य कहते हैं :—

शब्दादिभिः पञ्चभिरेव पञ्च पञ्चत्वमापुः स्वगुणेन बद्धाः।
कुरंगमातंगपतंग मीन भृंगा, नरः पंचभिरंचितः किम् ॥७८॥

अर्थात् अपने-अपने स्वभाव के अनुसार हरिण, हाथी, पतंग, मछली और भौंरे क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंध, पाँच विषयों में से केवल एक-एक से बँधे हुए मृत्यु को प्राप्त होते हैं, फिर पाँचों विषयों से जकड़ा हुआ यह मनुष्य कैसे बच सकता है ? विषयों की ओर सुख की लालसा में जीव दौड़ता रहता है। पर उसके मनोरथ कमल में बन्द हुए उस भ्रमर की तरह कभी पूरे नहीं होते, जो प्रातःकाल कमल खिलने से पूर्व ही हाथी की सूँड़ द्वारा कमल सहित मसल दिया जाता है। भर्तृहरि ने लिखा है— "हम लोग मनोरथ करते हैं कि मकान बनवाएँगे, उसमें वापी होगी, उसके किनारे फुलवारी में आनन्द से क्रीड़ा करेंगे। पर वहाँ खड़ा एक झोंपड़ा भी नहीं होता। नाना प्रकार के मनोरथ करते-करते ही आयु क्षीण हो जाती है। धन्य तो वास्तव में वे लोग हैं, जिन्होंने पर्वत की गुफाओं को अपना निवास-स्थान बनाया है। परन्तु ज्योति का—जिसको इस मन्त्र में, 'ज्योतिषां ज्तोतिः' बताया जहाँ सूर्य, चन्द्र भी फीके हैं, उस परम ज्योति का ध्यान करने में जो तन्मय हैं, जिनकी आँखों से आनन्दजनित आँसू गिर रहे हैं

और पक्षी निर्भय हो गोद में बैठे जल समझकर जिनका पान कर रहे हों, ऐसे परब्रह्म में लीन, विषयों और मनोरथों की दलदल से निकले हुए पुरुष ही वास्तव में जीवन को सफल बना चुके हैं:—

धन्यानां गिरिकन्दरे निवसतां ज्योतिः परं ।
ध्यायतामानन्दाश्रुजलं पिबन्ति शकुना निःशंकमंकेशयाः ।
अस्माकं तु मनोरथोपरचित प्रसादवापीतट—
क्रीड़ा कानन केलि कौतुकजुषामायुः परं क्षीयते ॥

इसीलिए विवेकी जन विषयों में रमण नहीं करते। भगवान् ने भी गीता में कहा है :—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥५।२२॥

अर्थात् "जो इन्द्रिय तथा विषय-संयोग से होने वाले सब भोग हैं वे विषयी पुरुषों को ही सुखरूप भासते हैं। वास्तव में वे दुःख के हेतु हैं और आदि अन्तवाले होने से अनित्य हैं। हे अर्जुन! विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।" विवेकी पुरुष आत्म-तत्व के साक्षात्कार के लिए ही यत्नवान् होता है। आत्मरूप में प्रतिष्ठित होना ही जीव की सबसे बड़ी उन्नति है। ब्रह्मवेत्ता पुरुष को तो सबसे बड़ी वस्तु मिल जाती है, उसे ब्रह्म की प्राप्ति होती है। श्रुति ने बताया—

ब्रह्मविदाप्नोति परम् ॥ (तैत्तरीय०२।१।१) ब्रह्मज्ञानी महात्मा परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

ऐसा पुरुष जो विषयों को छोड़कर विवेकी हो गया है, जिसने तितिक्षा का कवच पहना है, जिसके पास तीव्र वैराग्य की खड्ग है, वह रोगों में नहीं फँसता। धन में राग हुआ, आमदनी से अधिक व्यय की इच्छा हुई तो पाप-मार्ग में प्रवृत्त होगा। इसी प्रकार किसी स्त्री में राग हुआ तो उसके मोह में फँसकर पाप का भागी बनेगा। अमूल्य मनुष्य शरीर को खो देगा। जड़ भरत ने मृगशावक

में राग किया तो तीन जन्म और लेने पड़े। जो मुमुक्षु है, उसे इस दृष्टि से आशा त्याग देनी चाहिए क्योंकि—

आसा की कर चाकरी बनै जगत् को दास।
दासी आसा जो बनै, बनै जगत् फिर दास॥

तो इस आशा, मनोरथ, विषय रूप दलदल से निकलकर ही, अनात्म को छोड़कर ही आत्म पदार्थ का ज्ञान होगा। यह आत्मा पवित्र है, अपवित्र को भी पवित्र बनाने वाला है। हमारा शरीर ही देखो कितना अपवित्र है। जो इसके अन्दर है, वही बाहर हो तो हमें दिन-रात कौए, चील, कुत्ते ही भगाने पड़ें। उसी आत्मा से यह चेतन है, पवित्र है। उसके निकल जाने पर इसे छूकर भी नहाना पड़ता है। "अपरोक्षानुभूति' में भगवान् शंकराचार्य ने बताया:—

आत्मा ज्ञानमयः पुण्यो देहो मांसमयोऽशुचिः
तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किम ज्ञानमतः परम्॥

आत्मा ज्ञान स्वरूप और पवित्र है तथा देह मांसमय और अपवित्र है; इन दोनों की जो एकता देखते हैं, इससे बढ़कर और क्या अज्ञान होगा? नरक जैसा गंदा और अपवित्र है, वैसा ही यह शरीर। जिसे शरीर से प्रेम है, समझो उसे नरक से भी प्रेम है। यह अनात्म है, नश्वर, अनित्य। और आत्मा नित्य वस्तु है। उसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए ही श्रुति विवेक सम्पादन करने का आदेश दे रही है—

उत्तिष्ठ जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥ (कठ० १।१४)

"अरे! अविद्याग्रस्त लोगो, उठो! अज्ञान निद्रा से जागो और श्रेष्ठ पुरुषों के समीप जाकर ज्ञान प्राप्त करो। जिस प्रकार छुरे की धार तीक्ष्ण और दुस्तर होती है, तत्त्व ज्ञानी लोग उस मार्ग का वैसा ही दुर्गम बताते हैं।"

# आत्म-अनात्म का विवेक—२

आत्म और अनात्म पदार्थों का विवेक मुमुक्षु का प्रथम कर्तव्य बताया। किसी वस्तु के असाधारण धर्मों का पृथक्-पृथक् पक्का निश्चय करना ही विवेक कहा जाता है। आत्मा चेतन रूप है, शुद्ध है, प्रकाशस्वरूप है, अनात्मा प्रकाश्य है, जड़ है, अपवित्र है। आत्मा निर्भयता देने वाली है, अनात्मा भय का स्थान है। आत्मा सत्, चिद्, आनन्द रूप है, अनात्मा असत्, अज्ञानरूप और दुःख-मय है। इस प्रकार पक्का निश्चय होने पर, विवेक दृढ़ होने पर मुमुक्षु परब्रह्म के मार्ग में अग्रसर होता है। जिस मकान की नींव दृढ़ नहीं होती उसकी पाँच-छः मंजिलें भी सुरक्षित नहीं कही जा सकतीं। इसी प्रकार यदि विवेक दृढ़ नहीं है, तो मुमुक्षु का सारा तप, समस्त साधन निष्फल हो जाते हैं। जैसे विवेक को पहले अश्व की उपमा दी, उसी प्रकार दूसरे स्थान पर विवेक को सारथी बताया है। युद्ध में जाने वाले योद्धा के पास रथ, अस्त्र और सारथी तीन वस्तु आवश्यक बताई हैं। रथ अच्छा है, अस्त्र अच्छे हैं, लेकिन सारथी अनुकूल नहीं है, तो योद्धा कभी विजय-श्री प्राप्त नहीं कर पायेगा। विवेक इस शरीर-रूपी रथ का सारथी समझिये। इस शरीर रूपी रथ में बैठकर हमें कामादि शत्रुओं को पराजित करना है, लेकिन वैराग्य का अस्त्र पास होते हुए भी यदि विवेक रूप सारथी नहीं है तो उद्देश्य की पूर्ति, लक्ष्यप्राप्ति संदिग्ध है। श्रुति भी विवेकपूर्वक आत्म-अनात्म की पहचानकर, ब्रह्म-ज्ञान की जिज्ञासा लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाने का आदेश करती है :—

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्म निष्ठम् ॥ (मुण्डक १।२।१२)

कर्मों से प्राप्त हुए लोक और उसके फल अनित्य हैं, अनात्म हैं। इसलिए विवेकी जन उनकी असारता को जान ब्रह्मज्ञान की जिज्ञासा करें। बिना विवेक के मुमुक्षु की सफलता उसी प्रकार अनिश्चित और संदिग्ध है, जिस प्रकार कि सारथी की प्रतिकूलता से योद्धा की विजय। महाभारत में कथा आती है, द्रोणाचार्य और भीष्म तो मारे जा चुके थे। दुर्योधन बहुत चिंतित था। कर्ण का उसे भरोसा था। उसी के पास जाकर विनय करने लगा। बोला - "कर्ण! देखो द्रोणाचार्य और भीष्म से तो हमारी विजय कभी होने वाली नहीं थी, क्योंकि वे हृदय से पाण्डवों का पक्ष लेते थे। लेकिन अब मुझे केवल तुम्हारा ही भरोसा है। आज से कौरव-सेना का संचालन तुम्हारे हाथों में सौंपता हूँ!" कर्ण बोला—"यह तो ठीक है! पर मुझे विजय में एक कारण से सन्देह हो रहा है। मैं अर्जुन से किसी प्रकार कम नहीं हूँ। मैंने भी अच्छे गुरू से धनुर्विद्या सीखी है, उसके पास दिव्य अस्त्र हैं, तो मेरे पास भी अस्त्रों की कमी नहीं; उसमें उत्साह बहुत है, तो मेरा उत्साह भी किसी से कम नहीं। उसे अपने बल पौरुष का अभिमान है, तो मेरा पराक्रम भी कहीं कम नहीं। लेकिन मेरे पास कमी है तो एक चीज़ की। मेरे पास उसका जैसा सारथी नहीं है।"

दुर्योधन को यह बात ठीक प्रतीत हुई। सोच में पड़ गया। बोला—"हाँ, यह तो ठीक है। श्रीकृष्ण जैसा सारथी कहाँ से लाऊँ?"

कर्ण ने सुझाव दिया—"यदि तुम्हारे मामा शल्य सारथी बनना स्वीकार कर लें तो काम चल सकता है। वह भी कृष्ण की तरह कुशल सारथी सिद्ध होंगे।"

शल्य युधिष्ठिर की सहायता करने आ रहे थे। दुर्योधन ने उन्हें दुष्टता से अपनी ओर करने का संकल्प कर लिया। और उन के मार्ग में थोड़े-थोड़े अन्तर से सुन्दर पड़ाव बनवा दिए। उनमें राज-प्रासादों जैसी सुख-सुविधा, कर्मचारी, सेवक एवं विलास की सामग्रियाँ जुटा दीं। अब शल्य जब आए तो ऐसी सुन्दर व्यवस्था देखकर बड़े प्रसन्न हुए। हस्तिनापुर तक का बारह दिन का रास्ता उन्हें मालूम ही नहीं दिया। जान पड़ा, जैसे यात्रा ही नहीं कर रहे, महलों में ही रह रहे हों। अन्तिम पड़ाव के पास दुर्योधन उनसे मिलने आ पहुँचा। युधिष्ठिर भी आने वाले थे। पर अभी तक पहुँचे नहीं थे। दुर्योधन को अच्छा अवसर मिल गया था। शल्य ने पूछा—"युधिष्ठिर भी तो आने वाले थे? आए नहीं? प्रबन्ध तो उन्होंने बड़ा सुन्दर कराया।"

दुर्योधन बोला—"मामा जी! यह तो प्रबन्ध मैंने कराया है।" शल्य प्रसन्न तो थे ही। उन्होंने कहा—"तूने बड़ी सुन्दर व्यवस्था की; बोल इस सेवा के बदले में मैं तेरा क्या प्रत्युपकार करूँ?" दुर्योधन के हृदय में तो कुटिलता छिपी थी। बोला, "मामा जी! यदि आप पूरा करें तो कहूँ।"

"हाँ, क्यों नहीं!"—शल्य ने कहा—"अवश्य पूरा करूँगा!"

ऐसा वचन ले लेने पर दुर्योधन ने निःसंकोच कहा—"आप कर्ण के सारथी हो जाइए।"

इतना सुन कर तो शल्य आग बबूला हो गए। कर्ण जैसे नीच, अधम, पापी का सारथी! ऐसा अपमानजनक कार्य! इतने में युधिष्ठिर भी आ गए। उन्होंने सारी स्थिति को समझ कर कहा—"मामा जी! आप धर्म पर चलने वाले हैं, और छल से इसने आपको वचनबद्ध कर दिया है। इसलिए अब इसे पूरा ही करें। धर्मात्मा की यही शोभा है कि वह जो वचन दे दे, उसे पूरा करे—"

शल्य सोच में प गड़ये। बोले—"युधिष्ठिर, मैं तो वास्तव में तेरी सहायता करने आया था। बोल—तू क्या सहायता चाहता है।"

युधिष्ठिर ने विवेकपूर्ण उत्तर दिया—"मामा जी, एक बात चाहता हूँ! बस! आप जब कर्ण का रथ अर्जुन के सामने लाएँ तो उसे उत्साहित मत करना, वरन् हतोत्साहित करना।" शल्य ने यह बात मान ली और फिर दुर्योधन से बोले—"एक ही शर्त पर हम कर्ण का सारथी होना स्वीकार कर सकते हैं। शर्त यह है, कि हमें अन्त तक कर्ण का सारथी ही रहना होगा और हम जो-कुछ कहेंगे वह सब कर्ण को सुनना पड़ेगा।" दुर्योधन तो स्वार्थ-वश अन्धा हो रहा था। शल्य की यह शर्त उसने स्वीकार कर ली। अब जब युद्ध हुआ तो शल्य कर्ण के रथ को अर्जुन के सामने ही नहीं ले जायँ। उसे उल्टा डाँट दें कि "हाथी और खर-गोश का क्या सामना! अरे, नीच कर्ण! तू तो अर्जुन के सामने ऐसा है जैसे सिंह के सामने गीदड़! तू क्या लड़ना जाने?" उधर भगवान् कृष्ण तो सदैव अर्जुन को उत्साहित करते थे:—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा भोक्ष्य से महीम्
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृत निश्चयः ॥ २।२७ ॥

अथवा

क्लैब्यं मा स्मगमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ २।३ ॥

लेकिन इधर शल्य कर्ण को हतोत्साहित करते रहे। उसे क्रुद्ध कर, उसका बल घटाते रहे। और कभी रथ को अर्जुन के सामने नहीं ले जाते। इस प्रकार अन्त में कर्ण की पराजय हुई। तो सारथी का महत्व इतना बढ़ा-चढ़ा है। विवेक-रूप सारथी यदि हमारे अनुकूल नहीं, उसे हमने निर्भय और पक्का नहीं बनाया

तो हम उस परब्रह्म परमात्मा को, विष्णु के पद को कैसे पा सकते हैं, जहाँ से कोई लौटा नहीं।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमांगतिम्
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम। ८।२१॥

इस परमगति को जिसने पा लिया वह इस अनित्य, दुःखरूप संसार से, जन्म-मरण के चक्कर से छूट जाता है। विवेकीजन, महात्मागण इसी उद्देश्य से परब्रह्म का चिन्तन करते हैं:—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमांगताः॥

अविवेकी को यदि धन, विद्या, पुत्र और संसार की सभी बहुमूल्य वस्तुएँ प्राप्त होती हैं, तो भी वह दुःखों को अपने पास बुला लेता है। धन से मदिरा पान करेगा, वेश्या के यहाँ जायगा और न जाने क्या-क्या करेगा। इसी धन को विवेकी दान में, शुभ कर्मों में लगाकर स्वर्ग को जायगा। तो विवेकी के पास विद्या-धन आयगा तो सदुपयोग करेगा और अविवेकी के पास जायगा तो स्वयं अपना नाश कर लेगा।

ऐसी कथा आती है कि एक गुरू के पास दो शिष्य संजीवनी विद्या सीखा करते थे। मरे को जिला दे, ऐसी विद्या। बारह वर्ष तक वे श्रद्धा, ब्रह्मचर्य और तप के साथ गुरू के आश्रम में रहे और तत्पश्चात् वह विद्या उन्हें आगई। पर उनमें एक विवेकी था, एक अविवेकी। इसलिए गुरू ने कहा—"जो कोई विद्वान्, तपस्वी, अथवा देश-जाति रक्षक मर जाय, जिसके जीवन की आवश्यकता हो, उसे ही जिलाना। हरएक को नहीं। हरेक को जिलाना भी ईश्वरीय नियम में बाधा डालना जैसा होगा। मृत्यु तो वास्तव में संसार की रक्षा करने वाली है। यदि एक बगीचे में पास-पास पेड़-पौधे हों, तो उन्हें विकास के लिए स्थान ही न मिले। इसी प्रकार, शास्त्रों में आता है, पहले मृत्यु नहीं थी।

संसार में जीव इतने बढ़ गए कि सबका हिलना-डुलना बन्द हो गया। सारे व्यवहार रुक गए। तब प्रजापति ने मृत्यु बनाई और उससे कहा—"मृत्यु तू जा--संसार में से थोड़े जीव समाप्त कर ताकि सृष्टि का व्यवहार न रुके।" मृत्यु ने कहा—"मैं क्यों अपने सिर बुराई ओढ़ूँ ? मेरा किसी ने क्या बिगाड़ा है ?" बात ठीक थी। प्रजापति ने रोग उत्पन्न किए। बोले—अब मारेगी तो मृत्यु, पर रोग का नाम पड़ जायगा। लेकिन रोग भी थोड़ी आनाकानी करने लगे कि सारी बुराई हम ही अपने माथे क्यों लें ? तब प्रजापति ने रसना और कामेन्द्रियों को बढ़ावा दिया। जो रसना और कामेन्द्रिय के वश होगा, उसे ही रोग होंगे और उसे मृत्यु चट कर जायगी। जिसने रसना और प्रजननेन्द्रिय को वश किया, उसने मृत्यु को जीत लिया। मृत्यु तो आती ही उसे है जो वेद का अभ्यास छोड़कर आलसी हो जाता है। मनु ने लिखा है-

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात् ।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥५।४॥

वेद हमें बताता है कि किस प्रकार जीवन व्यतीत करें। प्रातः उठें, अग्निहोत्र, स्वाध्याय आदि शुभ कर्मों में लगें। लेकिन जो वेद नहीं पढ़ता, (जिसने अपना वेद प्रातःकालीन समाचारपत्र को बना लिया है ) वह इन सब नियमों को कैसे जानेगा ? वेद-विहीन होने से आचार-विहीन और आलसी हो जायगा, उसमें अन्न-दोष आ जायेंगे और अन्त में मृत्यु को प्राप्त होगा। (लेकिन आज स्थिति क्या है ? गौ की जगह कुत्ते पाले जाते हैं। अग्निहोत्र की जगह धूम्रपान होता है। स्वाध्याय की जगह ली है समाचार-पत्रों ने। एक बार बम्बई के निम्नस्तर के सड़कों पर सोने वाले मकान-विहीन लोगों की दुर्दशा से द्रवित होकर एक व्यक्ति ने प्रार्थना की थी कि—"नगर के लगभग २० हजार कुत्तों पर २००) प्रतिमास के हिसाब से जो ४० लाख रुपया हर महीने

खर्च होते हैं, उन्हें बचाकर निराश्रितों के लिए घर बना दिए जायँ।" यह दशा है आज!) तो आचरण-विहीन व्यक्ति अन्न-दोष का भी शिकार हो जाता है। अन्न से ही मन बनता है। 'छान्दोग्य उपनिषद्' में आया है :—"हे सौम्य! मन अन्नमय है, प्राण जलमय है, और वाक् तेजोमयी है।" (६।५।४) इस प्रकार अन्न यदि पाप की कमाई का होगा, और बनाने में भी पवित्रता का ध्यान नहीं रखा गया होगा तो निश्चय ही मन, बुद्धि भी अपवित्र और दूषित विचार वाले हो जायँगे। मनु ने लिखा है—

चतुष्पात्सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे।
नाधर्मेणागमः कश्चिन्मनुष्यान्प्रति वर्तते॥
इतरेष्वागमाद्धर्मः पादशस्त्ववरोपितः॥
चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादशः॥
अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः
कृते त्रेतादिषु ह्येषामयुर्ह्रसतिपादशः॥

सतयुग में आयु ४०० वर्ष होती थी। लोग सर्वसिद्ध होते थे। धर्म के चारों पाद विद्यमान् थे। कोई राजा नहीं था, जेल नहीं थी, दण्ड नहीं था; क्योंकि सब सत्याचरण करने वाले और स्वधर्म पालन करने वाले थे। इसी प्रकार हर युग में आयु १००-१०० वर्ष घटती गई। आज के जीव असत्य का आश्रय लेने वाले हैं। सतयुग में कोई असत्य जानता भी न था। 'छान्दोग्य उपनिषद्' में कथा आती है। उपमन्यु का पुत्र प्राचीनशाल, पुलुष का सत्यज्ञ, भल्लवि के पुत्र का पुत्र इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्ष का पुत्र जन और अश्वतराश्व का पुत्र बुदिल आत्मा और ब्रह्म को जानने की जिज्ञासा लेकर उद्दालक के परामर्श से केकयकुमार अश्वपति के पास गए। राजा ने उनका अलग-अलग सत्कार किया। दूसरे प्रातःकाल उठते ही उसने कहा—"मेरे राज्य में न तो कोई चोर है, न अदाता, न मद्यप, न कोई अनाहिताग्नि (अग्निहोत्र न करने

वाला ) न कोई अविद्वान् है और न कोई परस्त्रीगामी है, फिर कुटिला स्त्री तो आई ही कहाँ से ? हे पूज्यगण ! मैं भी यज्ञ करने वाला हूँ। अतः मैं एक-एक ऋत्विक् को जितना धन दूँगा, उतना ही आपको भी दूँगा। आप यहीं ठहरिए।" राजा को उन्होंने अपना प्रयोजन बताया, तब उसने उन महागृहस्थों को उपदेश किया। (५।११।१-७) तो इससे पता चलता है कि तब कोई अधर्मी नहीं होता था। इस प्रकार आचारवाला व्यक्ति वेदाभ्यास से ही सही मार्ग का अवलम्बन कर सकता है। आचारहीन वेद का पंडित होने पर भी पंडित नहीं। लौकिक दृष्टि से पंडित वह है, जैसा वसिष्ठ जी ने बताया, जो परमात्मा, धर्म और शुभ कर्मों में विश्वास रखने वाला हो, अधर्म में जिसकी कभी कोई प्रवृत्ति न हो। और तत्व दृष्टि से पंडित वह है, जैसा भगवान् ने बताया—

विद्याविनय संपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनिचैवश्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः॥

तो इस प्रकार धर्म में प्रवृत्त होने और मृत्यु-सम्बन्धी उपदेश ग्रहण करने पर वे दोनों शिष्य संजीवनी विद्या सीख अपने घरों को चल पड़े। अविवेकी शिष्य को संशय था कि संजीवन मन्त्र सिद्ध हुआ भी है या नहीं। इसलिए उसके मन में उस मन्त्र का प्रयोग करने की बात आई। मार्ग में एक खरगोश मरा पड़ा था। वह उसे जिलाने की इच्छा से उसके समीप गया। तब विवेकी शिष्य ने उसे रोक दिया। कहा—"देखो विद्या बड़ी अमूल्य है। और गुरू के वाक्य में विश्वास रखकर इसका व्यर्थ प्रयोग मत करो।" वह मान गया। पर अविवेकी था। इसलिए आगे मार्ग में एक गीदड़ को मरा देखकर उसे जिलाने चला। विवेकी शिष्य ने उसे फिर मना किया तो दोनों में विवाद छिड़ गया। अविवेकी कहने लगा—"मेरी-तेरी नहीं बनेगी,तू दूसरे मार्ग से जा, मैं दूसरे मार्ग से जाऊँगा।" बस, दोनों अलग हो गए। सत्य भी है, समान

शील, आचार, सामर्थ्य और गुण वालों में मित्रता होती है। अवि-वेकी शिष्य आगे चला तो मार्ग में एक सिंह मरा पड़ा था। उसने उत्सुकतावश उस मृत सिंह को जिलाने का निश्चय किया। वह सिंह भूख से ही मरा था। अतः संजीवन मन्त्र के प्रताप से जीवित होते ही वह उस मूर्ख व्यक्ति को चट कर गया। अविवेकी के पास मृत्यु जीतने की शक्ति थी, पर उसने उलटी मृत्यु बुला ली। विवेकी शिष्य नगर में पहुँचा। तभी राजा का एकलौता पुत्र मरा था। उसे लोग मरघट ले जा रहे थे। उसने पूछा—"यह कौन मरा है?" मालूम हुआ राजा का एकलौता पुत्र था, वह मर गया। बहुत इलाज हुए, पर बेकार। उस शिष्य ने अपनी विद्या से राजा के पुत्र को जिला दिया और राजा की कृपा का पात्र हो स्वयं राजवैद्य और राजगुरु बन गया। इसलिए विवेक जिसके पास नहीं है वह सत्य का दर्शन कैसे कर सकता है? वह कैसे जानेगा कि यह सर्वत्र उसकी ही ज्योति है जो परब्रह्म है, जो बिरज-रजोगुण से रहित है और हमारे हृदय की गुहा में ही जो विराजमान् है। अतः मुमुक्षु को सब से पहले विवेक प्राप्त करना चाहिए।

---

## विवेक की महत्ता

मुमुक्षु के लिए विवेक की आवश्यकता बताई है। विवेक के बिना वैराग्य नहीं हो सकता। वैराग्य तभी होता है जब कि अनात्म पदार्थों में हमारी दोष-दृष्टि हो। अनात्म वस्तु की अनि-त्यता, दुःखरूपता समझकर ही हम उस ओर से हटेंगे। इसीलिए भगवान् ने हमें जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि वाला बनाया है। यदि

इस ओर ध्यान न देकर हम संसार में सुख-बुद्धि कर लेंगे तो हमारा ईश्वर से प्रेम नहीं हो सकता। संसार तो अनित्य और दुःखरूप है। ईश्वर नित्य और सुखरूप है। अतः संसार में दुःख-बुद्धि और ईश्वर में हमारी सुख-बुद्धि होनी चाहिए। दोष-दृष्टि होने पर हम विषय को सामने न रहने दें, वह तो त्याग है और सामने रहते उसमें प्रीति न होना ही वैराग्य है। अतः संसार की ओर पीठ और भगवान् की ओर मुँह करने में ही कल्याण है। तुलसीदास जी ने एक जगह लिखा है :—

जग से रहु छत्तीस ह्वै रामचरण छः तीन।
तुलसी देख बिचार हिय, है यह मतो प्रवीन॥

इसलिए तीन और छः के अंक जैसे एक-दूसरे की ओर होते हैं (६३ में), इसी प्रकार हमें ईश्वर की ओर ध्यान लगाना चाहिए। इसके लिए विवेक होना अनिवार्य है।

विवेक भी कई प्रकार से होता है। एक तो विवेक विचार से होता है। संसार की असारता, दुःखरूपता को जानकर और उसके यथार्थ स्वरूप को जान लेने से विवेक उत्पन्न हो जाता है। कभी-कभी महान् असह्य कष्ट, दुःख आने पर भी संसार की अनित्यता का भान होता है और विवेक हो जाता है। और कई बार सत्संग से भी विवेक होता है। तुलसीदास जी तो दावे के साथ कहते हैं—"बिनु सतसंग विवेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई।" संसार की ठोकर लगने पर भी विवेक होता है। गेंद को जब ठोकर मारी जाती है, तो वह ज़ोर से आगे की ओर दौड़ती है और यदि उसे सामने से कोई उलटी ठोकर लगाए तो वह पीछे लौट आती है। इसी तरह यह जीव, जो ईश्वराराधन का वचन देकर यहाँ आया है, संसार की ओर दौड़ रहा है। ठोकर नहीं लगती, तो संसार में ही रच-पच जाता है। भर्तृहरि को रानी की ठोकर लगी, तो आँखें खुल गईं और वैराग्य ले

लिया। विवेक असह्य दुःख के कारण भी होता है। इसीलिए दुःख को शास्त्र ने मित्र बताया है। सुख तो शत्रु के समान है। विषय सुख, संसारी कार्यों से मिलने वाला सुख, भोग में अवश्य सुखरूप भासता है पर परिणाममें वह विष है, तृष्णा है। भगवान् ने गीता में बताया :—

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥
विषयेन्द्रिय संयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः
निद्रालस्य प्रमोदात्थं तत्तामससमुदाहृतम्॥ १८।३७-३९॥

तो ऐसा जो संसार का सुख है, परिणाम में दुःख देने वाला है। यह सुख परमात्मा से विमुख बना देता है। प्रेम एक से ही हो सकता है। संसार से, अथवा ईश्वर से। एक भक्त कवि ने लिखा है—

जब मैं था तब तू नहीं, जब तू था मैं नाहिं।
प्रेम गली अति सांकरी, जा में दो न समाहिं॥

अतः या तो संसार के अनित्य सुखों से प्रेम हो सकता है, अथवा ईश्वर से। जब तक 'मैं' अर्थात् अहंकार है, तब तक मनुष्य परमात्मा के मार्ग में नहीं चल सकता, संसार के भोगों में दौड़ेगा। संसार के सुखों में ईश्वर का स्मरण भी भूल जाता है। युधिष्ठिर की विजय के पश्चात् भगवान् ने एक दिन कुन्ती से पूछा—"अब तो तुम्हें कोई दुःख नहीं। राज्य-पाट मिल गया। सारे सुख हैं। दास-दासी, पूर्ण वैभव। अब तो तुम प्रसन्न होंगी ?"

कुन्ती ने खिन्नता से कहा—"भगवन्, मैं तो आपसे सुख नहीं, दुःख माँगती हूँ। जब हम वनवास में थे, किसी का कोई ठिकाना तक नहीं था, तब चौवीसों घण्टे आपका स्मरण होता

था। अब इस सुख की अवस्था में आपका स्मरण ही नहीं होता। अतः मुझे तो दुःख चाहिए।" इससे पता चलता है कि सुख विवेक का हेतु नहीं, दुःख विवेक की ओर ले जा सकता है। दुःख मनुष्य का सच्चा हितैषी है।

सुख के माथे सिल परे नाम हृदय से जाय।
बलिहारी वा दुःख की पल-पल नाम रटाय॥

जैसे—बिनु कडुवी औषध पिए मिटे न तन को ताप, कहा है, उसी प्रकार यह दुःख कडुवी औषध के समान है और इससे संसार-ताप की निवृत्ति में सहायता मिलती है। संसारी सुख तो कुपथ्य की भाँति है। कुपथ्य से रोग और रोग से मृत्यु, उसी तरह संसारी सुख से अज्ञानता और अज्ञानता से विनाश की प्राप्ति होती है। तात्कालिक सुख देना ही संसारी भोगों का स्वभाव है, शाश्वत सुख तो ईश्वर-चिन्तन में मिलता है। आत्मा में रमण करने वाला ही वस्तुतः सच्चे सुख की अनुभूति करता है :—

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेवयः
स योगी ब्रह्म निर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥

अर्थात् जो पुरुष निश्चय करके अन्तर आत्मा में ही सुखवाला है और आत्मा में ही आरोग्यवाला है तथा जो आत्मा में ही ज्ञान-वाला है, ऐसा वह परब्रह्म के साथ एकीभाव को प्राप्त हुआ सांख्य योगी शान्त ब्रह्म को प्राप्त होता है।

असह्य दुःख आने पर जब मनुष्य को विवेक होता है, तो उसमें वैराग्य के दृढ़ होने की कभी-कभी सम्भावना नहीं रहती। जिस दुःख के कारण विवेक-वैराग्य हुआ, उसके दूर होने पर मनुष्य पुनः अज्ञान के वश हो सकता है। इसलिए विवेक की सफलता के लिए ईश्वर की कृपा भी होनी चाहिए। कई बार ईश्वर स्वयं योग्यपात्रों के पास से वह वस्तु हटा लेता है, जिसमें उनकी विशेष आसक्ति होती है। कोई भगवद्भक्ति का अधिकारी

यदि पत्नी, पुत्र, धन, अथवा किसी अन्य संसारी वस्तु में अत्यधिक आसक्त है, तो ईश्वर उसे हटा लेते हैं, ताकि वह ईश्वर-परायण हो। कथा आती है, राजा दशरथ के पिता महाराजा अज बड़े धर्मात्मा, ईश्वरभक्त, न्यायप्रिय, प्रजापोषक, सदाचारी और सत्संगी थे। उनका कुल ही ऐसा पवित्र था, रघुकुल। ऐसे गुणवान महाराजा दुर्लभ ही होते हैं। शास्त्र कहता है, धार्मिक राजा आठ देवताओं का अंश लेकर प्रकट होता है। अस्तु! उन महाराजा अज की महारानी थी इन्दुमती। उसमें राजा की बहुत आसक्ति थी। उसके बिना उनका एक पल भी बड़ी कठिनाई से व्यतीत होता था। पत्नी को शास्त्र ने धर्मपत्नी की संज्ञा दी है। पत्नी अर्थात् वह जो यज्ञादि धार्मिक अनुष्ठानों में पति को सहयोग दे। यज्ञ से अन्तःकरण शुद्ध होता है और शुद्ध अन्तःकरण में ज्ञान होता है। पत्नी इस प्रकार धर्मानुष्ठान में सहायता करने वाली होती है। कई यज्ञों में उस घी की आहुति दी जाती थी, जिसे धर्मपत्नी ने देखा हो। अर्धाङ्गिनी अर्थात् धर्मानुष्ठान में सहयोग देने वाली। भगवान् राम को भी जब सीता के अभाव में यज्ञ करना पड़ा, तो सोने की सीता बनाकर स्थापित की गई। स्त्री को भोग-विलास की सामग्री नहीं, वरन् धर्म-कर्म में सह-कारिणी समझना चाहिए। पर राजा अज तो इन्दुमती में, विवेकी होते हुए भी, अत्यन्त आसक्त थे। एक बार उनके मन में विचार आया कि कुछ दिन सरयू किनारे एकान्त में रमण किया जाय। अतः निश्चय हो गया। सुरम्य, एकान्त, सरयू कूल पर महाराज के रहने की सुन्दर व्यवस्था हो गई। तब वह इन्दुमती को लेकर वहाँ गए। एक दिन क्या हुआ, प्रातःकाल शीतल समीर बह रही थी, बड़ी शांति थी, सरयू मंद-मंद प्रवहमान् थी। राजा अज रानी इन्दुमती के साथ ठंडी बालुका में भ्रमण के लिए निकले। सहसा एक विचित्र घटना हुई। आकाशमार्ग से एक

पुष्पमाला गिरी। इन्दुमती पर वह आ पड़ी। माला का स्पर्श होते ही इन्दुमती भूमि पर गिर पड़ी। उसके हाथ-पैर सुन्न हो गए, शरीर अकड़ गया, मुखश्री म्लान हो गई और शीघ्र ही उसके प्राण-पखेरू उड़ गए। राजा अज को सहसा कुछ सूझ न पड़ा। यह क्या हुआ? उसने माला को देखा, वह भारी नहीं थी। सूंघा, विषैली नहीं थी। फिर क्या हुआ? रानी को स्पर्श किया, अरे, वह तो मुर्दा थी। राजा विकल हो गया, जैसे सर्प से उसकी मणि छिन गई हो। राजमन्त्रियों को पता लगा और बात की बात में सारा अयोध्या शोक-सागर में डूब गया। राजा इतना अधीर हुआ कि उसका सम्पूर्ण विवेक नष्ट हो गया। उसने आज्ञा दी—"रानी के दाह-संस्कार के साथ ही हमारा शरीर भी जला दिया जाय।" जिससे मनुष्य को सच्चा और प्रगाढ़ प्रेम होता है, उसका वियोग सहन नहीं होता। वियोग सहन हो जाय, तो जानो वहाँ प्रेम पूर्ण नहीं, अपूर्ण था। राजा अज को सभी मन्त्रियों ने समझाया। उनसे कहा गया—आप जैसे धर्मात्मा राजा के अन्त से सारे राज्य में चोर-डाकुओं के उपद्रव हो जायँगे। दशरथ अभी बारह वर्ष के बालक ही हैं। आपके न रहने से राज्य में सर्वत्र अशांति व्याप जायगी। जनता अनाथ हो जायगी। इस प्रकार समझाने पर भी राजा न माना। तब मन्त्रियों ने दूसरे विवाह का सुझाव भी विवश होकर दिया। पर राजा ने कहा—"उसके जैसी रूपवती और गुणवती दूसरी कोई नहीं हो सकती। मुझे तो उसके साथ ही जला देना।" राजा का ऐसा हठ देखकर मन्त्रियों ने गुरु वशिष्ठ के पास सन्देश भिजवाया। गुरु वशिष्ठ उस समय एक सकाम अनुष्ठान कर रहे थे। ४२ दिन का वह अनुष्ठान था और अभी उसमें तीन-चार दिन और शेष थे। राजा का सम्पूर्ण समाचार सुना तो वशिष्ठ-जी चिंता में पड़ गए। जाते हैं तो अनुष्ठान का सारा फल नष्ट हो जाता है, नहीं जाते हैं तो राजा मर जायेगा। अतः उन्होंने

सोच-विचार के बाद-निश्चय किया कि "अपने शिष्य को भेज दें और अपना उपदेश उसी के साथ भिजवा देना चाहिए।" अतः उन्होंने महाराजा अज को उपदेश लिखकर भेज दिया। गुरु वसिष्ठ के शिष्य का आगमन सुन राजा अज ने उनका खड़े होकर स्वागत किया और उनके आने का कारण पूछा। शिष्य ने कहा—"गुरु-जी एक अनुष्ठान में लगे हैं। उसके समाप्त होने पर वह आयेंगे। उन्होंने आपके प्रति कुछ उपदेश किया है। वही मैं लेकर आया हूँ।" शिष्य ने बताया :—

स्व शरीर शरीरिणा वुभौ
श्रुत संयोग विपर्ययौ यदा।
विरहः किमिवानुतापयेद्
वद बाह्यैर्विषयैर्विपश्चितम् ॥१॥
मरणं प्रकृतिः शरीरिणां
विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः
क्षणमप्यवतिष्ठतेश्वसन्
यदिजन्तुर्ननुलाभवानसौ ॥२॥
न पृथग्जनवच्छुचोवशं
यमिनामुत्तमगन्तुमर्हसि।
द्रुमसानुमतां किमन्तरं
यदि वायावुभयेऽपिचंचलाः ॥३॥

अर्थात्, "हे राजन्! इस जीव का संसार में सब से पहला और प्रिय सम्बन्धी है शरीर। शरीर से सम्बन्ध होने पर ही इसका माता-पिता, भाई-बहन से सम्बन्ध हुआ। और फिर इसी प्रकार पत्नी से सम्बन्ध हुआ। आगे यही पिता बन जाता है। अपने शरीर से प्रिय किसी और को यह कभी नहीं समझता। इसकी रक्षा के लिए सदैव सावधान रहता है। तनिक से रोग के लिए हजारों रुपये खर्च कर डालता है। पर यह शरीर सदा नहीं रहता।

नियम है, जितना संग्रह है, वह क्षय पर्यन्त है, एक दिन समाप्त होगा, उन्नति का परिणाम है पतन, जो चढ़ा है, वह एक दिन गिरेगा भी। और जिसका संयोग होता है, उसका वियोग भी होगा। जिसने जन्म लिया है, उसका मरण भी होगा। आत्मा का शरीर से संयोग होता है, तो वियोग भी होता है। शरीर ने जन्म लिया है तो वह मरेगा भी। भगवान् कहते हैं :—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।२।१८॥

और—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्यच।
तस्मात् परिहार्येर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।२।२७॥

इसलिए विवेकी पुरुष शरीर के नाश होने पर शोक नहीं करते। भगवान् ने यह भी बताया—

अशोच्या नन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे
गतासून गतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः। २।१२।

दूसरी बात है कि शरीर का धर्म है मरण। जीवन तो उसकी एक विकृति है। यदि आपने किसी को १००) उधार दिए और वह ब्याज सहित आपको वापस मिल गए—अब चाहे ब्याज १) मिलता है चाहे १५) तो आपको संतुष्ट ही होना चाहिए, क्योंकि मूल तो मिल ही गया। इसी प्रकार मरण शरीर का प्राकृतिक धर्म है। मूलधन के समान मृत्यु है और जीवन है ब्याज की तरह। यदि एक वर्ष आयु मिले तो भी सन्तोष, १०० वर्ष आयु मिले तो भी सन्तोष ही होना चाहिए। रानी तो आपके साथ ४०-५० वर्ष तक रही। फिर शोक क्यों ? रूप में आसक्ति तो अविवेकी की होती है। दीपक जलता थोड़ा है, बुझा ज्यादा रहता है। इसी प्रकार जीवन कम है, मृत्यु अधिक है। और तीसरी बात यह है कि आप विचारशील, सत्संगी, धर्मात्मा माने जाते हैं। आपने हमारा,

वशिष्ठ जैसे का सत्संग किया है। लेकिन भेड़-बकरी चराने वाला, जो सत्संग जानता नहीं क्या होता है, जो पशु प्रायः है, बहिर्मुख है, वह बकरी के मरने पर रोता है और कहता है—मैं इसी के साथ मरूँगा—तो आप में और बकरी वाले में क्या अन्तर ? लोग कहेंगे—वशिष्ठ का सत्संग करके भी इसे विवेक नहीं हुआ। अतः राजन् ! हमारी लज्जा को रखते हुए ही मरने का निश्चय बदलो। तुम शास्त्र-चिन्तन करने वाले हो, उसका तुम पर क्या इतना ही प्रभाव हुआ ? रोना तो अज्ञानी के लिए है। आत्मवेत्ता को शोक क्यों होना चाहिए ? शास्त्र कहता है, अविवेकी को दिन में सैकड़ों भय होते हैं, हजारों शोक होते हैं, पण्डित को नहीं। पण्डित को न तो वियोग से शोक है, न संयोग से हर्ष है। प्रिय-अप्रिय की प्राप्ति से उसमें राग-द्वेष नहीं आता। विवेकी को रोना शोभा नहीं देता। विवेकीजन विलाप करने लगें तो पहाड़ और वृक्ष में क्या अन्तर ? आँधी में वृक्ष विचल हो जाता है, कई गिर भी पड़ते हैं, लेकिन पहाड़ कभी गिरते नहीं। पहाड़ नदी में कट-कटकर गिरने लगें तो भूमि पर त्राहि-त्राहि मच जाय। जिनका विवेक कच्चा है, वह आँधी में वृक्ष के समान ही गिर जाते हैं, विचल हो जाते हैं। पर विवेकी पर्वत की तरह अचल रहता है। तत्ववेत्ता शोक नहीं करता। आपने शोक किया तो आपको ज्ञानी कौन कहेगा ? इस प्रकार वशिष्ठ के सारपूर्ण उपदेश से राजा का विवेक जाग गया, जैसे राख से दबी अग्नि को किसी ने कुरेद कर थोड़ा ईंधन रख सुलगा दिया हो। राजा निःशोक हो गया और रानी का दाह संस्कार करवा दिया। वास्तव में विवेकी जन शरीर से सम्बन्ध छूटने पर शोक को प्राप्त नहीं होते। शोक किसी अपूर्व घटना के घटने पर होता है। सबके साथ ही मरना लगा है, किसी के साथ विशेष रूप से मरना नहीं जुड़ा है। अतः यदि अपूर्व घटना हो, जिससे दुःख होता हो, उसी

पर पश्चात्ताप एवं शोक हो सकता है। एक बार एक वृद्धा जिसके एकलौते पुत्र को मृत्यु ने संसार से उठा लिया था, महात्मा बुद्ध के पास गई। वह रोने लगी—"मेरी आशा, मेरे स्वप्नों का महल, जीवन का दीपक सब कुछ यही पुत्र था। इसे आप जिला दो। वरना मैं भी यहीं सिर पटककर मर जाऊँगी।" बुद्ध ने शान्त चित्त हो उसकी बात सुनी। धैर्य की वाणी में वह बोले—"वृद्धा! अधीर मत हो। तेरा पुत्र जी सकता है। एक शर्त है लेकिन—"

वृद्धा को जैसे डूबते-डूबते तट मिल गया हो। उत्सुकतावश बोली—"वह क्या है तथागत्?"

"तू सात चूल्हों की मिट्टी ला दे। यह चूल्हे उन घरों के हों, जहाँ किसी की मृत्यु न हुई हो।"

वृद्धा ने सोचा यह तो बड़ी सरल बात है। वह सात चूल्हों की खोज में निकली। पड़ौसी के यहाँ पहुँची। बोली, "तुम्हारे यहाँ किसी की मृत्यु न हुई हो तो मुझे अपने चूल्हे की मिट्टी दे दो।" सुनकर पड़ौसी हँसा, कहने लगा—"बुढ़िया! मेरा दादा मर चुका है, मेरा एक पुत्र भी मृत्यु को प्राप्त हुआ है। मेरी चाची भी काल का ग्रास बन चुकी है।" अस्तु। बुढ़िया ने नगरी का एक-एक घर छान मारा। सात की बात ही क्या, उसे एक भी चूल्हा ऐसा नहीं मिला जहाँ कोई मरा न हो। अतः जब वह लौटी तो बुद्ध ने उससे कहा, "जब सब के यहाँ ही कोई-न-कोई मरा है, तब तू क्यों शोक करती है? तेरा घर बैकुण्ठ तो नहीं!" इस पर वृद्धा को कुछ सन्तोष मिला। तो शोक वहीं होना चाहिए जहाँ कोई असामान्य अपूर्व दुःखपूर्ण घटना घटी हो। जिस तरह हम मकान अथवा कपड़ा बदलते हुए शोक नहीं करते, इसी प्रकार आत्मा के शरीर बदलने पर भी शोक नहीं करना चाहिये। जिस प्रकार किसी बड़े कार्यालय में काम करने वाले सेवक को स्वामी कभी किसी शाखा में नियुक्त करता है, कभी किसी शाखा में, तो उस कर्मचारी को

कोई आग्रह नहीं होता कि मैं तो यही रहूँगा। उसे जाना पड़ता है। इसी तरह आत्मा अपने स्वामी परमात्मा अथवा शुभाशुभ कर्मों से निर्मित प्रारब्ध से बँधा हुआ शरीर बदलता है। जब ऐसा नियम है तो शरीर के वियोग से शोक नहीं होना चाहिए। जब अपने शरीर के वियोग से शोक नहीं, तो इस शरीर से जिनका सम्बन्ध है, उनके शरीरांत पर शोक, विलाप क्यों? वह तो अपने शरीर की अपेक्षा दूर की वस्तु हुई। इसलिए जगधर भट्ट ने लिखा है :—

जात्यान्धः पथि संकटे प्रावि चरन्
हस्तावलम्बं विना।
यताश्चे वटे निपत्य विपदं
तत्रापराधो स्पकः॥
धिग्धिङ्मांसतिशास्त्र चक्षुषिसति
प्रज्ञा प्रदीपे सति।
स्निग्धे स्वामिनि मार्ग दर्शिनि सति
श्वभ्रे पतत्येवयः॥ (स्तुति कुसुमांजलिः)

अर्थात् जो जन्म से अंधा है, जिसे नया टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता मिला है और उस रास्ते में जिसका कोई मार्ग-दर्शक, सहायक भी नहीं है, वह यदि मार्ग में गढ़े में गिर कर मर जाय अथवा पंगु हो जाय तो उसका क्या अपराध? लेकिन, धिक्कार है, उसे जिसके पास शास्त्र के नेत्र हैं, प्रज्ञा का दीपक है, गुरु जैसे मार्ग-दर्शक हैं और फिर भी जो पतन के गढ़े में गिरता है, अविद्या की ओर झुकता है। वह तो मूर्ख है, अज्ञानी है। इसी प्रकार भर्तृहरि ने कहा है :—

अजानन्माहात्म्यं पततु शलभो दीपदहने।
स मीनोऽप्यज्ञानाद् बडिशयुतमश्नातु पिशितम्॥

विजानन्तोऽप्येते वयमिह विपज्जाल जटितान्न ।

मुंचामः कामान हह ! गहनो मोह महिमा ॥

अर्थात् अग्नि के माहात्म्य को न जानकर भस्म हो जाय और मछली अनजाने अर्थात् यह न जानकर कि मांस के खाने से कंठ में काँटा लगेगा, वंशी में लगे मांस को खाले, पर देखो कि जान-बूझ कर विपत्ति के जाल में फंसे हुए भी हम काम को नहीं छोड़ते। अहो ! मोह की महिमा कैसी प्रवल है।"

तो इसलिए हमें अविवेकी का सा व्यवहार छोड़कर विवेक की शरण में जाना चाहिए। जिसने अविवेक का आश्रय लिया है, वह सदाचार, धर्म और ईश्वर के मार्ग में आरूढ़ नहीं हो सकता। उसे अज्ञान के गर्त में ही पड़े रहकर दुःख भोगना होगा। अतः वास्तविक, शाश्वत सुख चाहने वाले को विवेक का ही पल्ला पकड़ना चाहिए। विवेक पर दृढ़ता से आरूढ़ होने वाला साधक ही परब्रह्म के मार्ग में आगे बढ़ता है।

---

## आत्मा की असंगता

श्रुति ने ब्रह्म के सर्वप्रकाशकत्व का निरूपण करते हुए कहा है—"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं, नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।" अर्थात् उस परब्रह्म को न तो सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्र, न तारे; बेचारी अग्नि की तो बात ही क्या ? वस्तुतः यह सब तो उसी से प्रकाशित हैं। इससे हमें "त्वं" पदार्थ के शोधन का निर्देश मिलता है। ऐसी वेदान्त की प्रक्रिया है। वेद का अर्थ है, ज्ञान और वेदान्त से अभिप्रेत है, ज्ञान की समाप्ति।

इसी सम्बन्ध में श्रुति में प्रश्न भी उठा—"कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति।" ऐसी वह कौनसी एक वस्तु है, जिसके ज्ञान से सबका ज्ञान हो जाता है ? वही वस्तु वेदान्त ने बताई है, वह है परब्रह्म का ज्ञान। अद्वैत ब्रह्म का ज्ञान, परिपूर्ण परमात्मा का ज्ञान है। उसका ज्ञान होने पर अन्य किसी वस्तु के ज्ञान की अपेक्षा नहीं रह जाती। भगवान् ने गीता में बताया :—

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥२।४६॥

अर्थात् जैसे मनुष्य का सब ओर से परिपूर्ण जलाशय को प्राप्त कर छोटे जलाशयों में कोई प्रयोजन नहीं रह जाता, वैसे ही ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हो जाने पर आनन्द के लिए वेदों की आवश्यकता नहीं रहती। अच्छी प्रकार ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर ब्राह्मण का और सब वेदों में क्या प्रयोजन ? वस्तुतः वेदों को पढ़ने वाला, ग्रन्थों का मनन करने वाला ही ब्राह्मण नहीं। ब्राह्मण कौन ? असली ब्राह्मण तो वह है जो पुत्र, धन और लोक की ईषणा को छोड़कर चाहे भीख पर जीवित रहे, पर अपने स्वरूप का, आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने की जिसमें उत्कट इच्छा हो, पुरुषार्थ हो। मनु ने कहा है :—

वेदमेव सदाभ्यास्येत्तपस्तप्स्यन्द्विजोत्तमः।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥ २।१६६ ॥

अर्थात् ब्राह्मण को चाहिए कि वह सदा वेद का अभ्यास करता रहे, क्योंकि इस लोक में वेद का अभ्यास ही ब्राह्मण का बड़ा भारी तप कहा गया है।" जो ब्राह्मण वेद को न पढ़ कर दूसरे विषयों में परिश्रम करता है वह जीते जी कुटुम्ब सहित शीघ्र शूद्र हो जाता है। (१।१६८) इस लिए ब्राह्मण को चाहे संसार भी त्यागना पड़े, पर वह परब्रह्म की प्राप्ति के विषय में प्रमाद को प्राप्त नहीं होना चाहिए। संसार अत्यन्त तुच्छ है, नष्ट होने वाला

है और इसके भोगों में, विषयों में सुख भी नहीं है। यहाँ तो हम लोग भ्रान्ति से अल्प दुःख को ही सुख मान लेते हैं। भर्तृहरि ने एक बार विचार किया कि इस संसार में सुख कहाँ है? मनुष्य की चार अवस्थाएँ मानी जाती हैं। गर्भावस्था, कुमारावस्था, यौवनावस्था और वृद्धावस्था। लेकिन चारों में ही सुख नहीं। उन्होंने बताया :—

कृच्छ्रेणामेध्यमध्ये नियमिततनुभिः स्थीयते गर्भवासे,
कान्ता विश्लेषदुःखव्यतिकरविषमे यौवने चोपभोगः।
नारीणामप्यवज्ञा विलसितनियतं वृद्धभावोऽप्यसाधुः
संसारे रे मनुष्या वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किंचित्॥

अरे मनुष्यो! संसार में यदि लेशमात्र भी सुख हो तो हमें बताओ। हम लोगों को शरीर से जकड़े हुए, हाथ-पैर बाँधकर, टेढ़े-मेढ़े, गरदन-पैर को पेट में सिमेट कर अपवित्र गर्भ में कठिनता से रहना पड़ा। शिशुकाल में मल-मूत्र रूप नरक में पड़े रहना पड़ा। हरएक क्रिया परतंत्र रही। मक्खी-मच्छर उड़ाने में भी असमर्थ। और यौवन में थोड़ा भोग होते हुए भी स्त्री का वियोग, कभी संबंधी का वियोग और कभी धन की हानि सहन करनी पड़ी। वृद्ध हुए तो घर के बेटा-बेटी ही अमित्र मानने लगे, शत्रुवत् व्यवहार करने लगे, नकल चिढ़ाने लगे और कुछ परामर्श भी दें तो "बूढ़े की अक़्ल मारी गई", कहकर अपमान करते हैं। कुमार थे, तब भी यही दशा थी। इसलिए इस संसार में कभी सुख मिलेगा, इसकी आशा करना ही व्यर्थ है। सौ वर्ष की आयु शास्त्र ने निर्धारित की है। इसमें से आधी, ५० वर्ष तो सो कर व्यतीत हो जाती है। आधे में से यानी ५० वर्ष में से २५ वर्ष लड़कपन और बुढ़ापे में जाते हैं और शेष २५ में से रोग में ६-७ वर्ष चले जाते हैं, कुछ वर्ष वियोग सहन करने में और कुछ वर्ष दासता, नौकरी करने में चले जाते हैं। तो बताओ, जल की लहरों

के समान इस चंचल जीवन में मनुष्य को सुख कहाँ से मिल सकता है ? भर्तृहरि ने लिखा है—

आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्धं गतं
तस्यार्द्धस्य परस्य चार्द्धमपरं बालत्ववृद्धत्वयोः ।
शेषं व्याधिवियोगदुःखसहितं सेवादिभिर्नीयते
जीवे वारितरंगचंचलतरे सौख्यं कुतः प्राणिनाम् ॥

तो इसलिए असली सुख तो अपने स्वरूप में स्थित होने में है, ब्रह्म के चिन्तन में है। हमारी आयु लहर के समान चंचल है। यौवन की चमक-दमक भी थोड़े ही दिन रहने वाली है, और जिस प्रकार मन का संकल्प क्षणिक होता है, उसी प्रकार धन भी सदा नहीं रहता, और वर्षा-काल में बादलों के बीच चमकने वाली विद्युत जैसी अस्थिर और क्षणिक है उसी तरह भोग का प्रवाह है, प्रिया के गले से मिलकर आलिंगन करने का सुख भी चिरकाल तक रहने वाला नहीं है; इसलिए संसार के भयरूपी समुद्र को पार करने के लिए ब्रह्म में चित्त लगाना ही बुद्धिमता है:—

आयुः कल्लोललोलं कतिपय दिवस स्थायिनी यौवन-
श्रीरर्थाः संकल्पकल्पा घनसमयतडिद्विभ्रमा भोगपूराः ।
कण्ठाश्लेषोपगूढं तदपि च न चिरं यत्प्रियाभिः प्रणीतं
ब्रह्मण्यासक्तचित्ता भवत भवभयाम्भोमिपारं तरीतुम ॥

इसलिए यह शरीर रूपी नौका पाकर हमें संसार समुद्र का वह किनारा पाना है, जहाँ परब्रह्म स्थित है, जहाँ परमधाम की शान्ति है। ब्रह्म अर्थात् परिपूर्ण आत्मा में ही मन को लगाना चाहिए। अभिमानवश होकर अविवेकी की तरह मनसूबे नहीं बाँधने चाहिएँ। बादल में जैसे बिजली चमकती है और छिप जाती है, इसी प्रकार विषय क्षणमात्र के लिए आते हैं और चले जाते हैं। मनुष्य मंसूबे बाँधा करता है कि मैं धनी हो जाऊँगा,

कुटुम्बी हो जाऊँगा, उस शत्रु को मारा, उसको भी मारूंगा आदि। भगवान् बताते हैं :—

> असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
> ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥
> आढ्योऽभिजनवानास्मि कोऽन्योस्ति सदृशोमया।
> यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१६।१४।१५॥

इस प्रकार अज्ञान के वश हुआ मनुष्य मनोरथ करता है कि मैं ईश्वर और ऐश्वर्य को भोगने वाला हूँ, मैं सब सिद्धियों से युक्त, बलवान और सुखी हूँ। मैं बड़ा धनवान और कुटुम्ब वाला हूँ। मेरे समान दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूंगा, दान देऊँगा, हर्ष को प्राप्त होऊँगा। इत्यादि। पर यह मनुष्य भूल जाता है कि सुख इस संसार में नहीं है। मूर्ख नहीं जानता कि लक्ष्मी के जो यह छत्र और चंवर ढुल रहे हैं, वे तो ३-४ दिन के हैं। "है बहारे बाग दुनिया चंद रोज़।" माया, मोह, ममता में फंस कर भगवान् को भूल जाना बुद्धिमानी नहीं। हमें समझना चाहिए कि संसार का कोई पदार्थ हमारे लिए उपादेय नहीं। देखो! मरणकाल में पहले तो घरवाले ही तलाशी ले लेते हैं, फिर शमशान में ही तलाशी ली जाती है और अकेले को लकड़ियों के हवाले कर दिया जाता है। सारा जीवन माया के फेर में नष्ट हो जाता है। मायाजनित विषयों में रमण करते हुए जीवन निर्वाह करना जीवन का सच्चा लक्ष्य नहीं। जीवन का ध्येय तो भगवान् की प्राप्ति है। शास्त्र ने उनकी निन्दा की है जो सर्वथा संसार परायण हैं, उनकी निन्दा नहीं की गई जो संसार का सारा व्यवहार करते हुए भी भगवान् का स्मरण करते हैं। भगवत्परायण की नाव तो कभी-न-कभी किनारे लग ही जाती है; क्योंकि उसने भगवान् की ओर लक्ष्य किया है।

ब्रह्म-चिन्तन से ब्रह्म का ज्ञान होता है। ब्रह्मवेत्ता को ब्रह्म-सुख मिले तो उसके लिए और सारे सुख फीके पड़ जाते हैं। ज्ञान होने

पर वेद की भी समाप्ति हो जाती है। वेद ने कर्म और उपासना का मार्ग बताया। शास्त्र विहित कर्म से स्वर्ग और इस लोक के सुख प्राप्त होते हैं और उपासना का फल होता है देवताओं के लोकों की प्राप्ति। लेकिन ज्ञान का फल इससे बढ़कर है। अद्वैत ज्ञान को बताने वाले वेदान्त के कुछ महावाक्य हैं। जैसे 'तत्त्वंअसि' सर्वं खल्विदं ब्रह्म (छान्दोग्य ३।१४।१) विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (बृहदारण्यक० ३।६।२८) सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। (तैत्तरीय) अहम् ब्रह्मासि और अयमात्मा ब्रह्म। तो इन महावाक्यों से पता चलता है कि ईश्वर और जीवात्मा एक है। अर्थ-विचार वाक्य-ज्ञान से और वाक्य-ज्ञान पद-ज्ञान से होता है। ये महान वस्तु को बताते हैं, इसलिए महावाक्य हैं। तो "तत्" ईश्वर को बताता है और "त्वं" से जीव का निरूपण हुआ है और "असि" इन्हें एक बता रहा है। शंका होती है, जीव परिच्छिन्न है, जन्म-मरण वाला है, कर्ता-भोक्ता है, विकारी है, सुख-दुख अनुभव करने वाला है और ईश्वर निर्विकार, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, नित्य, ज्ञानस्वरूप, आनन्दमय, एक रस, अविचल है। यह दोनों एक कैसे? यहीं शास्त्र ने पदार्थ शोधन की आवश्यकता बताई। हम वस्तुतः जीवात्मा के स्वरूप को नहीं जानते, इसीलिए यह शंका होती है। जीव क्या है? क्या यह शरीर ही जीव है? ऐसी बात नहीं। शरीर तो पाँच कोश वाली एक म्यान है, जिसमें यह सुखरूप आत्मा विराजमान है। "हिरण्यमय परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्"—पाँच कोश हैं—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञान-मय और आनन्दमय। यह स्थूल शरीर अन्नमय कोश है, अन्न से बना, माता-पिता ने अन्न खाया, उससे यह उत्पन्न हुआ। अन्न खाकर ही बढ़ा और मर कर भी अग्नि का अन्न बन गया। गाढ़ दिया गया तो पृथ्वी का अन्न बना, बहाया गया तो जलचरों का अन्न बना। प्राणमय कोश बना है पाँच प्राण—प्राण, अपान, समान,

उदान, व्यान और पाँच कर्मेन्द्रियों से। इसी से यह शरीर क्रिया करता है, ये ज्ञान में सहायक नहीं। पाँच ज्ञानेन्द्रियों—नेत्र, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वचा सहित मनको ही मनोमय कोश बताया है। इसी से ज्ञान होता है। चौथा कोश है विज्ञानमय कोश, जो पाँच ज्ञानेन्द्रियों और बुद्धि को लेकर बना है। अन्तिम है, आनन्दमय कोश जिसे कारण कोश भी कहा। इससे आनन्द की अनुभूति होती रहती है। जाग्रत में भी इसके तीन रूप प्रिय, प्रमोद और मोद देखने में आते हैं। जब हमें किसी अनुकूल पदार्थ के प्राप्त होने की संभावना पर सुख प्रतीत होता है तो वह "प्रिय" है। मानलो किसी से सौ रुपए प्राप्त होने की आशा है तो हमें सुख होता है, लेकिन उससे बढ़कर सुख तब होता है जब रुपया हमें सचमुच मिल जाता है। इस धन की प्राप्ति पर हुआ सुख ही "मोद" कहा जाता है और जिस कार्य के लिए हमने धन लिया, उसे पूरा करने पर हमें जो सुख होता है, उसी का नाम है प्रमोद। इसी तरह सुषुप्ति में भी ब्रह्मानन्द में लीन होने जैसा आनन्द होता है, पर वहाँ अज्ञान का पर्दा पड़ा हुआ है। यह कार्य है आनन्दमय कोश का। इन्हीं पाँच कोशों में छिपा है, वह आत्मा। जिससे क्रिया हो रही है, ज्ञान हो रहा है, विचार हो रहा है, स्थिति प्रतीत हो रही है, वही पाँच कोशों से परे आत्मा है। पाँच कोश आत्मा नहीं, वह तो आत्मा को ढकने वाले पर्दे हैं। रेशम के कीड़ों के चारों तरफ़ जो रेशम का गोला लिपट जाता है—वह भी कोश कहलाता है। तो वह कीड़ा अपने चारों ओर एक ही कोश होने से विनाश को प्राप्त होता है। रेशम की गोली को उबलते पानी में डाल देते हैं और वह मर जाता है। [लेकिन पहले उस कीड़े के मुँह से निकलने वाले जल से ही उस रेशम की गेंद का मुँह खोल देते थे, जिससे वह कीड़ा मरता नहीं था, जीवित ही उड़ जाता था।] इसलिए जो इन पाँच कोशों को ही

सब कुछ समझ बैठा है, वह रेशम के कीड़े की तरह मारा जाता है। लेकिन गुरु कृपा से युक्ति जानकर इन कोशों से निवृत्त होने वाला परब्रह्म को पा लेता है। जिसने ऐसा सोच लिया है कि मैं स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरवाला हूँ, वह अपना विनाश स्वयं बुलाता है। इसीलिए श्रुति शोधन करती है कि वह आत्मा तो ज्योतियों का ज्योति है, सबका प्रकाशक है। हमारे शरीर में दर्द होता है, उसे शरीर नहीं जानता, शरीर नहीं बोलता कि मैं दर्द से मर रहा हूँ। पर हम जानते हैं कि मेरी टाँग में, मेरे पेट में या सिर में दर्द है। इसी तरह हम कहते हैं—मेरा मन भारी है, प्रसन्न है आदि। इसी प्रकार यह भी बताते हैं कि "मेरी बुद्धि काम नहीं देती।" आदि। शरीर आदि जड़ हैं, फिर दर्द कौन बताता है। यही सबको प्रकाशित करने वाला आत्मा है। यह हुआ "त्वं" पदार्थ का शोधन। श्रुति ने उसे और स्पष्ट किया। कहा—न तत्र सूर्योभाति अर्थात् उसे सूर्य द्वारा नहीं देखा जा सकता। सूर्य यहाँ नेत्रेन्द्रिय को लक्ष करके कहा गया। यह ज्ञानेन्द्रियाँ पंच महाभूतों के सत्व अंश को लेकर बनी है। पंच महाभूत माया के संग के उत्पन्न हुए हैं, इसलिए त्रिगुणात्मक हैं। तो अग्नि, तेज का सत्व गुण लेकर चक्षु इन्द्रियाँ बनीं, पृथ्वी का सत्व अंश लेकर घ्राण वायु का सत्व अंश लेकर स्पर्श, जल का सत्व अंश लेकर रसना और आकाश का सत्व अंश लेकर श्रोत्र इन्द्रिय बनी हैं। तो कहा, नेत्रों का वह विषय नहीं; क्योंकि यह ज्ञानेन्द्रियाँ तो उसी वस्तु को ग्रहण कर सकती हैं जो रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द वाली हो। श्रुति कहती है, ब्रह्म ऐसा नहीं :—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न
विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि।
इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे॥ (केन० १।३)

अर्थात् उस ब्रह्म तक न तो चक्षु आदि सब ज्ञानेन्द्रियाँ पहुँच सकतीं न वाक्-इन्द्रिय आदि कर्मेन्द्रियाँ पहुँच सकतीं, न मन, अन्तःकरण ही। उस अलौकिक दिव्य तत्व तक पहुँचने की शक्ति इनमें नहीं। बल्कि इनमें जो चेतना और क्रिया प्रतीत होती है, यह उसी ब्रह्म की प्रेरणा और उसकी ही शक्ति से होती है। इसलिए मन-इन्द्रियों से कोई कैसे बतलाये कि वह ब्रह्म 'एसा' है। इस प्रकार ब्रह्मतत्व के उपदेश का कोई तरीका न तो हमने किसी से सुना-समझा है, और न हम अपनी बुद्धि के विचार से समझ रहे हैं। हमने तो जिन महापुरुषों से इस गूढ़ तत्व को प्राप्त किया है, उनसे यही सुना कि वह परब्रह्म वेद्य और अवेद्य दोनों से भिन्न है। तो नेत्र को यहाँ सूर्य से बताया और 'चन्द्र' से मन का संकेत किया, अग्नि से 'वाक्' आदि कर्मेन्द्रियों को बताया और 'विद्युत' से बुद्धि को कहा, एवं 'तारकः' से अन्य इन्द्रियों का संकेत हुआ। इस प्रकार वह परब्रह्म इन्द्रियातीत है। उसे इन्द्रियों से तब जाना जाय जब कि उसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द हो। वह तो इनसे सर्वथा असंग है। श्रुति बता रही है :—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥
(कठ० १।३।१९)

अर्थात् जो शब्द रहित, स्पर्श रहित, रूप रहित और बिना गन्ध वाला है तथा जो अनित्य, अविनाशी, असीम, महान् आत्मा से श्रेष्ठ सर्वथा सत्व तत्व है, उस परमात्मा को जानकर मनुष्य मृत्यु के मुख से छूट जाता है। इसलिए सच्चे साधक को उसी परब्रह्म का ज्ञान सिद्ध करना है। वह आत्मा संचालन करने वाला प्रेरक और अन्तर्यामी है। साथ ही असंग भी है। इन्द्रियों से सम्बन्ध होने पर ही उसका और विषयों का संग प्रतीत होता

है, जो मिथ्या है। बाहरी वस्तुओं का, विषयों का प्रतिबिम्ब पड़ता है इन्द्रियों पर। और इन्द्रियों पर प्रतिबिम्ब पड़ रहा है आत्मा का, क्योंकि आत्मा तो प्रकाशमूलक है, उसी की चेतना से इन्द्रियाँ सक्रिय हैं। इसी संयोग को भगवान् ने गीता में योगमाया कहा। जगत् से अपनी असंगता बताते हुए वह कहते हैं—मुझ सच्चिदानन्द घन परमात्मा से यह जगत् जल से बर्फ के सदृश परिपूर्ण है और सब जगत मेरे अन्तर्गत संकल्प के आधार स्थित हैं, इसलिए मैं उसमें स्थित नहीं। (९।४) और आगे भगवान् ने कहा—

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ९।५ ॥

अर्थात् वे सब भूत मेरे में स्थित नहीं हैं, किन्तु मेरी योगमाया और प्रभाव को देख कि भूतों को उत्पन्न करने वाला, धारण और पोषण करने वाला होते हुए भी मेरा आत्मा वास्तव में भूतों में स्थित नहीं है।

इसी प्रकार श्रुति ने और भी स्पष्ट कहा है :—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥
(कठ० २।२।११)

जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड का प्रकाशक सूर्य देवता लोगों की आँखों से होने वाले बाहर के दोषों से लिप्त नहीं होता, लोग उसी के प्रकाश की सहायता से गुणदोषमय कर्म करते हैं; परन्तु सूर्य उनके नेत्रों द्वारा किए जाने वाले कमरूपी-दोष से लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार सब के अन्तर्यामी परमात्मा पुरुषोत्तम एक हैं, उन्हीं की शक्ति से शक्तियुक्त होकर मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा मनुष्य नाना प्रकार कर्म करते हैं, और उनका सुख-दुःख रूपी

फल भोगते हैं, पर परमेश्वर उनके कर्मों और दुःखों से लिप्त नहीं होते; क्योंकि वह सब में रहते हुए भी सबसे पृथक् और असंग है। तो इससे सिद्ध होता है कि नेत्रादि इन्द्रियों से परब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि वह उसी के प्रकाश से प्रकाशित हैं। उस ज्योतियों की ज्योति को, जो सबको प्रकाश देने वाली है, उपनिषद् की सहायता से "त्वं" पदार्थ का शोधन करके ही जाना जा सकता है। और संक्षेप से कहें तो संसार, सांसारिक पदार्थों एवं विषयों और समस्त द्वैत प्रपंच में मिथ्यात्व दर्शन ही "त्वं" पदार्थ का शोधन है।

---

## अपना ज्ञान होने पर ही परमात्मा का ज्ञान

आत्मा को श्रुति ने पाँच कोशों से परे बताया है। माया में फँसा हुआ जीव उसे शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि रूप ही मान बैठा है। इसका परिणाम क्या होता है, कि वह अपने स्वरूप का सही ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाता और बार-बार जन्म-मरण के चक्कर में घूमता रहता है। मनुष्य का कल्याण ब्रह्मज्ञान से ही हो सकता है। उसका ज्ञान होने पर वह अविद्या के पाश से सर्वथा मुक्त हो जाता है। उस आत्मा के स्वरूप को जान लेने से इसके सारे कर्म-क्षीण हो जाते हैं और वह पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता।

भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिनदृष्टे परावरे ॥ ( मुन्डक० २।२।८)

उस कारणकार्य रूप ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने पर इस जीव की हृदयग्रंथि छूट जाती है, सारे संशय नष्ट हो जाते हैं

अर्थात् यह पुरुष मुक्त हो जाता है। तो इस जीव को अपने उस स्वरूप को पहचानना है जो ज्योतियों का भी ज्योति है। जो सब को प्रकाश देने वाला है। जो स्वयं चेतन है और जिससे सूर्य, चन्द्र, तारे आदि सभी भौतिक ज्योतियाँ प्रकाशित हैं। उस आत्मा की ज्योति, चेतनता, ज्ञानरूप है। वह ही अपनी चेतना से सम्पूर्ण जड़ वर्ग को ज्योतित कर रहा है। उस परिपूर्ण ब्रह्म के ऐसे स्वरूप को जानकर ही जीव संसार से मुक्त हो सकता है। इससे एक बात और भी सिद्ध होती है। जो वस्तु किसी के प्रकाश से प्रकाशित होती है, वह किसी अन्य को प्रकाशित नहीं कर सकती, क्योंकि वह स्वयं जड़ है। पंचभूत का कार्य होने पर सूर्य आदि भी जड़ ही हैं, वह उसी ज्योतिमान् की ज्योति लेकर दूसरों को प्रकाशित करते हैं, अपनी ज्योति से नहीं। इसका कारण है। कर्ता और करण दो अलग चीजें हैं। करण साधन है, वह कर्ता नहीं हो सकता। जैसे तलवार स्वयं नहीं चलती, कोई उसे चलाता है। तलवार, गाड़ी और कुल्हाड़ी करण हैं और उन्हें क्रमशः चलाने वाला, दौड़ाने वाला और प्रहार करने वाला "कर्ता" है। करण अपने आप में जड़ है। कर्ता या चेतन के संयोग से उसमें क्रिया देखी जाती है। इसलिए चेतन का संबंध हुए बिना जड़ नहीं चल सकता। उसमें कोई जीवन दिखाई नहीं देगा।

इसी प्रकार हमारी इन्द्रियाँ भी पंच महाभूतों का कार्य होने से जड़ हैं। जड़ होने के कारण हमारे नेत्र, श्रोत्र, घ्राण, रसना, त्वचा, मन, बुद्धि, हाथ, पैर इत्यादि स्वयं किसी कार्य में प्रवृत्त होने की योग्यता नहीं रखते। लेकिन इन सब में हम क्रिया, चेतनता देखते हैं? यह आत्मा ही की चेतनता है। समस्त इन्द्रियों का प्रवर्तक होते हुए भी वह इनसे भिन्न है, असंग है; क्योंकि कर्ता करण नहीं हो सकता और करण कर्ता नहीं हो सकता। खड़्ग और आदमी दो अलग चीजें हैं। कुल्हाड़ी और

लकड़हारा अलग-अलग। इन्द्रियाँ भी इसी प्रकार करण हैं, कर्ता नहीं। इनका प्रेरक है आत्मा, चेतन स्वरूप। शास्त्र कहता है पहले अपने को जानो, फिर परमात्मा को। कारण, परमात्मा दूर की वस्तु है और आत्मा अत्यन्त समीप है। द्रष्टव्य आत्मा के विज्ञान से पहले यदि साधक प्रमाता (आत्मदर्शन से पहले की स्थिति) को सही रूप में जानले, तो समझो उसने परमात्मा को जान लिया।

अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात्प्राक्प्रमातृत्वमात्मनः।
अन्विष्टः स्यात्प्रमातैव पाप्मदोषादि वर्जितः॥

और हमें शरीर रहते ही यदि ब्रह्मज्ञान हो गया तो ही हमारा जीवन सफल हुआ समझना चाहिए। श्रुति कहती है:—

इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक्शरीरस्य विस्रसः।
ततः सर्वेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते॥ (कठ० २।३।४)

अर्थात् यदि शरीर का पतन होने से पहले-पहले इस मनुष्य शरीर में ही साधक ने परमात्मा का साक्षात् कर लिया तब तो ठीक है, अथवा अनेक कल्पों तक इसे नाना योनियों और लोकों में शरीर धारण करने के लिए विवश होना पड़ता है। और अति-मंद मुमुक्षु की तो वस्तुतः यही दशा होती है।

मुमुक्षु के चार प्रकार बताए हैं।[1] (१) तीव्र या उत्तम मुमुक्षु,

१. तापैस्त्रिभिर्नित्यमनेकरूपैः संतप्यमानः क्षुभितांतरात्मा
परिग्रहं सर्वमनर्थ बुद्ध्या जहाति सा तीव्रतरा मुमुक्षा॥
तापत्रयं तीव्रमवेक्ष्य वस्तुं दृष्ट्वा कलत्रं तनयान्विहातुम्।
मध्ये द्वयोर्लोडनमात्मनो यत्सैषा मतामाध्यमिकी मुमुक्षा।
मोक्षस्य कालोऽस्ति किमद्य मे त्वरा मुक्त्वैव भोगान्कृत सर्व कार्यैः
मुक्त्यै यतिष्येऽहमथेति बुद्धिरेषैव मंदा कथिता मुमुक्षा
मार्गे प्रयातुर्मणिलाभवन्मे लभयेत मोक्षो यदि तर्हि धन्यः।
इत्याशया मूढ़ धियां मतिर्या सैषातिमन्दाभिमता मुमुक्षा॥

(२) मध्यम मुमुक्षु, (३) मंद मुमुक्षु और (४) अति मंद मुमुक्षु। तीव्र या उत्तम मुमुक्षु तो वह जो आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक, तीनों प्रकार के तापों से पीड़ित, २४ घण्टों, केवल नींद का कुछ समय छोड़कर-दुःख-ही-दुःख से पीड़ित होते हुए भी संसार को अनित्य समझकर, बंधन का हेतु मानकर ईश्वर-परायण हो जाय। भागवत् भजन करे, सत्संग करे, कल्याण के लिए तप करे। शत्रु जैसे पकड़कर पीटता है, उसी प्रकार रोग हमें मार रहे हैं। एक-एक ताप सैकड़ों-हजारों प्रकार का है। इसलिए इस संसार से विमुख हो उत्तम मुमुक्षु ईश्वरपरायण होता है। भर्तृहरि ने लिखा है—

तस्मादनन्तमजरं परमं विकासि
तद् ब्रह्म चिन्तय किमेभिरलद्विकल्पैः।
यस्यानुषङ्गिण इमे भुवनाधिपत्यं
भोगादयः कृपणलोकमता भवन्ति॥

अर्थात् असत् विकल्पों से क्या प्रयोजन है। देहादि अहंकार को त्याग ब्रह्म का चिंतन करो। मूर्खजनों को भ्रम में डालने वाले भुवनाधिपत्य, भोग, विलास उसी ब्रह्म के आश्रित हैं अर्थात् जिन लोगों ने ब्रह्म का लेशमात्र भी आनन्द पाया है, उनके निकट त्रिभुवन के राजाओं का भोग विलास निःसार देख पड़ता है। अतः अनन्त, अजर सर्वोत्तम शोक रहित ब्रह्म का चिन्तन करो। तो तीव्र मुमुक्षु का ऐसा ही दृष्टिकोण रहता है। और मध्यम मुमुक्षु की ऐसी स्थिति बताई है कि वह तीनों तापों से पीड़ित हुआ संसार से विमुख होकर ईश्वरपरायण होने की सोचता तो है, पर मायिक पदार्थों के स्नेह को वह नहीं जीत पाता। सोचता है, मेरे पीछे पत्नी, संतान, मकान, व्यापारादि का क्या होगा। इस प्रकार वह ईश्वर-मार्ग में अग्रसर होने का निश्चय नहीं कर पाता। तीसरा है, मंद मुमुक्षु। वह सोचता है, ईश्वर-स्वरूप को

जानने की अभी जल्दी क्या है ? अभी तो हमारा बुढ़ापा दूर है। बेटे-बेटियों का विवाह हो जाय, पोता-पोती का मुँह देखलें फिर देखी जायगी ब्रह्म-चिंतन को। अभी फुर्सत नहीं। मोक्ष तो नित्य शुद्ध, एकरस, सर्वज्ञ और सर्वत्र है, जब चाहेंगे तब बुढ़ापे में प्राप्त कर लेंगे। इसके बाद है, अतिमंद मुमुक्षु। उसका दृष्टिकोण है प्रमादपूर्ण। वह सोचता है, संसार के कार्य-व्यवहार, भोग में कोई व्यवधान नहीं आना चाहिए। इसी प्रकार संसार के चलते-चलते अनायास बिना परिश्रम, पुरुषार्थ के मुक्ति मिल गई तो ठीक है। हाथ-पैर हिलाने की आवश्यकता नहीं। तो शास्त्र ने इन चारों प्रकार के मुमुक्षुओं का फल भी बताया है। लिखा है, उत्तम साधक तो इसी जन्म में मुक्त हो सकता है, मध्यम मुमुक्षु जन्मान्तरों में मोक्ष पा लेगा, और मन्द मुमुक्षु कहीं कल्पनान्तरों में मुक्त हो सकेगा, लेकिन अतिमन्द मुमुक्षु तो कल्पों में भी ब्रह्म को प्राप्त नहीं हो सकता; क्योंकि वह तो शरीर को ही सब कुछ समझ बैठा है।

तो हमें इसी जन्म में ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। उत्तम मुमुक्षु बनना चाहिए। और उत्तम मुमुक्षु बनेगा वह जो इस इन्द्रिय-शरीर आदि की जड़ता एवं आत्मा, ब्रह्म की चेतनता, और उसके सर्व प्रकाशकत्व का सही रहस्य जान लेगा। मुमुक्षु ने यदि पहले अपने अपने को जान लिया, तो फिर परमात्मा को जानने में देर नहीं लगती। अपने आत्मा के ज्ञान में और परमात्मा के ज्ञान में अन्तर नहीं।

एक बार स्वामी रामतीर्थ इंग्लैण्ड गए। वहाँ तो उन दिनों नास्तिकवाद का बड़ा प्रचार था और यह सिद्ध थे, ब्रह्म में स्थिति हो चुकी थी, आत्मा का ज्ञान कर चुके थे। इसलिए इन्होंने इंग्लैण्ड पहुँचकर वहाँ की परम्परा के अनुसार पत्रों में विज्ञापन

दे दिया कि "जो कोई ईश्वर का साक्षात्कार करना चाहे, वह हम से मिले।" अब क्या था! इनके यहाँ लोगों की भीड़ लग गई। बड़े-बड़े प्रतिष्ठित व्यक्ति आते और इनके उपदेशों से लाभ उठाते। वहाँ एक घोर नास्तिक व्यक्ति था। उसने सदैव ईश्वर की सत्ता को चुनौती दी थी। उन नास्तिकों का तर्क होता है कि कोई भी वस्तु बिना इच्छा के नहीं बनती, बनाने वाले का उद्देश्य होना चाहिये, उसके बैठने की जगह होनी चाहिए। कुम्हार जो वस्तुबनाता है उसका उपादान कारण मिट्टी है, अन्य साधनों में चाक, धागा, पानी, डंडा आदि भी हैं। इसी प्रकार यदि ईश्वर ने पृथ्वी, आकाशादि बनाये तो क्यों? उसकी ऐसी इच्छा क्यों हुई? कहाँ बैठकर बनाये? उपादान कारण क्या था? इसलिए ईश्वर कुछ नहीं! शिव महिम्न स्तोत्र में आता है:—

किमीहः किं कायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनं।
किमाधरो धाता सृजति किमुपादान इति च।
(अतर्क्यैश्वर्ये त्वय्यनवसरदुःस्थो हतधियः
कुतर्कोऽयं कांश्चिन्मुखरयतिमोहाय जगतः॥)

तो ऐसे एक नास्तिक को ईश्वर का साक्षात् दर्शन हो तो इससे बढ़कर और क्या बात हो सकती है। लेकिन उन महाशय ने सोचा—हमारी आयु तो ईश्वर का खण्डन करते-करते बीती जा रही है, अब हम ईश्वर-दर्शन की इच्छा लेकर एक भारतीय लँगोटी धरने वाले संन्यासी के पास जाएँगे, तो हमारी लोक-हँसाई होगी। इसलिए एकांत में चुपचाप मिलना चाहिए। अतः उन्होंने स्वामी रामतीर्थ को फोन किया और रविवार के दिन रात्रि ८ बजे के बाद का समय ले लिया। दोनों की भेंट हुई। वह नास्तिक उनका विज्ञापन दिखाकर बोला—'मैं ईश्वर-दर्शन का अभिलाषी हूँ।"

स्वामी रामतीर्थ ने समझाया—"देखो भाई, किसी व्यक्ति से मिलने के दो ही उपाय हो सकते हैं। या तो तुम स्वयं उसके पास जाओ अथवा उसको अपने पास बुलाओ। बोलो, तुम क्या चाहते हो ?"

अब वह नास्तिक तनिक चिंता में पड़ गया। सोचने लगा—पता नहीं यह संन्यासी उस ईश्वर का ठिकाना कहाँ बतादे, वहाँ हमारी मोटर जा पाये या नहीं। उसके देश में हमारी आवश्यकता की वस्तुएँ मिलें या न मिलें। वह हमारी भाषा समझें न समझे—यहाँ तो दुभाषिए मिल जायेंगे, वहाँ की कौन जाने ! इस प्रकार संशयग्रस्त होने पर उसने यह निर्णय किया—"उसे यहीं बुलाया जाय तो उत्तम।" अतः स्वामीजी से बोला—"कृपा कर उस ईश्वर को यहीं बुलवालें।"

अब स्वामी जी को चतुराई से काम लेना पड़ा। बोले—"अच्छा, यहीं बुलवा देंगे। अपने घर का पता दो।" नास्तिक ने बताया—"अमुक बाजार, अमुक गली और अमुक नंबर के मकान में चौथी मंजिल में मैं रहता हूँ।"

स्वामीजी कहने लगे—"भाई, यह तो तुमने अपने शरीर का पता बताया है। तुम कहाँ रहते हो, वहाँ का पता दो।" यह सुनकर वह नास्तिक उलझन में पड़ गया। स्वामीजी आगे बोले—"जब तुम मेरा घोड़ा, मेरा कपड़ा या मेरा मकान कहते हो तो बताते हो कि तुम से घोड़ा, कपड़ा और मकान भिन्न हैं। तुम मकान नहीं, तुम घोड़ा नहीं, तुम कपड़ा नहीं। तुम तो इनके स्वामी हो। तो "स्व" "पदार्थ" "स्वामी" से भिन्न हैं। इसी तरह तुम कहते हो मेरा शरीर, मेरी नाक, मेरी आँख, मेरी कमर, मेरी देह इत्यादि। तो यह मेरा कहने वाला भी शरीर आदि से पृथक ही तो हुआ। अब बताओ कि इस शरीर को ईश्वर से मिलाना है, या तुमको ईश्वर से मिलना है ?" नास्तिक का मस्तिष्क

चकरा गया—"तो मैं कौन हूँ ? शरीर और मैं दो वस्तुएँ हैं ! तो क्या इसी तरह मैं और शरीर भी दो वस्तु हैं ?"

"निस्सन्देह"—स्वामीजी बोले—"पहले तुम यही जानो कि तुम इस शरीर से अलग हो। शरीर तुम नहीं। अपना ठीक पता जान लोगे, तो फिर ईश्वर को जाने में देर नहीं होगी।" इस प्रकार वह नास्तिक नित्य-प्रति स्वामीजी का उपदेश सुनने लगा और फलस्वरूप आस्तिक हो गया। उसके सब शिष्यों को इस परिवर्तन पर आश्चर्य हुआ। वह कहने लगा—"अभी तक मुझे कोई गुरु नहीं मिला था। अब गुरु के मिलने से ज्ञान हो गया।" मनुष्य अपने को ही सबसे बुद्धिमान मानता है। ऊँट जैसे पहाड़ को देखे बिना अपने को ही सबसे ऊँचा मानता है। कूपमंडूक कुएँ से बड़ा कोई और जलाशय नहीं मानता। उसे कुएँ से अनन्त कोटि अधिक विस्तार वाले समुद्र का भी पता नहीं लगता। भर्तृहरि ने लिखा है:—

यदा किंचिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवम्
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किंचित्किंचिद् बुधजनसकाशादवगतम्
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदोमेव्यपगतः॥

अर्थात् जब मुझे थोड़ा-सा ज्ञान था तब मैं हाथी की तरह मदान्ध था, और मेरे चित्त में यह गर्व था कि मैं सर्वज्ञ हूँ। परन्तु जब विद्वानों की संगति से मुझे कुछ-कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ तब मेरा मद ज्वर के समान उतर गया और मुझे ज्ञान हुआ कि मैं मूर्ख हूँ।

इसलिए ऐसी मूर्खता को छोड़कर हमें भी इस आत्मा को शरीर से अलग निश्चय करना चाहिए। इस विषय में उत्पन्न संशयों की निवृत्ति शास्त्रों के पठन-पाठन से नहीं, सत्संग से दूर होगी। मानसकार ने कहा है—जब कुछ काल करिअ सत्संगा।

तब होवहिं सब संशय भंगा। भगवान् ने गीता में कहा है:—"अनेकजन्मसंसिद्धिस्ततो याति परां गतिम् ॥६।४५। एक-दो दिन के प्रयत्न से नहीं, अनेकों जन्मों के प्रयत्न से ही उस परमगति की प्राप्ति होती है। अन्यत्र भी भगवान् ने बताया—

> बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
> वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥७।१६॥

इसलिए नित्यप्रति के आयास से, सत्संग से यह जान पड़ेगा कि "मैं कौन हूँ। मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है?" इन मन, वाणी, शरीर आदि को तब आत्मा से अलग देखने की योग्यता आ सकेगी। एक बार हम अन्तर्मुख होकर देखें तो पता लगेगा कि वह अन्तर्यामी हृदयस्थ होकर भी शरीर से अलग है। उसे इसी प्रकार समझना, जानना है। श्रुति कह रही है:—

> अंगुष्ठमात्रः पुरुषोन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
> तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुन्जादिवेषीकां धैर्येण।
> तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥ (कठ० २।३।१७)

अर्थात् सबका अन्तर्यामी अंगुष्ठ-मात्र परिमाणवाला परम पुरुष सदैव मनुष्यों के हृदय में भलीभाँति प्रविष्ट है, तो भी मनुष्य उनकी ओर देखता तक नहीं। साधक को चाहिए, उस परब्रह्म को शरीर और मन-प्राणादि से उसी प्रकार विलक्षण समझे जैसे साधारण लोग मूँज से सींक को पृथक् देखते हैं। जिस प्रकार मूँज में रहने वाली सींक मूँज से विलक्षण और पृथक् है, इसी प्रकार वह शरीरस्थ आत्मा शरीरादि से भिन्न है। धैर्यवान् उसी को विशुद्ध अमृत करके जानते हैं। वही विशुद्ध अमृत है।

धीर वही है जो संसारी पदार्थों के आकर्षण से मोहित नहीं होता। संसारी पदार्थों से होने वाली आय, सुख यहीं रह जाता है। लेकिन भगवत्-भजन में लगे रहने से ऐसी पूँजी हाथ लगती

है, जो मरणोत्तर काल में भी साथ जाती है। भजन-सतसंग का फल हमसे सगे-सम्बन्धी भी बाँट नहीं सकते। जो धीर नहीं है वह सांसारिक विषयों में २४ घण्टे रमा रहता है और धीर परमार्थ-साधन में लगा रहता है। वस्तुतः धीर पुरुष ही उस परब्रह्म को जानता है। श्रुति ने बताया :—

एकोवशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुख शाश्वतं नेतरेषाम् ॥
कठ० (२।२।१२)

अर्थात् जो एक, सबको अपने अधीन रखने वाला और सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा अपने एकरूप को ही अनेक प्रकार से कर लेता है, अपनी बुद्धि में स्थित उस आत्मदेव को जो धीर पुरुष देखते हैं, उन्हीं को नित्य सुख प्राप्त होता है, औरों को नहीं। तो ऐसा नित्य सुख प्राप्त करने वाला धीर पुरुष व्यवहार एवं कर्तव्य तक ही अपनी आसक्ति रखता है, अहंता, ममता, मोह और अविद्या से वह ग्रसित नहीं होता। इनके मिथ्यात्व को जानकर वह अपनी आत्मा को अलग देख लेता है। यहीं सांख्य योग चरितार्थ हो जाता है। इससे यही सिद्ध होता है कि आत्मा शरीर और इन्द्रियों से अलग है। विकार का साक्षी है, स्वयं विकारी नहीं। वह स्वयंप्रकाश, ज्योतिरूप और दिव्य है। उसे श्रुति ने मन, श्रोत्रादि का भी कारण बताया है:—

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचँ स उ प्राणस्य प्राणः।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।
(केन० २)

अर्थात् जो मन का मन अर्थात् कारण है, जो प्राण का प्राण, वाक् इन्द्रिय का वाक्, श्रोत्रेन्द्रिय का श्रोत्र और चक्षु-इन्द्रिय का चक्षु है, वह ही इन सबका प्रेरक परमात्मा है। ज्ञानी जन उसे

जानकर जीवन्मुक्त हो जाते हैं और मृत्यु के अनन्तर जन्म-मृत्यु से रहित अमरपद पा जाते हैं।

इसलिए मुमुक्षु को चाहिए कि शरीरादि से पृथक् रहने वाली अपनी उस आत्मा को जाने जिसके प्रकाश से नेत्र रूप को, श्रोत्र शब्द को, रसना रस को, घ्राण गंध को और त्वचा स्पर्श को ग्रहण कर रही है। उस चेतन स्वरूप आत्मा के विना तो यह शरीर मुर्दा है। उसके अभाव में आँख खुली है तो खुली रह जायगी, मुँह फटा है तो फटा रह जायेगा और शरीर काष्ठवत् पड़ा रह जायगा। उसी आत्मा को जन्मने-मरनेवाले शरीर से अलग जान कर हमें अपने स्वरूप का निर्णय करना चाहिए। स्वरूप का ज्ञान होने पर ईश्वर का ज्ञान होने में देरी नहीं।

---

## जीवात्मा का स्वरूप

आत्म-अनात्म पदार्थ का विवेक करने के लिए हमें 'त्वं' पदार्थ का शोधन करना चाहिए। 'त्वं' पदार्थ का शोधन और 'अहम्' पदार्थ का शोधन एक ही अर्थ रखते हैं। त्वं" और "अहम्" दोनों उस वस्तु को बता रहे हैं, जो ब्रह्म हो सके। 'अहम्' अर्थात् 'मैं' का स्वरूप ठीक-ठीक जान लेना ही, 'अहम्' पदार्थ का शोधन है। 'तो' 'अहम्' ब्रह्म से एकता की संभावना को बता रहा है। 'अर्थात्' 'मैं' कौन इसका ही निर्णय करना है। 'मैं' शरीर हूँ, मन हूँ, अथवा प्राण, इन्द्रिय आदि हूँ या कौन हूँ ? इस संघात में 'मैं' किसे कहें ? मन इन्द्रियादि से परे है वह 'मैं', अथवा शरीरादि को ही 'मैं' मान लें। इसका

निर्णय करने के लिए 'मैं' का स्वरूप जानना होगा। स्वरूप उसे कहते हैं, जो परिवर्तनशील न हो। जो बदले नहीं। जल जैसे कभी उष्ण होता है, कभी शीतल है। और उष्ण होता है तो शीघ्र ही पुनः शीतल हो जाता है। तो उष्णता जल का स्वरूप नहीं। इसके विपरीत अग्नि सदैव उष्ण है, उसमें शीतलता नहीं। तो उष्णता अग्नि का स्वरूप है। कोई भी वैज्ञानिक, शास्त्रज्ञ, विद्वान् इसे बदल नहीं सकता। तो उष्णता अग्नि का स्वरूप हुआ। अब इस ओर देखें। आत्मा का स्वरूप क्या है? क्या शरीर को आत्मा मान लें? हम देखते हैं कि शरीर परिवर्तनशील है, बदलता है और नष्ट भी हो जाता है। हमसे जुदा हो जाता है। अतः शरीर का परिवर्तनशील होना सिद्ध होता है। उसका एक ही रूप में रहे आना, अनुभवविरुद्ध बात है। बालपन में यह शरीर छोटा होता है और युवावस्था में बड़ा हृष्ट-पुष्ट, चमक-दमक वाला और स्फूर्ति से भरपूर रहता है और वृद्धावस्था में इसकी चमड़ी सिकुड़ जाती है, क्षीण और कृश हो जाता है, दाँत टूट जाते हैं, चलना-फिरना भी लकड़ी के सहारे होता है। लेकिन अपने शरीर में हम इतना परिवर्तन देखते हुए आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं देखते। हमें युवावस्था में स्मरण होता है कि बालपन में किस स्कूल में पढ़ते थे, कौन मास्टर हमें पढ़ाते थे, किन-किन के साथ हम खेलते थे, कैसे छोटे-छोटे जूते और वस्त्रादि पहनते थे। इसी प्रकार वृद्धावस्था में पहुँचकर तरुणाई के दिन याद आते हैं। विवाह, गृहस्थ, बाल-बच्चे नौकरी, हानि-लाभ, संग-कुसंग सब याद आते हैं। नियम ऐसा है कि जो अनुभव होता है, वही स्मरण भी करता है। ऐसा कदापि नहीं होता कि हमें अनुभव हो और उसका स्मरण कोई दूसरा ही व्यक्ति करे। तो इससे सिद्ध होता है कि जो आत्मा बालपन में है, वही कुमारावस्था में है और वही युवा एवं वृद्धावस्था में है। मरणोत्तर काल में भी वही आत्मा (लिंग शरीर) जाता है।

भगवान् ने गीता में बताया—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ २। १३॥

जैसे कुमार, युवा और जरा अवस्था रूप स्थूल शरीर का आत्मा में भासता है, वैसे ही एक शरीर से दूसरे शरीर में प्राप्त होना रूप सूक्ष्म शरीर का विकार भी अज्ञान से आत्मा में भासता है। इसलिए धीर पुरुष इस विषय में मोहित नहीं होते। तो इससे सिद्ध होता है कि आत्मा तो शरीर की सभी अवस्थाओं में एक है, उसमें परिवर्तन नहीं है। शरीर की तरह वह षट्विकार वाला कदापि नहीं। आत्मा को भी शरीर की तरह परिवर्तनशील अथवा देह को ही आत्मा मान लें, तो दो महान् दोष सामने आते हैं। एक तो कृत-नाश और दूसरा अकृतागम।

कृत-नाश तो यह कि कर्म बिना फल दिये ही नष्ट हो जायँ। लेकिन कर्म का नाश तभी होता है जबकि ब्रह्मज्ञान हो जाय या पाप कर्म करके कोई प्रायश्चित् कर लिया जाय। भगवान् ने कहा—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥४।३७

अर्थात् ज्ञान रूपी अग्नि ही सब कर्मों को भस्म करने में समर्थ है, अन्यथा करोड़ों कल्प बीतने पर भी कर्म बिना फल दिये नष्ट नहीं होते। कर्म का स्वभाव है फल देना, चाहे लाखों वर्ष बीत जायँ। सांसारिक बीज की तरह कर्म नहीं कि कुछ वर्ष पड़े रहने पर उसमें अंकुर न फूटे। कर्म तो अपना फल अवश्य देगा। लेकिन शरीर को आत्मा मान लें तो यह शास्त्रीय विधान गलत सिद्ध होगा। सारे कर्मकाण्ड को यह निष्फल सिद्ध कर देगा। शरीर के साथ ही आत्मा का नाश मान लें तो फिर कर्मों का भोग भोगने के लिए कोई रह ही नहीं जाता। दूसरा

दोप बताया अकृतागम अथात् जो कर्म किया नहीं उसका फल सामने आ जाय। जब आत्मा को शरीर के साथ जन्मने-मरने वाला मान लिया, तो नया बालक उत्पन्न होते ही सुख-दु:ख क्यों पाने लगता है। या तो सब सुख ही पायें या दुःख ही पायें। तो नये बालक ने उत्पन्न होते ही जब कोई पाप पुण्यमय कर्म नहीं किये तो फिर उसे सुख-दुःख रूप फल किन कर्मों का मिलेगा? इस प्रकार शरीर को आत्मा मान लेने पर यह अकृतागम दोष भी होगा। इसलिए आत्मा को जन्मने-मरने वाला अथवा शरीर नहीं मान सकते। आत्मा तो—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं
भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२।१८

यह आत्मा न तो मरता है, न जन्मता है और न यह आत्मा होकर फिर होने वाला है। यह तो अजन्मा, अनित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीर के नाश होने पर भी यह नाश को प्राप्त नहीं होता। साथ ही यह बात भी समझनी चाहिए कि आत्मा का ऐसा स्वरूप होने पर भी उसको मिलने वाले सम्पूर्ण शरीर नाशवान हैं :—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥२।१८

इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्य स्वरूप जीवात्मा को प्राप्त होने वाले यह सब शरीर नाशवान कहे गए हैं। (इसलिए, हे अर्जुन! तू युद्ध कर।)

वेद कहता है—स्वर्ग के लिए कर्म करो। यदि आत्मा को शरीर के साथ जन्मने-मरने वाला मान लें तो शरीर के मुर्दा होने

पर स्वर्ग कौन जायगा ? क्योंकि आत्मा तो उसके साथ मर गया। वैदिक शास्त्र शरीर को अनित्य और आत्मा को नित्य मानता है। कोई भी नैयायिक, वैशेषिक, दार्शनिक, सांख्यवादी इत्यादि आस्तिकवाद को मानने वाला आत्मा को देहवत् अनित्य नहीं मानता। तो यह देह से जो अलग आत्मा है, वह कैसा है ? उसका स्वरूप क्या है ? किसी भी वस्तु को जान लेने के लिए प्रमाण और युक्ति की आवश्यकता होती है। तो श्रुति ने इस आत्मा के स्वरूप का निर्देश करने के लिए–"न तत्र सूर्यो भाति न चंद्र तारकम्" आदि वाक्यों द्वारा प्रमाण प्रस्तुत किये। अब शास्त्र युक्ति भी प्रस्तुत करता है। यदि शरीर और आत्मा को एक मान लें तो इसका यह अर्थ होगा कि शरीर है तो आत्मा है, शरीर नहीं तो आत्मा भी नहीं है, लेकिन हम सुषुप्ति में शरीर का कोई अनुभव नहीं करते, जागकर कहते हैं कि "बड़े सुख से सोये।" इससे सिद्ध होता है कि शरीर तो सो गया, लेकिन जिसने यह बताया जागने पर कि बड़े सुख से सोये, वह तब भी जाग रहा था, जब कि शरीर सोता था। इस प्रकार शरीर और जीवात्मा पृथक्-पृथक् जानने चाहिएँ। स्वप्न में भी हम दो शरीर देखते हैं। मान लो स्वप्न में हमने हाथी पर सवारी की अथवा हरिद्वार में हर की पेड़ी पर स्नान किया। जाग्रत में आने पर इस स्वप्न को हम बताते हैं। तो जो शरीर चारपाई पर अचेतप्रायः पड़ा है, वह तो हर की पेड़ी पर स्नान करने नहीं गया, उसके वस्त्र सूखे हैं, शरीर सूखा है। इसी तरह हाथी भी उस चारपाई पर अथवा शयनकक्ष में आते-जाते किसी ने नहीं देखा। तो प्रकट हुआ कि स्वप्न का शरीर जाग्रत में नहीं और जाग्रत का शरीर स्वप्न में नहीं। परन्तु, आत्मा दोनों में एक है। स्वप्न में मान लो इस शरीर से फल काटा, असावधानी से अँगुली कट गई। खून बहने लगा। घबराहट हुई तो जाग गया। देखा तो अँगुलियाँ सब साबित हैं, खून कहीं देखने को भी नहीं।

तो इस प्रकार स्वप्न, सुषुप्ति और जाग्रत के तीन शरीर अलग-अलग प्रतीत होते हैं, फिर भी आत्मा एक है। इसे अलग देखने, पहचानने में ही धोखा हो जाता है। मान लो, एक रंगीन गिलास है। उसका काँच लाल है। उसमें शुद्ध, निर्मल गंगा-जल भरा है। दूर से उस गिलास को देखने वाला सही नहीं बता सकता कि गिलास का काँच लाल है, अथवा उसमें रखा गया शरबत लाल है। तो यह भ्रम विवेक से दूर होगा। गिलास और शरबत के रूप को पृथक्-पृथक् जान लेने से ही भ्रान्ति दूर होगी। इसी तरह आत्म-अनात्म का विवेक करना होगा। जाग्रत अवस्था में जीवात्मा और शरीरादि इस प्रकार एक-दूसरे में ओत-प्रोत दिखाई देते हैं कि उनका निर्णय करना कठिन होता है। हमें भ्रम होता है कि देखने वाला, सुनने वाला, सूँघने वाला, स्पर्श करने वाला सही शरीर है। लेकिन सुषुप्ति में भी तो यही शरीर होता है। वहाँ यह देखने वाला नहीं, सुनने वाला नहीं, इसमें कोई चेष्टा नहीं। वहाँ वह शरीर जड़वत् है। तो इस सारे जड़वत्-प्रपंच को प्रकाशित करने वाला है, आत्मा। इस प्रपंच में आत्मा की ज्योति को पहचानने वाले के कोई मोह, ममता नहीं रह जाते। और शरीर में मोह-ममता है, तो इसे दुःख अनुभव होता है।

कथा आती है, एक सुयज्ञ नाम का राजा था। युद्ध करते-करते वह रणस्थल में मारा गया। रत्नजटित कवच खण्ड-खण्ड हो गया, आभूषण टूटकर गिर पड़े, बाणों से उसका हृदय छलनी हो गया था, वह रक्त से लथ-पथ था, जिन केशों में सुगन्धित तेल-फुलेल लगाये जाते थे, वही धूल से सने इधर-उधर बिखर गए थे, नेत्रों की आकृति भी बदल गई। ऐसा चेहरा हो गया कि देखने वाला भी डरे। ऐसा वीभत्स दृश्य था। तलवार भी आधी टूटी हुई उसके हाथ में रह गई। क्रोध था शत्रु पर, इसलिए ओठ दाँतों से दबे रह गए। उसके इस प्रकार मरने पर रणस्थल पर

ही उसके सम्बन्धी आ पहुँचे और विलाप करने लगे। राजा सुयज्ञ के मरने का उन्हें इतना दुःख हुआ कि वे सारा कार्य-व्यवहार भूलकर तीन दिन तक निरन्तर रोते रहे। राजा के शरीर से दुर्गन्ध आने लगी। मक्खियाँ भिनभिनाने लगीं और वे रोते रहे। यमराज ने सोचा, "इन्हें समझाना चाहिए। वरन् यह तो विलाप ही करते रहेंगे, शरीर सड़ जायगा।" अन्त में यमराज ने बाल-ब्रह्मचारी का रूप बनाया, दस-बारह वर्ष की अवस्था का। और राजा सुयज्ञ के शरीर को घेरे हुए वे लोग जहाँ मण्डलाकार बैठे रो रहे थे, वहीं उनके बीच में कूदकर वह जा बैठा। राजा के शव की ओर उसने पीठ कर ली और सम्बन्धियों की ओर मुँह करके वह बाल ब्रह्मचारी जोर-जोर से रोने लगा। सम्बन्धियों को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उनका ध्यान बालक की ओर आकर्षित हुआ। कोई विलक्षण बात होने पर ही ध्यान आकर्षित होता है। अतः उन्होंने पूछा—"बालक तुम कौन हो ?"

"मैं रोदन-मण्डल का सदस्य हूँ"—बालक ने उत्तर दिया—"जिनके यहाँ कोई रोने वाला नहीं होता, हमारे मण्डल के सदस्य वहीं जाकर रोते हैं।"

"पर तुम तो राजा के शव की ओर पीठ किये हुए हो। ठीक बताओ तो तुम किसके लिए रो रहे हो ?" सम्बन्धियों ने पूछा।

"मैं तुम्हें रो रहा हूँ !" बालक ने निर्भयता से कहा।

"हमें रो रहे हो !" आश्चर्य से सब एक साथ बोले—"पर हम तो जीवित हैं—हमें रोने से क्या मतलब ?"

ब्रह्मचारी कहने लगा—"तुम राजा सुयज्ञ को रो रहे हो ? और जब तुम मर जाओगे तो तुम्हें भी तो कोई रोयेगा। इसलिए मैं अभी से तुम्हें रो रहा हूँ।"

ऐसी अटपटी बातें सुनकर उन सम्बन्धियों ने रोना बन्द किया और पूछने लगे—"ठीक बताओ, ब्रह्मचारी ! तुम क्यों रो

रहे हो ?"

इस पर ब्रह्मचारी ने प्रश्न किया–"तुम लोग किसे रो रहे हो ? राजा सुयज्ञ के शरीर को या आत्मा को ? अगर शरीर को रो रहे हो तो राजा का शरीर तो तुम्हारे सामने पड़ा है। "लेकिन वह शरीर तो बोलता था, चलता था, देखता था, हँसता था पर इसमें तो कोई ऐसी बात नहीं।" सम्बन्धी बोले। ब्रह्मचारी ने कहा—वह तो दूसरा ही कोई था, जो बोलता था, चलता था, सूँघता था, हँसता था। इसमें अब कोई शक्ति नहीं। उस शक्ति के बिना अब यह दीवार की तरह है। अब इसके सामने कितना भी रोओ, बोलो, यह कुछ नहीं सुनता। वह जो इससे यह सब व्यवहार कराने वाला था, वह तो कर्म-वायु की प्रेरणा से गया। श्रुति कहती है :—

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ (कठ० २।२।७॥)

अर्थात् अपने-अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार और शास्त्र, गुरु, संग, शिक्षा, व्यवसाय आदि द्वारा देखे-सुने भावों के अनुसार निर्मित अन्तःकालीन वासना के अनुसार मरने के पश्चात् कितने ही जीवात्मा तो दूसरा शरीर धारण करने के लिए शुक्र के साथ माता के गर्भ में प्रवेश कर जाते हैं; इनमें जिनके पुण्य-पाप समान होते हैं, वे मनुष्य का, और जिनके पाप अधिक पुण्य कम होते हैं, वे पशु-पक्षी का शरीर धारण करके उत्पन्न होते हैं और कितने ही जिनके पाप अत्यधिक होते हैं, वे स्थावरभाव को प्राप्त होते हैं, अर्थात् वृक्ष, तृण, पर्वत, लता आदि जड़-शरीरों में उत्पन्न होते हैं। दूसरे नाना प्रकार की योनियों में जाने का एक मुख्य कारण संग भी है, अच्छा संग मिलने से शुभकर्म और कुसंग मिलने पर बुरे कर्म होते हैं। गगन चढ़इ रज पवन प्रसंगा। कीचहिं मिलहि नीच जल संगा। तो इसको सुख

दुःख भोगने के लिए ही शरीर धारण करने होते हैं। इसके शरीर धारण करने में अहंता-ममता भी मूल कारण हैं।

उपनिषद् बती रही है:—

स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति ।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः ।
( श्वेत: ५।१२ )

अर्थात् जीवात्मा अपने कर्मों के संस्काररूप गुणों से तथा शरीर के गुणों से युक्त होने के कारण और अहंता-ममता आदि अपने गुणों के वशीभूत होकर स्थूल एवं सूक्ष्म ब्रह्म से रूपों, शरीरों को प्राप्त करता है। उनके संयोग का कारण दूसरा ही यानी कर्मों के अनुसार उसे भिन्न-भिन्न योनियों से जोड़ने वाला दूसरा ही है। तो इस प्रकार ऐसे प्राप्त होने वाले शरीर जड़ हैं और किसी दूसरे की चेतनशक्ति से ही इसमें चेतनता है। यदि शरीर को अज्ञानवश कोई प्राणशक्ति द्वारा संचालित मानता है, तो वह भी भूल करता है। हम सो जाते हैं, तब भी प्राण तो चलता ही रहता है। हमारे पास पड़ी कोई भी वस्तु कोई उठा ले जाय, सोते हुए को कुछ पता नहीं लगता। इससे पता लगता है कि प्राण भी जड़ है। श्रुति कह रही है :—

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥ (कठ० २।२।५)

अर्थात् कोई भी मरणधर्मा प्राणी न तो प्राण से जीता है और न अपान से ही जीता है, किन्तु जिसमें प्राण-अपान दोनों आश्रय पाये हुए हैं, ऐसे किसी दूसरे से ही सब जीते हैं।

शुभाशुभ कर्मों का फल पाने के लिए ही इसे शरीर धारण करना होता है। जिस प्रकार अपराध करने वाले चोर के लिए जेल बनी है, उसे पकड़कर जबरदस्ती जेल में डाल दिया जाता है, तथा वहाँ इसे नाना प्रकार के कष्ट भी दिये जाते हैं। पुलिस का

पहरा भी रहता है, यह भाग भी नहीं सकता; इसी प्रकार जीवात्मा को पुण्य-पापरूपी कर्मों से शरीर की जेल मिली है। शरीर की पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ इसके प्रहरी हैं। जिस प्रकार चोर को सुविधा-नुसार भिन्न-भिन्न जेलों में स्थान्तरित कर दिया जाता है, उसी प्रकार कर्मों की समाप्ति न होने पर इस जीवात्मा को भी दूसरे शरीरों में जाना पड़ता है। चोर को दूसरी जेल में अकेला नहीं भेजा जाता; इसी प्रकार एक स्थूल शरीर से दूसरे में जाने पर इस जीवात्मा के साथ भी प्राण, ज्ञानेन्द्रियाँ आदि प्रहरी रूप में साथ रहते हैं। सजा खत्म होने पर इसे जेल से छोड़ा जाता है, तो इसके साथ कोई पहरेदार नहीं होता, इसी प्रकार कर्मों की समाप्ति पर यह भी प्राण-मन इन्द्रियों का उत्क्रमण कर जाता है। तो कहने का भाव यह है कि इस जीवात्मा को कर्मों के अनुसार ही नाना योनियों में शरीर प्राप्त होते हैं :—कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसम्प्रपद्यते ॥ श्वेत० ५।११॥ यह जीवात्मा भिन्न-भिन्न लोकों में कर्मानुसार मिलने वाले भिन्न-भिन्न शरीरों को क्रम से बार-बार प्राप्त होता है। जब तक हमारा इन शरीरों में अहंता-ममता का भाव बना रहेगा, तब तक हम कर्मों से जकड़े रहेंगे। जीव की संसार में आकर विपरीत बुद्धि हो गई है। संसार, एवं शास्त्र, महात्माओं और ईश्वर को, जिनसे कल्याण होता है, यह शत्रु मानता है। माया के वशीभूत हुआ, जन्म-मरण के चक्र में पड़ जाता। लेकिन यह सब प्रपंच मिथ्या है। तुलसीदास जी ने बताया है—गो गोचर जहं लगि मन जाई। सो सब जानेहु माया भाई। तो जहाँ इन्द्रियाँ न पहुँचें, बुद्धि न पहुँचे, वह है आत्मा। आत्मा के लिए रोना क्यों ? वह तो सुनता नहीं, क्यों-कि इन्द्रियातीत है। वह तो कर्म के अधीन हुआ, कहीं का कहीं गया। तो इस प्रकार बाल ब्रह्मचारी सुयज्ञ के सम्बन्धियों को उपदेश करता रहा। उसने कहा—यह आत्मा तुमसे प्रेम करता,

तो बोलकर जाता और नहीं तो पता-ठिकाना बताकर जाता। पर ऐसा उसने कुछ नहीं किया। आत्मवेत्ता शरीर के नाश पर शोक नहीं करते; क्योंकि वे परमेश्वर की महिमा समझते हैं :—

अशरीरꣳ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ (कठ० १।२।२२ ॥)

अर्थात् प्राणियों के शरीर अनित्य और विनाशशील हैं, इनमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। इन सब में समभाव से स्थित परब्रह्म पुरुषोत्तम इन शरीरों से सर्वथा रहित, अशरीर है। इसी कारण वह नित्य और अचल है। उस सर्वव्यापी परमात्मा को आत्मरूप करके जान लेने वाले ज्ञानी पुरुष शोक नहीं करते। अतः सुयज्ञ के सम्बन्धियों ने विवेक को प्राप्त हो, उसके शव का अन्तिम संस्कार कर दिया। इस कथा से पता चलता है कि शरीर और आत्मा दो अलग-अलग वस्तुएँ हैं। यदि एक मान लें तो शरीर को भी आत्मा के साथ ही जाना चाहिए। आत्मा शरीर से अलग है, जैसे पक्षी अपने घोंसले से बाहर जाता है और लौट आता है। इसी प्रकार स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों से बाहर जीवात्मा भी जाता है। कभी-कभी जीवितावस्था में भी चला जाता है, जैसे सुषुप्तिकाल में। आत्मा को इस प्रकार शरीर से अलग जानना ही 'अहम्' पदार्थ का शोधन है। शरीर, इन्द्रियादि को शक्ति, प्रेरणा देने वाला आत्मा इन्द्रियातीत है, प्रेरक है। आँखें शरीर को देख सकती हैं, पर आत्मा को नहीं। श्रुति कहती हैः—

आविः संनिहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम् ।
एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं
विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम् ॥ (मुण्डक० २।२।१) ॥

अर्थात् सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ और सर्वव्यापी परमेश्वर प्रकाश-

स्वरूप है। समस्त प्राणियों के अत्यन्त समीप उनकी हृदयरूपी गुहा में छिपे रहने के कारण ही वह गुहाचर नाम से प्रसिद्ध है। जितने भी हिलने-चलने वाले, आँख खोलने-मूँदने वाले और श्वास लेने वाले प्राणी हैं—यही जीवन के तीन चिह्न हैं—उन सब का समुदाय इसी परमेश्वर में स्थित है। यह सत्-असत् अर्थात् कार्य-कारण एवं प्रकट-अप्रकट-सब कुछ है। सबके द्वारा वरण करने योग्य और अतिश्रेष्ठ है और समस्त प्राणियों की बुद्धि से परे है। बृहदारण्यकोपनिषद् में आता है कि यह परब्रह्म चावल के दाने से भी छोटा है फिर भी सबका प्रेरक और अधिपति है। इसी प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी आता है—

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥५।९॥

अर्थात् बाल की नोक के सौवें भाग के पुनः सौ भागों में कल्पना किए जाने पर जो एक भाग होता है वही जीव का स्वरूप समझना चाहिए। और वह असीम भाव वाला होने में भी समर्थ है। इस प्रकार जीवात्मा के स्वरूप का सही ज्ञान होने पर ही हम उसे पंचकोशों से अलग देख सकेंगे। शरीर से भिन्न वह नित्य, प्रकाशस्वरूप, चेतन और सूक्ष्म होते हुए भी महान्-से-महान् है।



# विवेक का फल

श्रुति ने आत्मा का सर्वप्रकाशकत्व बताते हुए आत्म-अनात्म पदार्थों के विवेक, आत्मा के स्वरूप और उसकी असंगता का निरूपण किया है। तो किसी वस्तु का निरूपण करने के लिए तीन चीज़ों पर विचार करना आवश्यक होता है। उसका स्वरूप या लक्षण, उसका हेतु और उसका फल, इन तीन का विवेचन होने पर ही निरूपण को सम्पूर्ण माना जायेगा, अन्यथा नहीं। तो हमें पहले विवेक का लक्षण, हेतु और फल देखना चाहिए। तो आत्म-अनात्म का विवेक करने से हमें पता चला कि सबको प्रकाश देने वाला आत्मा हमारे अन्दर ही है। "अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पशयन्ति यतयः क्षीणदोषाः।" (मुण्डक० ३।१।५) अर्थात् वह ज्योतिर्मय शुभ्र आत्मा शरीर के भीतर ही है और उसे दोषहीन योगिजन देखते हैं। उससे शंका होती है कि वह आत्मा तो बाहर भी है, व्यापक है, सर्वज्ञ है,—"दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।" (मुण्डक० २।१।२) फिर उसे "अन्तः शरीरे" कहकर शरीरस्थ की सीमा में क्यों बाँध दिया ? इसका कारण है। ईश्वर सर्वज्ञ है, व्यापक है, सब कुछ उसी से ओतप्रोत है, फिर भी अपने से बाहर हम उसका दर्शन नहीं कर सकते। हमारी इन्द्रियाँ चूँकि पंचमहाभूत से बनी हैं, इसलिए जड़ हैं, उनसे केवल रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श गुणवाली वस्तु ही ग्रहण की जा सकती है। लेकिन परब्रह्म परमात्मा में यह सब नहीं है। इसीलिए उसे अगोचर कहा, वह इन्द्रियों का विषय नहीं। बाह्य पदार्थ का दर्शन बाह्य ज्ञानेन्द्रियों से सम्भव है और हमारी इन्द्रियों में इतना बल, सामर्थ्य नहीं कि वह उसे सर्वज्ञ, सर्वव्यापक रूप में ग्रहण कर सकें। अतः श्रुति ने मार्गदर्शन

किया, कहा—"अन्तःशरीरे"—अन्दर उसका दर्शन हो सकता है। अन्दर उसका दर्शन करने के लिए इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं। भीतर का शब्द हम कान बन्द करके भी सुन सकते हैं। आँखें मूँदकर भीतर का अन्धकार या ज्योति देखी जा सकती है। यह सर्वविदित और अनुभवसिद्ध है कि इन्द्रियों की सहायता के बिना हमें सुख, दुःख-दर्द आदि की अनुभूति होती है। लेकिन बाह्य पदार्थ और विषय हम इन्द्रियों से ही ग्रहण करते हैं। भगवान् ने गीता में कहा—"ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते। आद्यवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।" ५।२२।। यह इन्द्रियों और विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले भोग, सुखरूप भासते हुए भी दुःख के ही हेतु हैं, आदि अन्त वाले हैं, इसलिए बुद्धिमान् मनुष्य इनमें नहीं रमता। इसलिए इन्द्रियों से ही बाहरी भोग भोगे जाते हैं। अन्दर के पदार्थ इन इन्द्रियों से देखे जाने असम्भव हैं। इसलिए श्रुति ने "अंतः शरीरे" पर बल दिया कि वह परब्रह्म अन्दर है, उसे अन्दर ही पहचानो।

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं
सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च
पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥ (मुण्डक० ३।१।७) ॥

वह महान्, दिव्य और अचिन्त्यरूप है। वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर है तथा दूर से भी दूर और इस शरीर में अत्यन्त समीप भी है। वह चेतनावान् प्राणियों में इस शरीर के भीतर उनकी बुद्धिरूप गुहा में छिपा हुआ है। उसे ज्योतिर्मय कहने में भी श्रुति का यहाँ विशेष अभिप्राय है। एक तो यह कि वह परब्रह्म बाह्य ज्योति का विषय नहीं, दूसरा यह कि वह स्वयं-प्रकाश है। दिव्य

और शुभ्र है, उसमें किसी दूसरे के प्रकाश का मिश्रण नहीं। और आत्मदर्शन के लिए यत्नशील पुरुष, जिनके दोष क्षीण हो गये हैं, वही उसका इस शरीर में दर्शन कर अमरत्व को प्राप्त हो जायँगे। तो इस निश्चय को हम विवेक का स्वरूप कहेंगे। यह विवेक हमें, जैसा पहले बताया, सत्संग, शास्त्र और गुरू द्वारा प्राप्त होगा। यही विवेक के हेतु हैं। और इस विवेक का फल क्या होगा? अनित्य, अनात्म की ओर उपेक्षा भाव उदय हो जायगा। उनमें कोई राग और आसक्ति नहीं रह जायगी, और यह फल साधक को आगे वैराग्य की ओर ले जाता है। सांसारिक पदार्थों में उसकी कोई वासना नहीं रह जाती।

पुराणों में एक कथा आती है। एक कोई ब्राह्मण ऋषि एकान्त वन-प्रदेश में बारह वर्ष से तपस्या कर रहे थे। उनका तप सकाम था। वह सांसारिक पदार्थ, धन, पुत्र, पशु और यश चाहते थे। लेकिन बारह वर्ष के कठिन और निर्दोष तप के बावजूद उन्हें कोई फल अभी तक प्राप्त नहीं हुआ था। एक दिन अकस्मात् उधर से एक विष्णुदूत जा रहा था। उसने सोचा, महात्मा की कुटिया में थोड़ा विश्राम कर लें, तब आगे चलेंगे और वह उस तपस्वी की कुटिया में पहुँच गया। वह ऋषि एक तेजस्वी व्यक्ति को कुटी में आया देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने अतिथि का यथोचित सत्कार किया और उसका परिचय भी प्राप्त किया। जब तपस्वी को यह पता चला कि वह कोई साधारण व्यक्ति नहीं, विष्णुदूत है, तो उसकी प्रसन्नता का कोई ठिकाना नहीं रहा। कहने लगा—"महाराज, मुझे बारह वर्ष तप करते हो गये, पर अभी तक कोई फल नहीं मिला। विष्णु भगवान् से पूछना तो सही कि मेरे तप में क्या त्रुटि रह गई।" तो उस तपस्वी ब्राह्मण का यह संदेश लेकर विष्णुदूत चला गया। कुछ दिन पश्चात् वह सहसा फिर आया और कहने लगा—"ब्राह्मण, चलो

वैकुण्ठ में, भगवान् विष्णु ने तुम्हें बुलाया है।" यह सुनकर वह तपस्वी तो प्रसन्नता से नाच उठा। विष्णुदूत के साथ वैकुण्ठ में पहुँचा। देखा, भगवान् के दरबार में तो बड़ी भीड़ लगी है। सब लोग कुछ-न-कुछ माँग रहे हैं। कोई धन माँग रहा है। कोई पुत्र माँग रहा है, कोई पशु माँग रहा है, कोई मकान माँग रहा है। इसी प्रकार सब सांसारिक वस्तुएँ माँग रहे हैं और भगवान् मुक्तहस्त से लुटा रहे हैं। ऐसा आश्चर्यमय दृश्य देखकर वह तपस्वी उतावला हो आगे बढ़ा। पर विष्णुदूत ने उसे रोक दिया। कहा—"अभी नहीं। यह भीड़ छंट जाने दो। भगवान् तुम से एकान्त में मिलेंगे।" पर वह तो बड़ा अधीर हो उठा। सोचने लगा-भगवान् तो सारा कोष खाली कर बैठेंगे, फिर मुझे क्या मिलेगा ? विष्णु भगवान् अकेले रह गए। तब उस तपस्वी को उन्होंने बुलवाया। वह भगवान् के समीप पहुँचा। देखा तो वहाँ से सब वस्तुएँ बँट चुकी थी। भगवान् अकेले बैठे थे। खाली हाथ। उस तपस्वी के तन में मानो आग लग गई। विष्णुदूत पर उसे मन-ही-मन बड़ा क्रोध आया। भगवान् ने उसे अपने गले से उतार कर एक तुलसी की माला दे दी और माथे पर चंदन लगा दिया। और कुछ भी न देते हुए हाथ जोड़ दिए, कहा-'अब जाओ, हम विश्राम करेंगे।' अब क्या था, दरवाज़ा बन्द करवा दिया गया, उसे बाहर निकाल दिया। वह क्षोभ से जला जा रहा था। वहीं द्वार पर सिर पटक-पटककर रोने लगा। इस तरह रोते-रोते जब उसे एक सप्ताह बीत गया, तो भगवान् ने नारदजी को स्मरण किया। नारद जी पहुँचे। जटिल समस्याओं में वही मार्गदर्शक का रूप लेते हैं। भगवान् ने कहा—'इस भक्त को हमने सब से मूल्यवान वस्तु दी है, यह ठीक समझा नहीं। नारदजी, तुम इसे समझाओ।'

नारदजी उसके पास पहुँचे। बोले, 'क्यों भाई, क्यों रो रहे हो।' इतना पूछना था कि वह तपस्वी नारदजी पर ही बिगड़ खड़ा हुआ। ऐसा नियम है कि जिसके काम में बार-बार विघ्न पड़ा हो उसे कोई छेड़ता है, कुछ पूछता है तो उसी के पीछे पड़ जाता है। हारनेवाले जुआरी को छेड़ने पर भी यही दशा होती है। अस्तु। वह ब्राह्मण कहने लगा, "तुम भी कोई विष्णुदूत हो क्या ? वह विष्णुदूत, जिसने मुझे धोखा दिया, जिसने मुझे भगवान् से पुत्र-धनादि प्राप्त नहीं करने दिये, कहीं मिल जाय तो मारे बिना न छोड़ूँ। देखो १२ वर्ष तक मैंने तप किया, और भगवान् ने फल क्या दिया ? यह डेढ़ पैसे की तुलसी की माला और माथे पर तनिक-सा चंदन लेप दिया और फिर अपमान भी कम नहीं किया। बाहर निकलवा दिया, और द्वार बन्द कर लिया।"

नारदजी यह सब सुनकर मन-ही-मन हँस रहे थे। उसे सांत्वना देते हुए बोले, "तुम्हें भगवान् ने वास्तव में सब से अमूल्य वस्तु दी है। तुम इसका महत्व नहीं जानते। हम तो माँगते रहे तो भी भगवान् ने यह माला हमें नहीं दी। "तपस्वी तो खीझा हुआ था। तपाक् से बोला, "मूल्यवान है तो तुम ले जाओ।"

"समझो भाई"—नारदजी फिर बोले—"यह भगवान् ने तुम्हें भक्ति का चिह्न दिया है। तुम्हें उन्होंने प्रेम-पात्र समझा है। इसका रहस्य जानना चाहते हो तो तनिक अपनी आँखें बन्द करो।

नारदजी का यह वचन सुनकर उस ब्राह्मण ने नेत्र मूँद लिये। आँखें बन्द हुईं तो उसने देखा—एक बहुत बड़ा महल है, उसकी सुन्दरता का वर्णन नहीं हो सकता। उस प्रासाद के विशाल सिंहद्वार पर तीन विशालकाय पहलवान प्रहरी बने खड़े हैं। उस महल के द्वार में भगवान् से सोने की गठरी लाने वाला प्रवेश कर रहा था। उन तीन महाकाय पहलवानों में से एक ने उसे पकड़

लिया। मारा और गठरी छीन ली; अन्त में उसे गहरे अँधेरे गढ़े में धक्का दे दिया। फिर वह व्यक्ति आया जिसने पशु लिये थे। उसे भी इसी प्रकार एक पहलवान ने बुरी तरह पीटा और गहन अंधकारपूर्ण गर्त में गिरा दिया। तत्पश्चात् पुत्र-पौत्र प्राप्त करने वाले व्यक्ति की भी उस तपस्वी ने ऐसी ही दुर्दशा देखी। तपस्वी ब्राह्मण की आँख खुली। उसने नारदजी से प्रश्न किया—"महाराज! यह मैंने क्या देखा? यह सब लोग कहाँ गए? कौनसे गढ़े में इन्हें गिराया गया!" नारदजी बोले—"तपस्वी! यह तुमने जो प्रासाद देखा यह मुक्ति का प्रासाद है और वह तीन पहलवान हैं, काम, क्रोध, लोभ। इन तीनों के कारण ही मनुष्य मुक्ति-पथ पर अग्रसर नहीं हो पाता और मृत्यु का ग्रास बनकर बार-बार जन्म-मरण को प्राप्त होता है। तुमने जिस गढ़े में इन्हें गिरते देखा है, उसे भी दिखाता हूँ। मेरे साथ चलो!" नारद बाबा उस ब्राह्मण तपस्वी को लेकर मर्त्यलोक में जा पहुँचे। पहले उस व्यक्ति के यहाँ पहुँचे जिसको भगवान् ने धन दिया था। धन भी भगवत् कृपा से ही प्राप्त होता है, अपने बल से नहीं। अपने बल से प्राप्त होता हो, तो संसार में सभी धनी हो जायँ। सब उसके लिए ही प्रयत्न करते हैं। तो नारदजी ने उस तपस्वी को दिखाया कि धनवाले के पास असीम कोश है। वह उसकी रक्षा में ही लगा है। इतना अधिक व्यस्त कि न भोजन की परवाह है, न नींद के लिए समय और दिन-रात कृश होता जा रहा है। नारदजी ने पूछा—"भक्त! तुम्हें ऐसा जीवन पसन्द है। देखो, यह धन में इतना आसक्त है कि भगवान् का एक क्षण भर भी स्मरण नहीं करता!" तपस्वी घबरा गया। "नहीं महाराज!" वह बोला—"ऐसा धन मुझे नहीं चाहिए। इसी प्रकार पशु धन प्राप्त करने वाले की दशा देखी। सहस्रों पशुओं से घिरा वह स्वयं भी पशुवत् आचरण करने लगा है। चलते-

एक हाथ से रोटी खा रहा है तो दूसरे से कोई गाय पकड़कर बाँधने ले जा रहा है। कभी दूध कम होने की चिन्ता, कभी चारे की चिन्ता। एक क्षण का भी विश्राम नहीं। तपस्वी को अब नारदजी वहाँ ले गए जहाँ पुत्र-पौत्र माँगने वाला रह रहा था। तपस्वी ने देखा वह व्यक्ति किसी की औषधि लाने की फ़िक्र कर रहा है, किसी के ब्याह की चिन्ता में है, तो किसी कन्या के लिए योग्य वर ही नहीं मिलने से महाःदुखी है। चारों ओर से जकड़ा हुआ है। एक पल को भी भगवान् का स्मरण नहीं। तो सबको ऐसा बहिर्मुख उस तपस्वी ने पाया। विषयों का तो स्वभाव है, एक बार मनुष्य उनकी ओर जाय, फिर तो वह उसे बाँध लेते हैं और भगवान् से विमुख बनाकर छोड़ते हैं। तो नारदजी बोले—"तपस्वी, तुमको तो भगवान् ने सबसे उत्तम वस्तु दी है। माला-चन्दन देकर उन्होंने तुम्हें अपना बना लिया है। माला से तो यमराज के दूत भी डरते हैं। वह मृत्युलोक से किसी को पकड़कर तब ले जाते हैं, जब उसकी अँगुली और गला देख लेते हैं। अँगुली में माला जपने से निशान पड़ जाता है अ गले में माला पड़ी रहती है। इसलिए वह विष्णुभक्त जानकर ऐसे व्यक्ति को नहीं ले जाते। जिसने कभी मन्दिर का मुँह नहीं देखा, सत्संग नहीं किया, भजन नहीं किया, उसे ही यमदूत ले जाते हैं। भगवान् ने तो तुम्हें अपना प्रेम दिया है! अब और माँगने के लिए क्या रह गया।"

भक्ति की महिमा बताते हुए भर्तृहरि ने लिखा है—

भक्तिर्भवे मरणजन्मभयं हृदिस्थं
स्नेहो न बन्धुषु न मन्मथजा विकारा:
संसर्गदोषरहिता विजना वनान्ता
वैराग्यमस्ति किमतः परमर्थनीयम् ॥

अर्थात् यदि शिव में भक्ति हो, हृदय में जन्म-मरण का भय हो, बन्धुजन से स्नेह न हो, मन में कामजनित विकार न हों और संसर्ग दोष से रहित होकर निर्जन वन में निवास हो, तो इससे बढ़कर ईश्वर से माँगने योग्य और कौन सा वैराग्य है ? तो सांसारिक विषयों से सुख की आशा नहीं करनी चाहिए। यह विषय-सुख तो जन्तुमात्र को उपलब्ध है। उनका आनन्द भी उतना ही है, जितना हमें प्राप्त होता है। विषयों की प्राप्ति, साँसारिक पदार्थों को पाना कोई भाग्यवान का चिह्न नहीं है, भाग्यवान तो वह है जिसे भगवान् की भक्ति मिली। वैराग्य को तो ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र भी तरसते हैं। भगवान् से बढ़कर किसी का ऐश्वर्य नहीं, लेकिन उनसे बढ़कर किसी का वैराग्य भी नहीं। उनमें धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य चारों वस्तुएँ सबसे अधिक हैं। तो ऐश्वर्य होते हुए भी उसमें राग, आसक्ति नहीं होनी चाहिए। पुत्र, धन, पत्नी आदि सांसारिक पदार्थों के बिना इस पुरुष का व्यवहार चल नहीं सकता, पर इनमें कर्तव्य-बुद्धि रखनी चाहिए, आसक्ति नहीं, मोह-ममता नहीं। भर्तृहरि ने दूसरी जगह लिखा है:—

तुंग वेश्म सुताः सतामभिमताः संख्यातिगाः सम्पदः
कल्याणी दयिता वयश्च नवमित्यज्ञानमूढो जनः ॥
मत्वा विश्वमनश्वरं विधिशतैः संसारकारागृहे।
संदृश्य क्षणभंगुर तदखिलं धन्यस्तु संन्यस्यति ॥

अर्थात् अज्ञानी मनुष्य ऊँचे घर, प्रिय पुत्र, असंख्य सम्पत्ति, सुन्दर स्त्री और नया यौवन देख भूमण्डल को नित्य जानकर इस संसाररूपी कारागार में प्रवेश करते हैं। लेकिन धन्यपुरुष इन सब को क्षणभंगुर जानकर संन्यास ले लेते हैं।

तो इस प्रकार संसारी पदार्थों को अनित्य जानना ही विवेक का फल है। ईश्वरपरायण व्यक्तियों के पास से यह संसारी

पदार्थ कई बार स्वयं भगवान् हटा लेते हैं। भागवत् में भगवान् ने कहा है, जो मुझसे प्रेम करता है, पहले में उसके प्रिय पदार्थों का हरण कर लेता हूँ। वह सोचते हैं, इस भक्त ने और जगहों से तो मन हटा ही लिया, एक किसी प्रिय वस्तु को सब कुछ मान कर उसमें आसक्त है, इसे भी हटा लो तो यह मेरी ओर लग जायगा। एक बार ऐसा हुआ कि भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन कहीं जा रहे थे। रास्ते में भूख लग आई। एक सेठ के घर पहुँचे। वह था नास्तिक। इन्होंने भोजन माँगा तो उसने फट कार दिया—"दोनों हृष्ट-पुष्ट हो, हाथ-पैर हिलाओ, पुरुपार्थ करो, कमाओ और खाओ।" यहाँ कोई सदाव्रत बंटता है। अर्जुन को ऐसा अपमानजनक उत्तर सुनकर बड़ा क्रोध हुआ। पर भगवान ने कहा—"तेरे अतुल धन-राशि हो। अर्जुन को यह सुनकर और भी क्रोध हुआ। पर भगवान् चुप थे। आगे चले। एक ब्राह्मण का घर आया। भोजन माँगा इन्होंने। उसने बड़े आदरपूर्वक दोनों को आसन दिए। बैठाया और भोजन परोस दिया। अब उसके भी एक गाय थी। वह बार-बार भोजन परोसे और गाय की ओर दौड़ जाय। कभी गाय को चारा डाल आय फिर इन्हें पूरी दे जाय। इसी प्रकार उसने अतिथियों को तृप्त कर दिया। पर गाय की ओर से भी ध्यान नहीं हटाया। भोजनोपरान्त भगवान् बोले—'तेरी गाय मर जाय।' अर्जुन चौंका, ब्राह्मण भी दुःखी हुआ। यह कैसे अतिथि! एक तो भोजन कराया फिर उलटे शाप दे दिया। भगवान् चल पड़े। अर्जुन ने पूछा—"आज आपकी मति तो नहीं मारी गई? जिसने अपमान किया उसे तो वर दे आए, और जिसने आदरपूर्वक भोजन कराया उसे शाप दे दिया!"

भगवान् कहने लगे,'अर्जुन, तुम नहीं समझते। पहला व्यक्ति धन का प्रेमी था, मेरी भक्ति का अधिकारी वह नहीं हो सकता।

इसलिए मैंने उसे और धन दे दिया ताकि वह मेरी ओर ध्यान ही न दे। और ब्राह्मण सत्पात्र था। उसकी गाय में अत्यन्त आसक्ति थी, इसलिए मैंने गाय हटा ली ताकि वह निराश होकर मेरी ओर पूरी तरह से आ जाय।"

तो इससे पता चलता है कि केवल एक ही वस्तु में राग होने से भी मनुष्य भगवान् से विमुख हो सकता है। भगवान् ने स्वयं गीता में भी कहा—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥२।६७॥

अर्थात् जिस इन्द्रिय के साथ मन रहता है, वह एक ही इन्द्रिय, एक ही विषय इस अयुक्त पुरुष की बुद्धि का हरण कर लेती है। ठीक वैसे ही जैसे वायु नाव को हर लेती है। इसलिए भगवान् अपने भक्त की सांसारिक पदार्थों में से स्वयं आसक्ति कम करा देते हैं। नारदजी को उन्होंने बताया:—

करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी।
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहं राखइ जननी अरगाई।
प्रौढ़ भएँ तेहि सुत पर माता। प्रीति करइ नहिं पाछिलि बाता।
मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। बालक सुत सम दास अमानी॥

तो अज्ञानी भक्तों को तो भगवान् विषयों के पास से स्वयं हटा लेते हैं, लेकिन जो भक्ति मार्ग में प्रौढ़ हो गए हैं, उन्हें भगवान् विषयों के बीच रहते देख भी चिन्तित नहीं, क्योंकि उनकी विषयों में आसक्ति नहीं। तो विवेकी विषयों में नहीं रमता। अविवेकी विषयों की ओर बढ़ता है तो उसकी दशा साँप छछूंदर जैसी हो जाती है। भई गति साँप छछूंदर केरी। विषय फिर उसे छोड़ते नहीं। और दूसरा फल उस मूढ़ को क्या भोगना पड़ता है? इस पर भगवान् बताते हैं :—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ १६।२० ॥

अर्थात् वे मूढ़ पुरुष जन्म-जन्म में आसुरी योनि को प्राप्त हुए मेरे को न प्राप्त कर उससे भी अति नीच गति को ही प्राप्त होते हैं। इसलिए विवेकी को चाहिए कि वह सांसारिक विषयों को छोड़ ईश्वराभिमुख हो, तभी उसे वैराग्य का सच्चा सुख और उसके बाद आत्म ज्योति का दर्शन हो सकेगा।

---

## मनोबल की आवश्यकता

मुक्ति-मार्ग की ओर अग्रसर होने वाले साधक के लिए विवेक की बड़ी भारी आवश्यकता है। विवेक के बिना वह इस कठिन मार्ग में हित-अनहित को ठीक-ठीक नहीं पहचान सकता। विवेक शास्त्र, सत्संग, गुरु द्वारा प्राप्त होता है। लेकिन यह सब रामकृपा के बिना नहीं मिलते। तुलसीदासजी ने लिखा है—"बिनु सत्संग बिबेकु न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई।" तो इस मनुष्य के सम्मुख विवेक हानि और लाभ वाले रास्ते स्पष्ट कर देता है। जिस व्यक्ति को विवेक नहीं है, वह हानिप्रद मार्ग पर भी बढ़ सकता है। विवेक हो गया तो उसे किसी अन्य मार्गप्रदर्शक की आवश्यकता नहीं, वह स्वयं हानि को चुने अथवा लाभ को अपनाये। श्रुति कहती है:—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ॥ (कठ० १।२।२)

अर्थात् श्रेय और प्रेय परस्पर मिले हुए से होकर मनुष्य के

पास आते हैं। श्रेय यानी विद्या और प्रेय है अविद्या। अर्थात् आत्मा और अनात्मा अथवा सत् और असत्। तो श्रुति कहती है, उन दोनों को बुद्धिमान् पुरुष विचार द्वारा अलग-अलग करता है। विवेकी पुरुष प्रेय के सामने श्रेय का ही वरण करता है और मूढ़ योग-क्षेम के निमित्त से प्रेय का वरण करता है। अविद्या रूप प्रेय को छोड़कर केवल श्रेय को ही अंगीकार करने वाले का कल्याण होता है। जो मूढ़ दूरदर्शी नहीं है, वह इस परमार्थ सम्बन्धी नित्य प्रयोजन से च्युत हो जाता है। वह पुत्र-पशु आदि प्रेम-पदार्थ का ही वरण करता है। तो विवेकी त्याग को पहचानता है, मायिक पदार्थों से उसे सुख नहीं मिलता। उसके जीवन का वे लक्ष्य नहीं बनते। उसके जीवन का लक्ष्य होता है कैवल्यपद की प्राप्ति। पातञ्जल योग-दर्शन में बताया है—

तदा विवेकनिम्नं कैवल्य प्राग्भारं चित्तम्॥ (४।२६)

अज्ञान अवस्था में साधारण मनुष्यों का चित्त अज्ञान में निमग्न और विषय-परायण रहता है; परन्तु जब विवेक-ज्ञान का उदय होता है, उस समय योगी का चित्त निःसार संसार के विषयों की ओर नहीं जाता, उनसे सर्वथा विरक्त हो जाता है और उस विवेकज्ञान में निरन्तर बहता है तथा कैवल्य के अभिमुख हो जाता है यानी अपने कारण में विलीन होना आरम्भ कर देता है। चित्त का अपने कारण में विलीन होना और द्रष्टा का स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना ही कैवल्य है। तो इस प्रकार विवेकी को कैवल्य का सुख भी प्राप्त हो जाता है। जो अविवेकी है उसे तो इस संसार में सुख नहीं मिलता। धनादि सांसारिक ऐश्वर्य को वह इस डर से भोगता नहीं कि यह समाप्त हो जायगा औरपरमार्थ का साधन वह कुछ करता नहीं। मुक्ति के मार्ग में कैसे बढ़े। भय भी वहीं रहता है, जहाँ अविवेक हो। अविवेक के कारण यह मनुष्य इस संसार के विषयों में फँसता है और नरक में जाता है।

भगवान् ने गीता में लिखा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ १६।२१ ॥

काम, क्रोध, तथा लोभ यह तीन नरक के द्वार हैं। और यही आत्मा का नाश करने वाले अर्थात् अधोगति में ले जाने वाले हैं। अतः इन तीनों को त्याग देना चाहिए। काम, क्रोध और लोभ को कुचलकर ही मनुष्य मुक्ति-पद का यात्री हो सकता है। इन तीनों महाशत्रुओं को कुचलने के लिए बल चाहिए। बलहीन आत्मा का दर्शन नहीं कर सकता। बलहीन से अभिप्राय है, मनोबल से हीन। शरीर का बल और मन का बल अलग-अलग दो चीजें हैं। शरीर हृष्ट-पुष्ट हो, लेकिन मन में कमज़ोरी है, तो शरीर कुछ नहीं कर सकता। तो मनोबल जिसमें नहीं वह परमार्थ साधन की ओर नहीं जायगा; क्योंकि यह मार्ग तो "क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया—" छुरे की धार की तरह तीक्ष्ण और दुस्तर है। इसलिए श्रुति ने कहा—

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो
न च प्रमादात्तपसो वाप्य लिङ्गात् ।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष
आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥ (मुंडक० ३।२।४)

अर्थात् यह आत्मा मनोबल से हीन पुरुष को प्राप्त नहीं हो सकता, न प्रमाद अथवा संन्यासरहित तपस्या से ही मिल सकता है। लेकिन जो विवेकी आत्मवेत्ता तत्पर होकर बल, संन्यास, अप्रमाद और ज्ञान से उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है, उस विद्वान् का यह आत्मा ब्रह्मधाम में सम्यक् रूप से प्रविष्ट हो जाता है। जिस अविवेकी का मन कमज़ोर है वह परमार्थ साधन में कैसे लग सकता है? मन में बल है, शरीर कृश है, तो भी पुरुष महान

कार्य कर सकता है। मन की कमजोरी से कर्त्तव्य विमुख हो जाता है। जैसे अर्जुन का उदाहरण है। युद्धभूमि में उससे बढ़कर कोई बलवान् योद्धा नहीं था। पर उसने जब श्रीकृष्ण से कहा—

"सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थाप्य मेऽच्युत"

'हे अच्युत, मेरा रथ दोनों सेनाओं के बीच खड़ा करो' और उन्होंने रथ को दोनों सेनाओं के बीच लाकर खड़ा कर दिया तब उसने देखा कि—

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन् पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि—

"यहाँ तो दोनों सेनाओं में मेरे पिता के भाई, पितामह, आचार्य, मामा, भाई, भाइयों के पुत्र, पौत्र, मित्र, ससुर आदि सम्बन्धी एवं सुहृद खड़े हैं;" और उन्हें देखकर वह बलशाली अर्जुन मन के निर्बल होने से करुणा से भर आया, शोक करने लगा और उसकी ऐसी स्थिति हो गई कि वह कहने लगा—

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ १।३० ॥

"मेरे हाथ से गाण्डीव धनुष गिरता है और त्वचा भी बहुत जलती है तथा मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है। इसलिए मैं खड़ा रहने को भी समर्थ नहीं।" तो शरीर बलवान होते हुए भी मन में दुर्बलता आने से यह दशा हो जाती है। इसलिए शास्त्र ने मनोबल पर जोर दिया है। चोर बलवान् होता है, लेकिन बालक रो पड़े तो सिर पर पैर रख कर भाग खड़ा होता है। मनोबल नहीं होता उसमें।

मन में दुर्बलता आती है पापाचरण से, अनीति से। पाप का संकल्प मन में होते ही मन दुर्बल हो जाता है, निर्भय नहीं

रहता। चोर चोरी का संकल्प मन में लेकर चलता है, तो पुलिस देखकर भी डरता है, समझता है वह मेरे पीछे ही आ रही है। मन में पाप घुसा तो उसके साथ-साथ ही भय भी घुसता है। सदाचारी व्यक्ति पाप से बचता है, इसीलिए उसमें मनोबल का आधिक्य होता है। बिना मनोबल के कोई साधक सफल नहीं होता और काम, क्रोध, लोभ उसे मुक्ति की ओर नहीं बढ़ने देते। मन में काम, क्रोध, लोभ हों तो मनुष्य स्वर्ग प्राप्त करके भी अधोगति को पहुँच जाता है। अपना पतन स्वयं बुला लेता है।

राजा नहुष के दृष्टान्त से यह स्पष्ट हो जाता है। वृत्रासुर की हत्या करने के बाद इन्द्र ब्रह्महत्या के डर से कमलवन में जा छिपा। ब्रह्महत्या, सुरापान, सोने की चोरी, गुरुपत्नी-गमन और इनमें किसी का संसर्ग यह पाँच महापाप माने गए हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में आता है :—

स्तेनो हिरण्यस्य सुराँ पिबँश्च गुरोस्तल्पमावसन्।
ब्रह्महाचैते पतन्ति चत्वारः पंचमश्चाचरँस्तैरति। (५।१०।९)

तो ब्रह्महत्या के डर से इन्द्र अपना सिंहासन छोड़कर भाग गया। उसका तेज नष्ट होगया। देवताओं को बड़ी चिन्ता हुई। स्वर्ग को राजा-विहीन देखकर कहीं दैत्यों ने चढ़ाई कर दी तो? देवताओं ने विचार किया और भूमण्डल के तत्कालीन तेजस्वी, प्रतापी, धर्मात्मा, ईश्वरपरायण राजा नहुष को इन्द्र-सिंहासन पर बैठाने का निश्चय कर लिया।। सौ अश्वमेध यज्ञ करने के फलस्वरूप ही इन्द्र का सिंहासन मिला करता है। पर राजा नहुष में यह योग्यता नहीं थी। अतः ऋषियों ने अपनी तपस्या का थोड़ा-थोड़ा पुण्य राजा नहुष को दे दिया और इस प्रकार वह स्वर्ग के सिंहासन पर बैठ गया। तो बड़ा पद संभालना भी कठिन हुआ करता है। प्रायः बड़ा पद पाकर मनुष्य अभिमानी

हो जाता है। "प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं" और वह अनीति का सहारा लेता है। अभिमानी होने पर वह गिरता है। कहा है, 'अभिमानी का बोझ पृथ्वी से भी अधिक होता है।' जो शेषनाग पृथ्वी को सँभाले खड़ा है, उसके फन भी अभिमानी के बोझ से झुक जाते हैं। इस प्रकार अभिमानी नहुष ने एक दिन विषय-वश यह इच्छा प्रकट की कि हम इन्द्राणी को अपनी पत्नी बनायेंगे। इन्द्र का सिंहासन हमें मिला है, तो इन्द्र की सारी संपत्ति भोगने का अधिकार भी हमें है। उसकी यह ऊटपटाँग इच्छा सुनकर इन्द्राणी व्याकुल हो गई, देवता लोग, ऋषिगण 'त्राहि-त्राहि!' कर उठे। इन्द्राणी ने बृहस्पतिजी को बुलाया, उन्हें तो नहुष का मन्तव्य प्रकट हो ही चुका था। कहने लगे—"देवि! घबराओ मत, उसका विनाश निकट है। जिसका विनाश होना होता है, उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। ग्वाले डंडा लेकर गाय-भैंसों की रक्षा करते हैं, पर देवतागण जिसकी रक्षा करते हैं, उसे सद्बुद्धि देते हैं और जिसका विनाश चाहते हैं, उसकी बुद्धि भ्रष्ट करते हैं। अत: तुम नहुष का प्रस्ताव स्वीकार कर लो और उससे कहला दो कि इन्द्र मेरे पास सप्त-ऋषियों की पालकी में आते थे, अतः तुम भी ऐसी ही पालकी में आओगे, तो मैं तुम्हें स्वीकार कर सकूँगी!" बृहस्पतिजी के परामर्श से नहुष के पास ऐसा ही संदेश भिजवा दिया गया। अब नहुष तो कामांध हो रहा था। उसे क्या पता कि पाप पापी को मार देता है और साधु समता के कारण भय को प्राप्त नहीं होता। शास्त्र कहता है, लोभी का कोई भाई या गुरु नहीं, उसके लिए सब कुछ धन है। वह भगवान् को भी लूटना चाहता है। (पहले बद्रीनारायण की मूर्ति पारस पत्थर की थी तो एक भक्त ऐसा आया वहाँ कि अँगुली ही काटकर ले गया) और भूख से आतुर व्यक्ति के लिए रुचि और समय का कोई मूल्य नहीं।

विद्या पाने को जो आतुर है उसके लिए सुख और नींद नहीं है। इसी प्रकार जिस पर काम का भूत सवार होता है, उसे भय और लज्जा नहीं रहती। तो नहुष ने ऋषियों को आज्ञा देदी। वे बेचारे तपस्या से कृशकाय हो रहे थे। उनसे पालकी क्या उठती ? वे तो मनोबल के तेज से ही तेजस्वी हैं। तो नहुष की पालकी वे अपनी सामर्थ्य के अनुसार धीरे-धीरे ही ले जा रहे थे। नहुष कामवश उतावला हो रहा था, किसी प्रकार भी जल्दी-से-जल्दी वह इन्द्राणी के समीप पहुँचना चाहता था। एक पाप के पीछे अनेक पाप यह पुरुष करता है। इसी नियम के अनुसार नहुष ने पाप-वासना के आने पर ऋषियों को पालकी में जोता और फिर उन्हें फटकारा—"सर्प ! सर्प !" अर्थात् जल्दी चलो। यही नहीं क्रोध से उसने अगस्त्य ऋषि के लात भी मारी। महापाप किया। जड़ सूर्यकांत मणि भी सूर्य की लात—किरण नहीं सह पाती, जल उठती है; तो चेतन मनुष्य भला किसी की लात कैसे सह ले ! अगस्त्य विचलित हो गए। क्रोध आ गया और उन्होंने श्राप दिया—"जा, तू सर्प हो जा।" नहुष तत्काल सर्प हो गया। तीन युगों तक उसे सर्प की योनि में रहना पड़ा-युधिष्ठिर के उपदेश से ही उसकी मुक्ति हुई। तेजस्वी महात्माओं में वास्तव में जलाने की क्षमता होती है। उनके पास क्षमा नाम की ऐसी ठंडी अग्नि है जो कुल को भी भस्म कर डालती है। क्रोध करें, तो एक को ही कष्ट होगा, जिस पर कि क्रोध हो, पर क्षमा करदें तो कुल-का-कुल नष्ट हो जाता है। एक महात्मा कहीं जा रहे थे, महात्मा भी कैसे जिनका कोई ठौर-ठिकाना नहीं। रमते राम।

अश्नीमहि वयं भिक्षामाशावासो वसीमहि।
शयीमहि महीपृष्ठे कुर्वीमहि किमीश्वरैः॥ (भर्तृहरि)

"हम भिक्षा पर निर्वाह करते हैं, दिशाओं का वस्त्र बनाते हैं,

पृथ्वी के तल पर सोते हैं, हमें सम्पत्तिवान् पुरुषों से क्या प्रयोजन।" ऐसा साधु एक खेत में से गुज़रा। किसान ने बीज डाला था। क्रोधित हो महात्मा को मार बैठा। महात्मा चुप, कुछ बोला नहीं। मुद्रा पर भी कोई भाव नहीं उसकी। आगे एक और महात्मा ने यह सब देखा और कहा—"महाराज, आप तो उसे क्षमाकर उसके कुल का ही नाश कर आए। वह बड़ा निर्धन है। दया कीजिए। उसे दो-चार सुना आइए।" तब वह महात्मा लौटे और उस किसान को दो-चार दुर्वचन सुना आये। तो ऐसे तेजस्वी महात्मा अगस्त्य के श्राप से नहुष, जो कामवश हो गया था, स्वर्ग का सिंहासन पाने पर भी अधम गति को प्राप्त हुआ।

इसीलिए भगवान् ने कहा कि काम, क्रोध, लोभ यह तीन नरक के द्वार हैं। इनसे मुक्त होने पर ही पुरुष अपने कल्याण का आचरण करता है और परम गति को प्राप्त होता है। कल्याण का आचरण भी वही करता है जो धीर है, विवेकी है। केवल शत्रु को परास्त करने वाला धीर नहीं, धीर वह है जो चौदह भुवन को जीत ले अर्थात् जन्म-मरण के चक्कर से छूट जाय और प्रत्यगात्मा का दर्शन कर ले। इन्द्रियों को जीतने वाला ही सच्चा शूर है। भर्तृहरि ने लिखा है :—

> कान्ताकटाक्षविशिखा न दहन्ति यस्य
> चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः।
> कर्षन्ति भूरिविषयाश्च न लोभपाशैर्लोकत्रयं
> जयति कृत्स्नमिदं स धीरः॥

वह धैर्यवान् पुरुष ही तीनों लोक जीतता है, जिसके हृदय को स्त्रियों के बाणरूपी कटाक्ष नहीं छेदते हैं, चित्त को क्रोध-रूपी अग्नि की ज्वाला नहीं जलाती है और नाना प्रकार के विषय-लोभ

फन्दे में फँसाकर नहीं खींचते हैं। तो ऐसा धैर्यवान विषयों को छोड़ देता है। वह जानता है कि यह विषय भोगने से कभी शांत होने वाले नहीं। जिस प्रकार घी डालने से अग्नि और बढ़ती है, उसी प्रकार विषय भी भोगने से शांत नहीं होते, उनकी वासना और बढ़ती है। मनु ने लिखा है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥२।९४

इच्छा विषयों के उपभोग से कभी शान्त नहीं होती। घृत से अग्नि के समान बार-बार अधिक ही बढ़ती जाती है। इसलिए मनु ने दूसरी जगह लिखा है कि इन्द्रियों को वश में करना चाहते हो तो उनका अल्प व्यवहार करो। जो तलवार रोज़-रोज काम में लाई जाती है, वह तेज़ हो जाती है, लेकिन जो काम में नहीं लाई जाती, वह कुण्ठित हो जाती है। इसलिए इन्द्रियों को विषयों से हटाए। उन्हें वहीं व्यवहार में लाए जहाँ उनके व्यवहार की अत्यन्त आवश्यकता हो। भगवान् ने कहा हैः—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥६।१७।

अर्थात् दुःखों को नाश करने वाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करने वाले का तथा कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करने वाले का एवं यथायोग्य शयन करने और जागने वाला का ही सिद्ध होता है। अतः जो मर्यादा में नहीं रहता उसका चित्त भी वश में नहीं हो पाता। 'सर्व-वेदान्त-सार-संग्रह' में कहा है कि जिसको गुरु, शास्त्र और भगवत् कृपा का प्रसाद नहीं मिला है, उसका चित्त वश में नहीं हो सकता। वह साधन से भी गिर जाता है। आस्तिक भाव भी उसके हृदय में नहीं पैदा होता। गीता में भगवान् ने कहाः—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शन्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥२।६६॥

साधनरहित पुरुष के अन्तःकरण में श्रेष्ठ बुद्धि नहीं होती और उस अयुक्त के अन्तःकरण में आस्तिक भाव भी नहीं होता है। आस्तिक भाव के बिना शान्ति नहीं मिलती, फिर शान्तिरहित पुरुष को सुख कैसे हो सकता है? तो इसलिए विवेकी पुरुष अपनी इन्द्रियों से परमार्थ साधन के लिए ही काम करता है। उन्हें ग़लत इस्तेमाल वह नहीं करता। तुलसीदास जी कहते हैं—हित-अनहित पसु पछिहू जाना। तो क्या मनुष्य पशु पक्षियों से भी गिरा हुआ है? उसे अपने कल्याण का साधन अवश्य करना चाहिए। हित-अनहित, प्रेय और श्रेय, आत्म और अनात्म का विवेक उसे करना चाहिए। मानुस-तन गुण ज्ञान निधाना-ऐसा कहा है, तो हम इससे ज्ञान संपादन ही करें। यह नहीं कि दुर्गन्धयुक्त पदार्थों को जैसे कोई हींग का छौंक देकर इन्द्रियों को धोखा दे और अखाद्य को खाकर भी स्वादवश प्रसन्नता अनुभव करे, वैसे ही हम विषयों में सुख की अनुभूति करें और आगे होने वाले भयंकर दुःखमय परिणाम की ओर से आँखें मूंदकर मोहवश हो जाएँ अथवा प्रमाद को प्राप्त हों। मोक्ष की प्राप्ति करनी है तो मोक्ष के प्रसाद पर खड़े चार प्रहरियों—शम, विचार, संतोष और साधु-संग—की अनुकूलता प्राप्त करनी होगी। यहाँ साधु-संग को प्रथम मानना चाहिए। साधु-संग से विवेक, संतोष और शम की शिक्षा प्राप्त होगी। तो यही चारों मनुष्य की सबसे बड़ी सम्पत्ति है। संसारी धन आपत्तियाँ लाता है और यह सम्पत्ति अमृत का कोष हमें दिलाती है। अतः इनकी प्राप्ति के लिए हमें नरक के द्वार काम, क्रोध, लोभ का त्याग करके मनोबल, जो विवेक से ही आता है, बढ़ाना चाहिए।

मन में अदम्य शक्ति आई, तो परब्रह्म का दर्शन भी मन से, शुद्ध, एकाग्र, स्थिर मन से हमें हो सकेगा।

---

## मन द्वारा मुक्ति

श्रुति ने आत्मा को ज्योतिरूप बताया है। ज्योति भी ऐसी जो स्वयंप्रकाश है। जहाँ ऐसी ज्योति है, वहीं सुख है। निर्भयता है। ऐसा नियम है। जहाँ ज्योति नहीं है, वहाँ दुःख है, अन्धकार है। जगत् दुःखरूप है, जड़ और अंधकारमय है। परब्रह्म ज्योतिरूप, सुखरूप, नित्य, चेतन एवं प्रकाशस्वरूप है। आत्मा सत् है, जगत असत् है। जगत् क्षणभंगुर और आत्मा अनश्वर है। तो ऐसा विवेक होने पर उसका फल होता है, वैराग्य। अनात्म, अस्थायी, दुःखरूप पदार्थों में से राग हट जाता है और आत्म, सुखरूप, नित्य पदार्थ में मन लग जाता है। यदि अनात्म पदार्थों में विवेकी का राग हो, तो समझना चाहिए कि विवेक अधूरा है, पूर्ण वैराग्य ऐसे कच्चे विवेक वाले को नहीं होता। यह सिद्धान्त है। अविवेकी को अनात्म पदार्थों में सुख भासता है, पर वस्तुतः वहाँ मिलता दुःख है।

वास्तव में दुःख होता है, मन के सम्बन्ध से। बाहर के पदार्थ में मन लगा तो सुख-दुःख की अनुभूति हुई। जैसे किसी व्यक्ति की चारपाई के नीचे सर्प बैठा है, काला विषधर; लेकिन उसे पता नहीं कि सर्प खाट के नीचे है। इसलिए उस सर्प की उपस्थिति से उसे कोई दुःख, भय नहीं। परन्तु यदि कोई उससे कहे कि तेरी चारपाई के नीचे सर्प है, तो वह निश्चय ही भय-

भीत होगा, दुःखी होगा। या मान लो किसी का पुत्र विद्याभ्यास के लिए विदेश गया है और वहाँ वह स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट विद्याध्ययन में लगा है; पर उसके पिता को यहाँ कोई कह दे कि तेरा पुत्र नदी में तैरने गया था, वहाँ डूब गया। इतना सुनते ही उसके मन में पुत्र-मृत्यु का दुःख आ जायगा। इसलिए कहा है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्तं निर्विषयं स्मृतम्। (ब्रह्मबिन्दु० २।३)

मन ही मनुष्यों को बाँधने वाला, जन्म-मरण के चक्कर में डालने वाला और मन ही मुक्ति दिलाने वाला, परब्रह्म की प्राप्ति कराने वाला है। श्रुति ने तो मन को ही ब्रह्म भी कह दिया है।—

मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि
जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति। मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति॥
(तैत्तरीयोपनिषद ३।४।१)

अर्थात् मन ही ब्रह्म है, ऐसा जान, क्योंकि निश्चय ही मन से ही यह जीव उत्पन्न होते हैं, मन से ही जीवित रहते हैं और अन्त में प्रयाण करते हुए भी मन में लीन हो जाते हैं। तो इस प्रकार मन से यदि सांसारिक पदार्थों का राग हट जाय तो अभ्यास से यह ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, और यदि मन में संसार ही संसार भर जाय तो उसका कल्याण कल्पान्तों में भी सम्भव नहीं।

मन का भी एक संसार होता है, मानसी सृष्टि उसे कहते हैं। और जो इन्द्रियों से दिखाई दे रही है, वह भगवान् की सृष्टि है। भगवान् की सृष्टि से दुःख बहुत थोड़ा मिलता है, लेकिन मानसी सृष्टि से दुःख अधिक मिलता है। यदि मार्ग में जाते हुए व्यक्ति को अंधकार और संस्कारवश रज्जु में सर्प प्रतीत हो जाय तो वह उससे बचने के लिए भागेगा। सम्भव है, भागते हुए कहीं ठोकर खाकर गिर पड़े और चोट लग जाय। इसी प्रकार

मान लो सचमुच सर्प पड़ा है मार्ग में, लेकिन मन में संकल्प हुआ रज्जु का, तो वह उसके पास से गुज़र जायगा भय-दुःख को प्राप्त नहीं होगा। इससे पता चलता है कि मानसी सृष्टि ही दुःख-सुख का हेतु है। इसलिए हमारे शास्त्रों ने सिद्धान्त बनाया कि मन को काबू करना चाहिए। मन सांसारिक पदार्थों में दुःख-भावना करेगा तो वहाँ से हटकर वैराग्य में लगेगा। तो मन का मायिक, अनात्म पदार्थों से हटना, उनमें से राग को सिमेट लेना ही वैराग्य का हेतु है।

मन का ऐसा स्वभाव है कि यह वहीं जाता है, जहाँ से इसे सुख मिलने की आशा हो, सम्भावना हो। यदि कहीं दुःख मिलने की आशंका हो तो यह वहाँ नहीं जायगा। संसार में मन जायगा तो दुःख है, संसार से हटेगा तो सुख है। भगवान् ने गीता में कहा—

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ ६।२६॥

जिसका मन संसार में भटकता है, वश में नहीं हुआ, उसे चाहिए कि वह अस्थिर रहने वाले चंचल मन को उन-उन सांसारिक पदार्थों से बारम्बार रोके जिनमें यह विचरता है और उधर से हटाकर इसे पुनः-पुनः परमात्मा में लगाये, भगवान् में ही इसका निरोध करे। तो इसका निरोध करने में सुगमता तब होगी जब कि अनात्म का विवेक दृढ़ होगा। एक व्यक्ति जो तीन-चार दिन का भूखा है, उसके सामने खीर की थाली आ जाय तो उससे खाये बिना रहा न जायगा; लेकिन यदि उसी व्यक्ति से यह कह दिया जाय कि इस खीर में तो विष मिला है, यह मारक है, तो भूखा होते हुए भी, रसना में पानी आने पर भी वह उधर से अपना मन हटा लेगा। इसलिए मन को विषयों से रोकना चाहिए।

वह विषतुल्य हैं। 'योग वसिष्ठ' में मन को रोकने के दो उपाय बताये हैं।

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव—
योगश्चित्तनिरोधः स्याज्ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्।

पहला तो यह कि योगाभ्यास से, धारणा, ध्यान, समाधि से मन को वश में करे, यह हठयोग भी कहलाता है। और दूसरा यह कि सम्यक् ज्ञान द्वारा मन को रोके। वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को जानकर, सांसारिक पदार्थों को दुःखरूप समझकर वहाँ से ध्यान हटा ले। यह राजयोग कहलाता है। भगवान् ने भी गीता में बताया कि मन यद्यपि चंचल होने के कारण कठिनता से वश में होता है, पर फिर भी "अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।" (६।३५) अभ्यास और वैराग्य से उसे वश में करना चाहिए और हो जाता है। यह योग भी मन को वश में करने वालों का ही सफल होता है।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥६।३६॥

मन को वश में न करने वाले पुरुषों द्वारा योग प्राप्त करना कठिन है, लेकिन जिसका मन स्वाधीन है, वश में है, उसे यह प्रयत्न करने पर साधन द्वारा शीघ्र प्राप्त हो जाता है। तो सम्यक ज्ञान, अनात्म वस्तुओं का सही रूप जानकर उनमें आसक्ति न करना, मन को वश में करने का प्रमुख साधन है।

इस सम्यक् ज्ञान को कैसे समझें ? हमारे अनुभव में आता है कि यह संसार दुःखमय है। अपने शरीर को ही देखो। इसमें कहीं सुख है ? हम इसे नित्य रखना चाहते हैं, इसमें कभी रोग न हो; ऐसा हमारा प्रयत्न होता है। पर हम देखते हैं, रोग आते हैं, इसे जीर्ण-शीर्ण कर देते हैं और अन्त में यह मर भी जाता है। महाभारत

में आता है—"हमने ऐसे वैद्यों को, जो दूसरों को नीरोग करने का ठेका लेते हैं, रोगी होते और मरते देखा है।" तो इस प्रकार जन्म, जरा, व्याधि और मृत्यु वाले इस संसार को शास्त्र ने मिथ्या कहा है। अर्थात् यह सत्-असत् दोनों से विलक्षण है। इसे इसी दृष्टि से अनिर्वचनीय कहा है। यह कैसे हो सकता है, न अंधेरा, न प्रकाश, सांयकाल का सा समय। यह बीच की स्थिति कैसी? इसे समझें। 'सत्' वह है जो कूटस्थ, एक रस है, जिसमें तीनों कालों में कोई परिवर्तन न हो, निर्विकार हो। संसार ऐसा नहीं है। उसमें हम परिवर्तन देखते हैं। जो जनता आज है, वह कुछ समय बाद नहीं रहेगी। पीढ़ी के बाद पीढ़ी बदलती चली जा रही है। इसलिए जगत् को सत् कैसे मान सकते हैं? अब 'असत्' उसे कहते हैं जो अस्तित्व न रखता हो, जिसका सर्वथा अभाव हो, देखने में न आये। जैसे वंध्या का पुत्र या खरगोश के सींग। संसार ऐसा भी नहीं है। इसलिए सत्-असत् से विलक्षण इसे मिथ्या कहा। मिथ्या, अर्थात् जो है नहीं, पर दिखता है। कुछ दूसरे लोग, जो वेदान्त सिद्धान्त को नहीं मानते, इस संसार को सत् बताते हैं, मिथ्या नहीं। वे कहते हैं, संसार को मिथ्या कहने वालों का व्यवहार भी बिल्कुल वैसा ही है, जैसा कि संसार को 'सत्' मानने वालों का। इसका कारण यह है कि उन लोगों ने सत् एवं मिथ्या को ठीक समझा नहीं। उन्होंने सत् की परिभाषा यह की है कि "सत्" वह है जिससे हमारा कोई प्रयोजन सिद्ध हो, जो व्यवहार में आए और नाम-रूप वाला हो। संसार में यह लक्षण घट रहा है। वे लोग मरु-मरीचिका के जल को मिथ्या मानते हैं, सर्राफ की दुकान पर मिलने वाली चाँदी को सत्य मानते हैं; क्योंकि उसे खरीदा जा सकता है, उसके आभूषण बन सकते हैं। असत् उनकी

दृष्टि से वह है जिससे प्रयोजन सिद्ध न हो। जो व्यवहार में न आए। तो इस प्रकार उनकी सत्-असत् की परिभाषा ही अलग है। इसलिए विचारशील तो दोनों की परिभाषाओं को देखते हुए दोनों की मान्यताओं को ठीक बताएगा। लेकिन तनिक विचार-पूर्वक देखें, रस्सी का सर्प मिथ्या है, फिर भी उससे वैसा ही भय प्रतीत होता है, जैसा कि सच्चे सर्प से। इसी तरह मृग-मरीचिका में जल की प्रतीति होती है और उससे मृग को बड़ा दुःख सहन करना पड़ता है। इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि केवल सत् पदार्थों से ही दुःख-सुख होना ठीक नहीं; असत्, मिथ्या पदार्थों से भी दुःख-सुख होता है। हम जानते हैं कि स्वप्न असत् है, पर उससे भी सुख, दुःख, हर्ष-शोक होता है। इसलिए वेदान्त की प्रक्रिया में जगत् के तीन विभाग हुए—(१) सत् अर्थात् ब्रह्म से परिपूर्ण है; (२) असत् अर्थात् परिवर्तनशील और नश्वर है और (३) मिथ्या, अर्थात् नाम-रूपात्मक प्रपंच जो हमारे सामने है।

तो संसार का यह मिथ्यात्व तभी तक है जब तक कि हमें ज्ञान नहीं होता। ज्ञान होने से इसका मिथ्यात्व हमारे सामने प्रकट हो जाता है। फिर मनमें इसके सुख सुखरूप नहीं प्रत्युत दुःखरूप भासते हैं। विषयों में फँसकर मन से उन्हें सुखरूप मान ले तो वह सुखरूप है, लेकिन यदि दुःखरूप मान ले तो मन भी उन्हें दुःखदायी करके ही जानेगा। इसलिए मन से ही संसार का चिन्तन करना दुःखदायी है। नौका जिस प्रकार जल में है, लेकिन जल उसमें नहीं, इसी प्रकार मन संसार में चाहे रमण करे, पर संसार उसमें नहीं आना चाहिए। संसार मन में घुसने का लक्षण क्या है? हम खाली बैठे हैं, कोई काम नहीं, फिर भी संसार की चिन्ता कर रहे हैं। बैठे सत्संग में हैं, पर मन में दुकान है। स्त्री-पुत्र की चिन्ता है। कहते हैं कि कहीं रामायण की कथा हो रही थी। एक भक्त पंडितजी के पास बैठा था। उसे नींद आ गई। (यह

नींद भी सत्संग में ही आती है, क्योंकि कुम्भकर्ण की पत्नी है। कुम्भकर्ण तो मर गया, अब यह विधवा होकर कल्याण के लिए आती है सत्संग में और जिसे प्रमादी देखा उसी के सिर पर सवार हो गई।) नींद में उस भक्त को, जो व्यवसाय से बजाज था, दुकान का ध्यान आया। मन दुकान पर पहुँच गया। ग्राहक से सौदा होने लगा। कपड़े का भाव ठहरा और उसे फाड़ दिया। पर यहाँ उसने पण्डितजी का पास लटकता हुआ दुपट्टा फाड़ दिया। पंडित जी चौंके, यह क्या ? तब उस भक्त को पता लगा कि वह सत्संग में बैठा है, दुकान पर नहीं। इससे पता चलता है, मन जहाँ होता है, वहीं यह पुरुष विचरण करता है, शरीर चाहे कहीं भी हो। हमसे कोई बात कर रहा हो और मन कहीं और हो तो हम कहेंगे—"फिर कहना, अभी क्या कहा !" इसी प्रकार हम जिस वस्तु को खोज रहे हैं, वही हमारे सामने आ जाय, पर मन कहीं और हो, तो वह पास आई वस्तु हाथ से निकल जायगी। इसी दृष्टि से बृहदारण्यक में बाताया, "मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति हृदयेन हि रूपाणि जानाति।" (१।५।३) अर्थात् मन से ही देखता है, मन से ही सुनता है और हृदय या मन से ही रूपों का ज्ञान प्राप्त करता है। तो इसलिए जिसने मन को एकाग्र किया है, संसार से हटाया है, वह दुःखी नहीं होता। वसिष्ठजी ने राम को बताया है—

दृश्यं नास्तीति बोधेन मनसोदृश्यमार्जनम्—
सम्पन्नं चेत्तदोत्पन्ना परा निर्वाणनिवृ्तिः।

अर्थात् जो मुक्ति का सुख जीते जी, इसी जन्म में देखना चाहता है, उसे चाहिए कि वह दृश्य से मन को निकालकर उसके मूल में ले जाय। यानी संसार में जो कुछ भी दिख रहा है, उसे भगवान् का ही स्वरूप माने। मन से संसार को निकाल दे और भगवान् को वहाँ बैठा ले। जिस तरह खाँड के खिलौनों में घोड़े-

हाथी आदि का भेद करना व्यर्थ है, वह सब खाँडमय हैं; अथवा जिस प्रकार स्वर्ण के सभी आभूषणों में नाम-रूप का भेद होते हुए भी सर्वत्र स्वर्ण है, उसी प्रकार सम्पूर्ण दृश्य में उसके मूल भगवान् को ही देखें। तुलसीदास जी ने भी कहा—"सीयराममय सब जग जानी।" इसलिए मन से संसार निकल गया तो निर्वाण का सुख इसी जन्म में प्राप्त हो जायगा। भगवान् ने कहा—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ २।७१ ॥

जिसने सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग कर दिया है, जिसकी देहादि इन्द्रियों में भी अहंता-ममता नहीं है, जो अहंकार और स्पृहा से रहित है, वही शान्ति को प्राप्त होता है। जिसका मन चंचल है, वह सदा अशान्त रहेगा।

संसारी पदार्थों में दोष-दृष्टि पक्की हो जाय तो फिर साधक विषयों की उपेक्षा करता है, कोई वस्तु है या नहीं; वह तो उपेक्षा दृष्टि वाला हो जाता है। उसमें दीनता नहीं रह जाती। वह दूसरों की खुशामद नहीं करता कि मुझे यह वस्तु दे दो, वह दे दो। यही वैराग्य का स्वरूप है भर्तृहरि ने लिखा है :—

फलमलमशनाय स्वादु पानाय तोयं
शयनमवनिपृष्ठं वल्कले वाससी च।
नवधनमधुपानभ्रान्तसर्वेन्द्रियाणाम—
विनयमनुमन्तुं नोत्सहे दुर्जनानाम् ॥

जिसने संसारी पदार्थों की ओर उपेक्षा दृष्टि की है, वह किसी की खुशामद नहीं करेगा। भोजन के लिए जंगलों में कंद, मूल, फल आदि मिल जाते हैं, पीने के लिए झरनों का शुद्ध जल मिल जाता है और सोने के लिए विशाल भूमि है, पहनने के लिए वल्कल हैं—अन्न वस्त्र, मकान की तीनों मुख्य आवश्यकताएँ यों पूरी हो जाती हैं, फिर ऐसे दुर्जनों से निरादर क्यों सहे जिनकी

इन्द्रियाँ नये उपार्जित धन की मदिरा से उन्मत्त हैं। फिर क्यों राजाओं की खुशामद करें। एक कोई याचक गया राजा के पास, द्वारपाल ने रोक दिया। कहा, महाराज सो रहे हैं। फिर गया, तो द्वारपाल ने कहा अभी मंत्रणा में व्यस्त हैं। और अन्त में भेंट हो भी गई तो मिला क्या, दो-चार पैसे। कोई संतोषजनक वस्तु नहीं मिली। इसलिए यदि मांगना है, खुशामद करनी है, तो भगवान् के द्वार पर जाना चाहिए। जहाँ कोई द्वारपाल नहीं। जहाँ से मिलने वाली वस्तु सदा-सदा के लिए इसे तृप्त कर देगी भर्तृहरि ने लिखा है—

नायं ते समयो रहस्यमधुना निद्राति नाथो यदि
स्थित्वा द्रक्ष्यति कुप्यति प्रभुरिति द्वारेषु येषां वचः।
चेतास्तानपहाय याहि भवनं देवस्य विश्वेशितुर्निं
दौवारिकनिर्दयोक्त्यपुरुषं निःसीमशर्मप्रदम्॥

अर्थात् रे मन! ऐसे धनियों को जिनके द्वार पर भिक्षुकों से द्वारपाल कहते हैं यह तुम्हारा समय नहीं है, तुम को यहाँ बैठा देखेंगे तो हम पर स्वामी कुपित होंगे। उनको त्यागकर तुम विश्वेश्वर की शरण में जाओ, जहाँ कोई द्वारपाल रोकने वाला नहीं, जहां कठोर और निर्भय वाक्य सुनने में नहीं आते और जहाँ अत्यन्त सुख की प्राप्ति होती है। लेकिन मनुष्य का स्वभाव कुछ ऐसा है कि धक्के खाकर भी संसार की ओर ही दौड़ता है। पहाड़ी लोग पहाड़ों पर सामान ढोते हैं, तब तो वह ठीक चढ़ते-उतरते हैं, लेकिन जब उनकी कमर पर कोई सामान नहीं लदा होता तो वह चढ़ने-उतरने में सुख नहीं मानते। इसलिए सामान न होने पर वे पीठ पर पत्थर ही लाद लेते हैं और कोई पूछे तो कहते हैं—चला नहीं जाता, बिना बोझ के। इसी प्रकार मनुष्य से संसार के विषयों के बिना चला नहीं जाता। स्वभाव ऐसा पड़ गया है।

यह विषयों की पूर्ति के लिए ही दासता भी स्वीकार करता है। एक रसना के वश होकर, जो केवल एक इंच भर जगह में स्वाद का अनुभव करती है, यह नाना प्रकार के भोजन जुटाने में लगा है। गले से नीचे उतरकर मालपुआ भी पेट भरेगा और दाल-रोटी भी। लेकिन यह स्वादवश कुपथ्य करेगा और रोगी बनेगा। इससे पता चलता है कि विषयों की ओर जाने की तो इसकी प्रवृत्ति हो गई है, स्वभाव बन गया है। मन की तृप्ति होगी भगवत् भजन से और इन्द्रियादि की तृप्ति होगी संसार से। संसारी पदार्थों में राग हुआ, और यह बंधा। राग नहीं है, तो संसार से छूटा और मुक्ति को पाया। राग का बंधन ही ऐसा विलक्षण है कि मनुष्य उसमें बंधने में सुख मानता है, और अधिक बंधना चाहता है, छूटने का कभी प्रयत्न नहीं करता। रस्सी आदि अन्य बंधन तो इसे दिखते हैं, उनसे मुक्त होना चाहता है, पर राग से नहीं हटता, जो असली मुक्ति की ओर बढ़ने में बेड़ी की तरह पैरों में आ पड़ा है। तो संसारी पदार्थों की आसक्ति छोड़कर मन जब इनमें दोष, दृष्टि करेगा, तो सहज ही वैराग्य हो जायगा। और विषयों को उपेक्षा की दृष्टि से देखने वाले के मन में कभी असंतोष भी नहीं आयेगा। शोक भी उसे नहीं होगा और मान-अपमान भी उसे सुख या क्लेश नहीं पहुँचाएँगे। उसकी दृष्टि में समभाव आ जायगा। भगवान् ने गीता में कहा है:—

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१२।१९॥

अर्थात् जो निन्दा-स्तुति को समान समझने वाला और मननशील है एवं जिस-किस प्रकार भी शरीर का निर्वाह होने में संतुष्ट है और रहने के स्थान में भी जिसकी ममता नहीं, वह स्थिर बुद्धिवाला भक्त मेरे को प्रिय है। तो ऐसी स्थिति में यदि हम

अपने को ले जाना चाहते हैं, तो हमें सर्वप्रथम इस चंचलाति-चंचल मन को संसार की ओर हटाने और भगवाने की ओर लगाने का अत्यन्त दृढ़ संकल्प कर लेना चाहिए। मन में भगवान् आया तो निर्वाण-सुख भी दूर नहीं।

---

## देहात्मावाद त्यागो

इस शरीर में आकर हमें आत्मा की खोज करनी चाहिए, ऐसा शास्त्र का कथन है। इस ओर प्रवृत्त होने के लिए हमें "मैं कौन हूँ" इसी का अनुसंधान करना चाहिए। क्या पंच महाभूतों से बना शरीर ही आत्मा है? क्या यह राग-द्वेष, मान-अपमान आदि विकारों से ग्रसित शरीर-मन आदि ही आत्मा हैं? शरीर का अपमान होने पर हम अपना अपमान मानते हैं, शरीर को कष्ट होता है, तो हम दुःखी होते हैं। तो देखना यही है कि हम हैं कौन? क्या शरीर ही हमारा वास्तविक स्वरूप है? ब्रह्म अथवा आत्मा को इन्द्रियातीत कहते हैं, शरीर इन्द्रियगोचर है। वह चेतन है, नित्य है; शरीर जड़ है, नश्वर है। शरीर को ऐसे स्थान की उपमा दी है जहाँ मल-मूत्र त्यागा जाता है। मनु ने कहा है कि यह शरीर रूपी मकान महाअपवित्र है। हड्डियाँ इसमें स्तम्भ हैं, स्नायुमण्डल की रस्सियों से यह स्तम्भ बँधे हैं और शोणित एवं मांस इस पर लेप, पलास्तर हो रहा है। तो इस चर्म के कारण अन्दर की अपवित्रता ढक रही है। "विवेक चूड़ामणि" में भगवान् शंकराचार्य ने लिखा है :—

त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंकुलम् ।
पूर्णं मूत्रपुरीषाभ्यां स्थूलं निन्द्यमिदं वपु ॥

त्वचा, मांस, रक्त, स्नायु, मेद, मज्जा और अस्थियों का समूह तथा मल-मूत्र से भरा हुआ यह स्थूल देह अति निन्दनीय है। इसमें—जन्ममृत्युजराव्याधिदुखदोषानुदर्शनम्—बारम्बार जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, दुःख देखने चाहिएँ और दिख रहे हैं। तो यह शरीर तो रोगों का घर है। धन्वन्तरि, जो विष्णु के अवतार माने जाते थे, उन्हें भी रोग हुआ। स्वर्ग में देवताओं को भी रोग होते हैं, इसीलिए वहाँ अश्वनिकुमारों की आवश्यकता रहती है। रोगों से यह बराबर क्षीण होता रहता है। तुलसीदास जी ने इसका स्वरूप संक्षेप से बताया—"छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा।" तो पंच महाभूत से बना शरीर अत्यन्त अधम है। शास्त्रों में सर्वत्र इसकी निन्दा है। इस भूतों के घर को ही अपना घर नहीं समझना चाहिए। यह हमारा सच्चा स्वरूप नहीं। देहात्मवादी शरीर के अपमान को ही अपना अपमान समझकर झगड़ा मोल ले बैठते हैं। यही देहाभिमानियों की सबसे बड़ी पहचान है। अनादि काल से जीव इस भ्रम में पड़ा है। जिस प्रकार अन्धकार में ठूँठ को चोर और मरुथल में जल का निश्चय हो जाता है, इसी प्रकार मूढ़ पुरुषों ने देह को ही आत्मा समझ लिया है। ऐसे देहात्मवादियों के सम्बन्ध में 'महिम्नस्तोत्र' में कहा है कि वे दूसरों को हानि पहुँचाने के लिए ही यज्ञादि कर्मों में भी प्रवृत्त होते हैं, जैसे दक्ष प्रजापति ने किया। यदि दक्ष प्रजापति आत्मा के उस स्वरूप को जानते जिसे श्रुति ने कहा है—

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं
सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति ।

दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च
पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥ मुंडक० ३।१।७

वह दिव्य, महान् और अचिन्त्य रूप है। वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर भासमान होता है और दूर से भी दूर और इस शरीर में अत्यन्त समीप भी है। वह चेतनावान् प्राणियों में इस शरीर के भीतर उनकी बुद्धि रूप गुहा में छिपा हुआ है। तो इस आत्मा के स्वरूप को वह जानते तो शिव का अपमान करने के लिए यज्ञ न करते। 'महिम्नस्तोत्र' में आया है—

क्रियादक्षो दक्षः क्रतुपतिरधीशस्तनुभृता—
मृषीणामार्त्विज्यं शरण सदस्याः सुरगणाः।
क्रतुभ्रंशस्त्वत्तः क्रतुफलविधानव्यसनिनो
ध्रुवं कर्तुः श्रद्धाविधुरमभिचाराय हि मखाः॥

दक्ष प्रजापति एक बार देवताओं की सभा में गये थे। वहाँ इनके पहुँचते ही सारे देवता, ब्रह्मा-विष्णु भी खड़े हो गये और जब तक यह न बैठे तब तक वे भी नहीं बैठे। ऐसा नियम है, किसी महान् व्यक्ति के आने पर उसका आदर खड़े होकर करना चाहिए। लेकिन शिवजी, जो दक्ष प्रजापति के जामाता थे, बैठे ही रहे। यह तो स्वात्माराम ठहरे। द्वैत दर्शन का नाम नहीं, इसलिए क्यों किसी की खुशामद में खड़े होते? खुशामद तो वह करता है जिसकी कोई वासना अधूरी रह गई हो। लिप्सा ही दूसरे की खुशामद करवाती है। तो शिवजी खड़े हुए नहीं, और दक्ष प्रजापति ने इसे अपना बड़ा भारी अपमान माना। ब्रह्मा-विष्णु तक तो खड़े हुए और यह नग्नवेश, सर्प लपेटे, भस्म रमाए, कपालों की माला पहने जो शिव हैं, अमंगल वेश यह बैठे ही रहे! जामाता होकर बैठा रहा! देवताओं की सभा में, कहीं साधारण स्थान में भी नहीं, ऐसा भारी अपमान! देहात्मवादी तो यह चाहता है कि मेरा सब मान करें, अतः दक्ष को

यह अपमान "मरणकोटि सम दारुण दाहू"—करोड़ों मरण के समान पीड़ा देने वाला सिद्ध हुआ। बदला लेने की भावना उसके भीतर उदय हुई। बदला तो उससे लिया जाता है जिसको हम अपमान के बदले में अधिक अपमानित कर सकें—जो हमारे जैसा हो। दक्ष देहात्मवादी और शिव स्वात्माराम, तो शिव से क्या बदला! उनकी तो ब्रह्मनिष्ठ की स्थिति है, उनके पास कोई अनात्म पदार्थ नहीं। जिन वस्तुओं को देखकर उन्हें निर्धन, कंगाल और अमंगल वेश कहा जाता है, वे तो वस्तुतः उनमें सभी कामनाओं की समाप्ति और पूर्ण वैराग्य एवं आत्म-दर्शन की परिचायक हैं। वह कैसे हैं, पुष्पदन्त ने गाया है :—

महोक्षः खट्वाँगं परशुरजिनं भस्म फणिनः
कपालं चेतीयत्तव वरद तंत्रोपकरणम् ॥
सुरास्तां तामृद्धिं दधति भवद्भ्रूप्रणिहितां
न हि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति ॥

उनके घर की तलाशी लो तो क्या मिलेगा? बाहर तो एक बूढ़ा बैल बंधा होगा, अन्दर खाट के पावे जैसा एक अस्त्र पड़ा होगा, एक फरसा होगा, मृगचर्म मिल जायगा और सर्प एवं कपाल भी होंगे, बस यही उनकी सम्पत्ति है। लेकिन ऐसी सम्पत्ति वाला ही वह शिव महान् ऐश्वर्य वाला भी है। उनकी ऋद्धि-सिद्धि लेकर ही देवता लोग सम्पन्न हैं। अपने पास वह कुछ नहीं रखते क्योंकि जो स्वात्माराम है, जिसकी स्थिति ऐसी है कि जो—"आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः।" (मुंडक ३।१।४) [आत्मा में क्रीडा करने वाला, आत्मा में ही रमण करने वाला क्रियावान् पुरुष ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठतम है।] वह मृगतृष्णा से भ्रमित नहीं होता। उसकी तो कोई इच्छा ही नहीं रह गई है। जिसकी परमात्मा में ऐसी स्थिति है वह तो—

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ १३।२८

सब में समभाव से स्थित हुए परमेश्वर को समान देखता हुआ शरीर का नाश होने पर भी अपना अथवा आत्मा का नाश नहीं मानता और परमगति को प्राप्त होता है, फिर यहाँ तो ब्रह्मनिष्ठ शिवजी का उल्लेख है। उनमें कोई विकार नहीं। अनात्म पदार्थों से उनका कोई संग नहीं। उनकी निर्विकारिता बताते हुए एक कवि ने लिखा है—

सर्प बिषैले उर रहहिं, डर हर को नहिं होय।
सीस बिराजै ससिसुधा, ता महँ राग न होय॥
मुण्डमाल रहि कण्ठ महिं शिव न अपावन होय।
पावन धारा गंग की निर्मल को क्या धोय?
राख चिता की तन मलै घृणा न मन महिं आय।
गौरी के तन परस सौं नहिं विकार उपजाय॥
स्वस्थ रहहि हर हर दसा नहिं अनात्म महिं लीन।
होवइ दरसन आत्म को पावइ सुख अविछीन॥

तो ऐसे स्वात्माराम महादेव का अपमान करने की सोची मूढ़ दक्ष ने। अपना मान बढ़ाने के लिए और जामाता शिव को ही अपमानित करने की दृष्टि से उसने बड़ा भारी यज्ञ रचा। बड़े-छोटे सभी देवताओं को आमंत्रित किया और उनके लिए बहुत सुन्दर प्रबंधादि किए; परन्तु शिवजी को निमन्त्रण नहीं भेजा। शिवजी तो सर्वज्ञ ठहरे। सब जान गए। अज्ञानी पुरुष द्वारा स्तुति अथवा निन्दा होने पर विवेकी प्रसन्न-अप्रसन्न नहीं होता। शिवजी को किंचित भी रोष नहीं हुआ; क्योंकि वह तो त्रिगुणातीत हैं। और गुणातीत का स्वभाव है कि—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टश्मकांचनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥१४।२४-२५॥

वह निन्तर आत्मभाव में स्थित हुआ दुःख-सुख को समान समझने वाला है तथा मिट्टी-पत्थर और सुवर्ण में समान भाव वाला है और प्रिय-अप्रिय को बराबर समझता है और अपनी निन्दा-स्तुति में भी समान भाव वाला है, मान-अपमान में भी सम है, मित्र-बैरी के पक्ष में भी सम है और सम्पूर्ण आरम्भों में कर्तापन के अभिमान से रहित है। इसलिए शिवजी तो चुप बैठे रहे। लेकिन दक्ष की पुत्री सती ने जब आकाश-मार्ग से देवताओं के विमान जाते देखे तो उससे न रहा गया। शिवजी से पूछा—"यह देवतागण आज किधर जा रहे हैं?" शिवजी ने बात टालदी, लेकिन सती ने हठ किया। अंत में शिवजी को बताना पड़ा। पूछेउ तब सिवँ कहेउ बखानी। पिता जग्य सुनि कछु हरषानी। अब सती पिता के घर जाने का हठ करने लगी। शिवजी ने कहा—"देखो हमें निमन्त्रण नहीं आया है। ब्रह्मसभाँ हम सन दुखु माना। तेहि ते अजहुँ करहिं अपमाना॥ जौं बिनु बोले जाहु भवानी। रहइ न सीलु सनेहु न कानी॥"

परन्तु सती बोली—"पिता, प्रभु, मित्र और गुरु के घर बिना बुलाए जाने में भी कोई हानि नहीं।"

"यह सत्य है"—शिवजी ने फिर समझाया, "तदपि बिरोध मान जहँ कोई। तहाँ गए कल्याण न होई।" शिवजी ने इस प्रकार सती को बहुत समझाया, पर उन्होंने एक न सुनी। तब महादेवजी ने कुछ मुख्य गण संग कर दिए और उन्हें जाने दिया। अब सती दक्ष के यहाँ आई। कहाँ तो पहले दक्ष मार्ग में ही पुत्री का स्वागत करने आ जाता था, वहाँ अब सती के घर पहुँचने पर भी उससे कोई बोला नहीं। केवल माता तो अवश्य तनिक मुसकराकर बोली। कुशल-क्षेम पूछ लिया। अब सती

यज्ञभूमि देखने चलीं। वहाँ देखा तो सभी देवताओं का स्थान सुरक्षित है, लेकिन शिवजी के लिए कोई स्थान नहीं।

तब चित चढ़ेउ जो संकर कहेऊ।
प्रभु अपमान समुझि उर दहेऊ॥
× × ×
जद्यपि जग दारुन दुःख नाना।
सबतें कठिन जाति अवमाना॥

ऐसा सती ने विचार किया और क्रोधवश सभी देवताओं को फटकारा कि "मैं तो दक्ष से उत्पन्न यह शरीर त्यागती हूँ, पर आप सबको शिव का अपमान करने का फल अभी मिल जायगा।" इस प्रकार सती ने यज्ञाग्नि में कूदकर प्राण त्याग दिए। शिव-जी के गण यज्ञ विध्वंस करने लगे। देवताओं को प्राण बचाने भारी हो गए। दक्ष भी बकरे का मुँह बनाकर भागा। शिवजी के मुख्य गण वीरभद्र ने उसे पकड़कर शिवजी के सम्मुख प्रस्तुत किया, पर शिवजी ने उसे छोड़ दिया। आज भी शिवजी की प्रार्थना करते समय "बम्-बम्" की आवाज, जो बकरे से मिलती-जुलती है, की जाती है। इससे सिद्ध होता है कि भगवान् को अपमानित करने वाला स्वयं जन्म-जन्म तक अपमानित होता है। तो ऐसे देहाभिमानी दक्ष का, जिसने पहले हजारों यज्ञ किये थे, जिसके यहाँ हवि ग्रहण करने वाले देवता साक्षात् विराजमान थे, कर्म-फल देने वाले शिव स्वयं जिसके सम्बन्धी थे, सर्वनाश हो गया। मानस में आता है—सिव द्रोही मम दास कहावइ। सो नर सपने मोहि न भावइ॥ तो इसलिए देहाभिमान को छोड़ देना चाहिए। अपमान क्या है? शरीर का है, या आत्मा का, यह समझें। यह सत्य है कि अपमान को सहना बहुत कठिन होता है। हंस-गीता में लिखा है कि धनुष-रूपी वाणी से जो कठोर शब्द-रूपी बाण निकलता है, वह मर्म को बेध डालता है। मर्म वह स्थान

है जहाँ तनिक सी चोट भी बहुत पीड़ा दे। तो मर्म को बेधता है कठोर शब्द और उससे ऐसा घाव होता है जो सदा रहता है, कभी भरता नहीं। तलवार का घाव भर जाता है, पर कठोर वाणी का नहीं। जिसे लगता है वह सोच-ही-सोच में कृश होकर मर जाता है। इसलिए विद्वान्, विवेकी तो ऐसे कठोर शब्द निकालते ही नहीं। देह को निमित्त मानकर किसी का मान-अपमान वही करेगा जो स्वयं अविवेकी और देहाभिमानी होगा। शास्त्रों में सर्वत्र देह को क्षणभंगुर, नाशवान, अपवित्र कहकर इसकी निन्दा की गई है। उससे कोई ज्ञानी विचलित नहीं होता, शोक को प्राप्त नहीं होता; क्योंकि उसमें देहात्मवाद की गंध नहीं। जिसे देहाभिमान है, वह दक्ष की तरह अपना सर्वनाश बुला लेता है और जिसे देहाभिमान ने छुआ भी नहीं है वह शिव की भाँति सदैव आत्मसुख की अनुभूति करता है। जो निन्दात्मक शब्द सुनकर क्रोध को प्राप्त होता है, वह अज्ञानी है, वह नहीं जानता कि शब्द का आत्मा से स्पर्श नहीं। दुर्वचन सुनकर भी जिसने अन्दर छिपे वैरी क्रोध को बाहर न आने दिया, वही देहाभिमान को शनैः-शनैः छोड़ पायेगा। मान-अपमान के चक्कर में पड़ने वाला आपत्तियों को बुलाता है और मान्-अपमान को छोड़नेवाला संपत्ति ग्रहण करता है। इसीलिए देहासक्ति की निन्दा करते हुए भगवान् शंकराचार्य ने कहा—

शरीर पोषणार्थी सन् य आत्मानं दिदृक्षति।
ग्राहं दारुधिया धृत्वा नदीं तर्तुं स इच्छति॥

अर्थात् "जो शरीर पोषण में लगकर आत्म-तत्त्व को देखना चाहता है वह मानो काष्ठ-बुद्धि से ग्राह को पकड़कर नदी को पार करना चाहता है।" और भी कहा—

मोहं जहि महामृत्युं देहदारसुतादिषु।
यं जित्वा मुनयो यान्ति तद्विष्णोः परमं पदम्॥

देह, स्त्री और पुत्रादि में मोह रूप मृत्यु को छोड़; जिसको जीतकर मुनि जन भगवान् के उस परम पद को प्राप्त होते हैं। तो इसलिए मुमुक्षु को देहाभिमान छोड़कर आत्मा के स्वरूप को जानने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

---

## मनोदृश्यमिदं द्वैतम्

जीवात्मा को ब्रह्म का अंश अथवा तद्रूप ही कहा है। भगवान् भी स्वयं गीता में कहते हैं:—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥१५।७॥

अर्थात् "हे अर्जुन ! इस देह में यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है। जैसे-विभाग-रहित स्थित हुआ भी महाकाश घटों में पृथक-पृथक् प्रतीत होता है, वैसे ही सब भूतों में एक-ही रूपसे स्थित हुआ भी परमात्मा पृथक्-पृथक् प्रतीत होता है। इसी से देह में स्थित जीवात्मा को भगवान् ने अपना सनातन अंश कहा है। ( वही इन त्रिगुणमयी माया में स्थिति हुई मन सहित पाँचों इन्द्रियों को आकर्षण करता है। ) तो यह जीवात्मा परमात्मा का अंश होते हुए भी ऐसा कोई पृथक् भाग नहीं है, जैसा लकड़ी का टुकड़ा। ऐसा तो तभी संभव होता जबकि परमात्मा अवयववाला और खंडवाला होता। ब्रह्म तो निरवयव और अखंड है। जिस तरह सोने की डली से थोड़ा सोना काट लें, तो वह भी उसी गुणधर्म वाला सोना ही रहेगा, अथवा अग्नि से निकली हुई चिनगारी भी अग्नि की तरह ही गुण-धर्म वाली

रहेगी। श्रुति कहती है—

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ॥
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥ (मुण्डक २।१।१)

अर्थात् यह अक्षर ब्रह्म सत्य है। जिस प्रकार अत्यन्त प्रदीप्त अग्नि से उसके समान रूप वाले हजारों स्फुलिङ्ग निकलते हैं, हे सोम्य! उसी प्रकार उस अक्षर से अनेकों भाव प्रकट होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं। विष्णु पुराण में कहा भी है:—

एकः शुद्धोऽक्षरो नित्यः सर्वव्यापी तथा पुमान्।
सोऽप्यंशः सर्वभूतस्य मैत्रेय परमात्मनः ॥६।४।२६॥

अर्थात् "हे मैत्रेय! एक पुरुष जीवत्मा जोकि अविनाशी, शुद्ध, नित्य और सर्वव्यापी है, वह सर्वभूतमय विज्ञानानन्द घन परमात्मा का अंश ही है।" परमात्मा का अंश होते हुए भी अर्थात् स्वरूप से गुणातीत होते हुए भी हम इसे सुखी-दुःखी होते देखते हैं। इसका कारण यह है कि इसने अपने स्वरूप को ठीक नहीं पहचाना और मायिक स्वरूप, देहादि जड़ प्रपंच को ही अपना सच्चा स्वरूप मान लिया है।

मन का ऐसा स्वभाव है कि वह विषयों को, संसार के बाहरी पदार्थों को मायिक रूप से ग्रहण करता है और उनसे इस जीव को सुख-दुःख की प्रतीति होती है। बाहर के पदार्थों का मन पर प्रतिबिम्ब पड़ता है। ये हमारी इन्द्रियाँ दर्पण के समान हैं। नेत्र पर जब किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तो उसे मन ग्रहण करता है। बाहर के पदार्थों का ज्ञान हमें इस प्रकार हो जाता है। लेकिन कुछ लोग इस सिद्धान्त को सही नहीं मानते। और यह ठीक प्रतीत भी नहीं होता, क्योंकि जब कोई पदार्थ आँख के

सामने नहीं होता, तब भी उसकी प्रतीति मन में होती है। जैसे स्वप्नकाल में कोई वस्तु हमारे सामने नहीं होती, फिर भी हम एक विलक्षण प्रपंच देखते हैं। तो मन में प्रतिबिम्ब का दर्शन होना, यह सिद्धान्ततः गलत ठहरा। यह इसलिए भी ग़लत है कि कई बार हमें पदार्थ का सामने रहते हुए भी सही ज्ञान नहीं होता। उदाहरणार्थ, सामने होती रस्सी है, हम उसमें देखते सर्प हैं। अतः कुछ लोगों ने ऐसा मान लिया कि प्रतिबिम्ब न सही, अन्तःकरण ऐसी वस्तु है जिस पर बाह्य पदार्थों की छाप लग जाती है, फ़ोटो उतर आता है। फोटो वस्तु के अभाव-काल में भी रहता है। पर यह सिद्धान्त भी ग़लत है; क्योंकि फ़ोटो तो एक प्लेट पर एक ही लिया जा सकता है, पर इस मन में संसार की अनन्त वस्तुओं के चित्र रहते हैं। ऐसा हो नहीं सकता कि मन के कैमरे में सहस्रों प्लेट हों। उसका आकार इतना बड़ा नहीं। श्रुति तो हृदय को अंगुष्ठ-मात्र परिमाण वाला बताती है—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
हृदा मन्वीशो मनसाभिक्लृप्तो
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥(श्वेत० ३।१३)

अर्थात् यह अङ्गुष्ठमात्र पुरुष, अन्तरात्मा, सर्वदा जीवों के हृदय में स्थित, ज्ञानाधिपति एवं हृदयस्थित मन के द्वारा सुरक्षित है। जो इसे जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं। अतः मन में हरेक वस्तु का अलग-अलग चित्र उतरता रहता हो और संग्रहीत भी रहता हो, ऐसा नहीं है। वेदान्त का सिद्धान्त है, अन्तःकरण प्रकाशरूप है। प्रकाश का स्वभाव होता है फैलना, जैसा कि जल और पवन का भी स्वभाव है। मन तैजस पदार्थ है, क्योंकि सत्व का अंश है। और सत्व से ज्ञान उत्पन्न होता है। 'सत्वात् संजायते ज्ञानः।'

इसलिए मन, अन्तःकरण के सामने जब कोई बाह्य पदार्थ आता है तो अन्तःकरण का प्रकाश नेत्र द्वारा निकलता और फैलता है सामने वाले पदार्थ तक। और यही प्रकाश तदाकार हो जाता है। जल का जैसे कोई आकार नहीं, उसे थाली में डालें तो थाली का आकार वह ले लेगा, गिलास में डालें तो गिलास का आकार ले लेगा और लोटे में डालें तो लोटे का आकार ले लेगा। इसी प्रकार हवा का कोई आकार नहीं। गोल कमरे में उसका आकार गोल है, खाली गिलास में उसका आकार गिलास का जैसा है। इसी तरह मन का प्रकाश जिस-जिस वस्तु के साथ सम्बन्धित होगा, वैसा-वैसा ही मन का आकार हो जायगा। दूसरा पदार्थ सामने आयेगा तो पहले को छोड़कर उसी पदार्थ के साथ वह तदाकार हो जायेगा। और यदि एक साथ अनेक पदार्थों को देखना चाहता है, तो अनेक पदार्थों के साथ भी तदाकार हो जाता है। कोई पदार्थ इसके सामने नहीं तो यह निराकार भी देखने में आता है। स्वप्न में कई बार विलक्षण पदार्थ भी देखता है। तो इसका कारण है, मन पर पड़े संस्कार। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि इस जन्म में जो वस्तु न देखी हो, अथवा जो आगे देखनी हो, उसका आकार भी पिछले जन्म के संस्कारोंवश इसे देखने को मिल जाता है। 'प्रश्नोपनिषद्' में स्वप्नदर्शन का स्पष्ट वर्णन आता है :—

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति। यद्दृष्टं दृष्टमनुपश्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुश्रृणोति। देश दिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति ॥ (प्रश्न ४।५)

अर्थात् इस स्वप्नावस्था में यह देव अपनी विभूति का अनुभव करता है। इसके द्वारा जाग्रत अवस्था में जो देखा हुआ होता है, उस देखे हुए को ही यह देखता है, सुनी-सुनी बातों को ही सुनता है तथा दिशा-विदिशाओं में अनुभव किये हुए को ही पुनः पुनः

अनुभव करता है। अधिक क्या, यह देखे, बिना देखे, सुने, बिना सुने, अनुभव किए, बिना अनुभव किए, सत् और असत् सभी प्रकार के पदार्थों को देखता है और स्वयं भी सर्व-रूप होकर देखता है। अतः पदार्थों का ज्ञान इसे इन्द्रियों द्वारा होता है; मन इन्द्रियों द्वारा बाहर जाता है, और तदाकार हो जाता है। उसे हम अपने साक्षी, कूटस्थ, चेतन, द्रष्टा द्वारा देखते हैं। इसका कारण यह है कि मन ही आत्मा को बाहरी वस्तुओं से जोड़ता है। इसीलिए 'बृहदारण्यक' में आता है :—

"न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान् मुदः प्रमुदः सृजते.... वेशान्तान् पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते।" (बृहदारण्यक० ४।३।१०)

अर्थात् स्वप्नावस्था में यह जीवात्मा स्थूल शरीर को स्वयं अचेत करके वासनामय नये शरीर की रचना करके जगत् को देखता है। उस अवस्था में सचमुच न होते हुए भी रथ, रथ को ले जाने वाले वाहक और उसके मार्ग को तथा आनन्द, प्रमोद, मोद की एवं कुण्ड, सरोवर और नदियों की रचना कर लेता है।

इसमें भी कुछ लोग शंका करते हैं, वे कहते हैं कि शरीर के भीतर दो आत्मा हैं; एक सोता है, दूसरा स्वप्नावस्था में बाहर जाता है। प्रथमतः तो दो आत्मा मानना ही ग़लत है। यदि मान भी लें तो एक आत्मा तो स्वप्न में स्नान कर रहा है हरिद्वार में, और हम यहाँ सोये हुए व्यक्ति को आवाज़ दें तो वह जाग उठता है। तो स्नान करने वाला आत्मा इतनी जल्दी कैसे लौट सकता है? लौटेगा तो उसका शरीर, वस्त्रादि भीजे हुए होने चाहिएँ। पर ऐसा देखने में नहीं आता। फिर स्वप्न रात में आए दो बजे, और वह देखे हज़ारों की भीड़ गंगा में स्नान कर रही है, पर इतनी रात में हज़ारों तो क्या कोई इक्का-दुक्का भी स्नान करते हुए न

मिलेगा। इसलिए बाहर कोई आत्मा नहीं जाता स्वप्नावस्था में, वह सब कुछ मन के संकल्प-संस्कारों से अन्दर ही देखता है। कुछ लोग मानते हैं कि दिन में देखे हुए को रात में स्मरण करता है, ऐसा स्वप्न का स्वरूप है, पर यह भी ठीक नहीं। स्मरण करने में वस्तु सामने नहीं आती, पर स्वप्न देखने वाला उठकर कहता है कि मैंने हाथी देखा या अमुक व्यक्ति को रोते-हँसते देखा इत्यादि।

स्वप्न में मन इतना सब प्रपंच पिछले संस्कारों के कारण ही खड़ा करता है। कुम्हार को घड़ा बनाने के लिए मिट्टी, चाक, दण्ड, धागा इत्यादि सामग्री जुटानी हो सकती है, पर मन के पास संस्काररूपी सामग्री बड़ी मात्रा में विद्यमान रहती है। सारा द्वैत प्रपंच नया ही खड़ा करता है और यह सब मनोमय ही होता है, सत्य नहीं। सिद्धान्त है कि—

मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्॥ (ब्रह्मसूत्र ३।२।३)

स्वप्न की सृष्टि वास्तविक नहीं। जीव को कर्मफल का भोग कराने के लिए भगवान् अपनी योगमाया से उसके कर्म-संस्कारों की वासना के अनुसार वैसे दृश्य देखने में उसे लगा देते हैं, अतः स्वप्न-सृष्टि तो माया-मात्र है। जगत् की भाँति सच्ची नहीं। वहाँ तो जो कुछ देखा जाता है वह अनियमित और अधूरा ही देखा जाता है। (फिर भी स्वप्न सर्वथा व्यर्थ नहीं, उससे भविष्य में होने वाले शुभाशुभ परिणामों की सूचना मिलती है।) मन ही इस द्वैत प्रपंच को जन्म देता है। 'माण्डूक्यकारिका' में लिखा है :—

मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत्किंचित्सचराचरम्।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते॥

अर्थात् यह जो कुछ चराचर द्वैत है, सब मन का दृश्य है; क्योंकि मन का अमनीभाव या संकल्पशून्यत्व हो जाने पर द्वैत की

उपलब्धि नहीं होती। जब मन नहीं रहता, अर्थात् बाह्य विषयों का आकार ग्रहण नहीं करता, जैसे सुषुप्ति या समाधि में, तो द्वैत की उपलब्धि नहीं होती। तो मन का बाहरी पदार्थों से गहरा सम्बन्ध होने के कारण ही जीवात्मा अपने ईश्वरीय गुणों को, अद्वैत भाव को भूला हुआ है और शरीरों के साथ एकता को प्राप्त करके बैठ गया है। आत्मा को अपने से अलग मानने लगा है। मन जब बाह्य पदार्थों के साथ ही तदाकार होगा, उन्हें नित्य मानेगा और अज्ञानवश ब्रह्म की सर्वव्यापकता नहीं देखेगा तभी द्वैत खड़ा हो जायगा। वस्तुतः द्वैत है कहाँ? तो मन जब तक संसारी है, तब तक द्वैत है। मन में संसार नहीं है, भगवान् है, तो अद्वैत है। मन को जिधर लगाओगे यह वैसा ही हो जायगा, जैसा कि ऊपर कहा—इसका स्वभाव है तदाकार होना। एक कवि ने कहा है—

जो मन नारि के संग लगै तो मन होवइ नारि के रूपा।
जो मन ब्रह्म की ओर लगै तो होवइ यह ब्रह्म सरूपा॥

इसलिए इस मन को अमन बनाना है। अमन, यानी संसार से पृथक्, संसार से शून्य और परमात्मा से परिपूर्ण। अमन हुए बिना उस ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकते; क्योंकि श्रुति ने उसे भी अमन ही बताया है—

अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः। (मुण्डक २।१।२)

वह ब्रह्म अप्राण, अमन या मनोहीन, विशुद्ध एवं श्रेष्ठ अक्षर से भी उत्कृष्ट है। इसलिए उस ब्रह्म को जानने के लिए अमन होना पड़ेगा। जब सत्संग, शास्त्र और गुरु कृपा से इसे यह पता चलता है कि आत्मा ही सत्य वस्तु है, तो बाहरी संकल्प इसमें नहीं आते और तब यह अमन हो जाता है। और जब अमन होगा तो कोई संकल्प इसमें आयेगा भी नहीं। साथ ही सारा द्वैत प्रपंच समाप्त हो जायगा और द्वैत समाप्त होने पर दुःख भी समाप्त हो जायगा।

इसीलिए मुनि, शास्त्र, आचार्य हमें आत्म-चिन्तन में मन लगाने का उपदेश करते हैं। मन को ईश्वर में लगाने और उससे संसार को बाहर निकालने से कुछ लोग डरते हैं। वह सोचते हैं, मन से संसार निकल गया तो हमारा व्यवहार रुक जायगा। पर ऐसी बात नहीं है। जन्म लेने के बाद छोटे बच्चे का मन दुःख अथवा सुख देने वाले पदार्थों में नहीं जाता, पर उसे दुःख-सुख होते हैं और उसका व्यवहार भी सब चलता है। हम दुःख को मन में नहीं आने देना चाहते। अपनी मृत्यु में कौन जान बूझकर मन लगाता है? पर राह चलते के ऊपर वृक्ष की शाखा टूटकर गिर पड़ती है, उसका सिर फट जाता है, वह मर जाता है। तो इससे पता चलता है कि मन संसार में लगाओ या न लगाओ, व्यवहार रुक नहीं सकता। इसलिए संसार को दुःखरूप जानते हुए उसमें मन क्यों लगाया जाय? संसार तो मन को जबरन खींचता है। भगवान् की ओर मन लगाना और आत्मदर्शन के लिए सचेष्ट होना, संसार के व्यवहार में बाधारूप नहीं हो सकते। हमें तो वस्तुतः अपने स्वरूप की ओर ही जाना चाहिए। भगवान् अंशी हैं, हम उसके अंश हैं। वही ईश्वर अंतःकरण में आकर, हृदयस्थ होकर जीवात्मा है, बाहर वही व्यापक है। घटाकाश और महाकाश में अन्तर वास्तविक नहीं। जीव को अपने स्वरूप, आत्मा में प्रतिष्ठित होकर ही परमशान्ति मिल सकती है। जिस प्रकार नदी अपना नामरूप छोड़कर समुद्र में मिलती है, और शांत हो जाती है उसी प्रकार विवेकी साधक भी नामरूप से मुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त हो जाता है। अंश अंशी को प्राप्त हो जाता है। श्रुति दृष्टान्त देती है—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं
गच्छन्ति नामरूपे विहाय।

तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः

परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ मुण्डक (३।२।८)

मन ने ही इस जीवात्मा को इसके मूलस्वरूप से अलग किया हुआ है। दर्पण जिस प्रकार एक मुख के दो मुख दिखाता है, इसी तरह मन ब्रह्म के दो रूप दिखाता है। अन्तःकरण ने ब्रह्म के दो विभाग कर दिए—एक जीवात्मा, दूसरा परमात्मा। मन की उपाधि बीच से हट जाय, तो यह अपने मूलरूप को प्राप्त हो जाय और सच्ची शान्ति इसे मिल जाय। इसलिए ही शास्त्र में मन से द्वैत को हटाने पर ही बारम्बार जोर दिया जाता है। जिसने द्वैत को हटा दिया, अपने स्वरूप का दर्शन कर लिया, उसे फिर संसार में कोई कर्तव्य नहीं रह जाता। भगवान् ने कहा है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।

आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥३।१७

जो मनुष्य आत्मा में ही प्रीति वाला और आत्मा में ही तृप्त तथा आत्मा में ही संतुष्ट होवे उसके लिए कोई कर्तव्य नहीं है। स्वात्माराम मनुष्यों पर भगवान् की असीम कृपा होती है जगत् ही नहीं भगवान् भी उनकी सेवा करने के लिए लालायित हो जाता है। श्रीमद्भागवत में आता है—भगवान् ने कहा है—

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।

अनुव्रजाम्यहं नित्यं पुयेये त्वन्घ्रिरेणुना ॥

जो निरपेक्ष, मननशील, शान्तचित्त और सन में समानयव रखने वाले हैं—जिनका मन

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमास्मृता।

योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥६।१९

जो वायुरहित स्थान में अचल दीपक की लौ की तरह ही, निरन्तर परमात्मा के ध्यान में लगा है, जो शरीरों में भी भेद नहीं देखता, आत्मा की तो बात ही दूसरी है, और जिसके मनकी नौका को

वासना की हवा नहीं बहा ले जायगी, ऐसा व्यक्ति मिल जाय तो मैं उसकी चरण-रज सिर पर धारण कर लूँ। इसलिए ही मन में जब पूरी तरह भगवान् विराजमान् हो जाते हैं, तो फिर उन पुरुषों का काम भगवान् स्वयं करते हैं। उनकी प्रतिज्ञा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां येजनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

अर्थात् जो भक्तजन अनन्य भाव से मेरे में स्थित हुए मुझ परमेश्वर का ही निरन्तर चिन्तन करते हैं और निष्काम भाव से पूजते हैं, उन नित्य एकीभाव से मेरे में स्थिति वाले पुरुषों का योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ। इस प्रकार जो भगवान् की ओर जाता है, उसे संसार के व्यवहार रुकने का भय नहीं रहता। भक्ति का तो प्रथम लक्षण अभय होना ही बताया है। ऐसा निर्भय हो जाय तो कुछ बिगड़ेगा नहीं; बिगड़ेगा भी तो शोक नहीं होगा; क्योंकि संसारमात्र माया का कार्य होने से स्वरूप से बिगड़ने वाला ही है। हम इससे प्रेम कब तक करेंगे! भगवान् का नाम-गुण कीर्तन करते रहेंगे तो सबसे बड़ी सम्पत्ति, भगवद्दर्शन के रूप में हमें मिलेगी। यही मतलब हमें संसार में आकर सिद्ध करना चाहिए। संसार की सम्पत्ति, धन, स्त्री, पुत्र, मकान, वैभव और स्वयं अपना शरीर भी यदि आत्मदर्शन की प्राप्ति में बाधा हैं तो व्यर्थ हैं। तुलसीदासजी ने 'विनय-पत्रिका' में लिखा है :—

जाके प्रिय न राम-वैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।
तज्यो पिता प्रहलाद बिभीषन बंधु भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो कंत ब्रज-बनितन्हि भये मुद मंगलकारी॥
नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँख जेहि फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं॥

तुलसी सो भाँति परम हित पूज्य प्रान ते प्यारो।
जासों होय सनेह रामपद एतो मतो हमारौ॥

इसलिए ऐसा संसार हमें अच्छा नहीं लगना चाहिए जो ईश्वर से विमुख बनाए। वास्तव में मन ने ही हमें संसार का रूप ग्रहणकर उसके साथ एकता प्राप्त करा दी है। आत्मा में इस मन की उपाधि के कारण ही सुख-दुख की अनुभूति हो रही है। मन को बार-बार द्वैत से, सांसारिक प्रपंच से हटाना भी है कठिन है; क्योंकि अर्जुन ने कहा है—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढ़म्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ ६।३४

यह मन वश में करना बड़ा कठिन है, क्योंकि यह प्रमथन स्वभाव वाला और वायु की तरह चंचल है। परन्तु भगवान् ने मन को वश में करने का उपाय भी बताया है—

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण गृह्यते। ६।३५॥

हे अर्जुन! अभ्यास और वैराग्य से इसे वश में किया जा सकता है। महर्षि पतञ्जलि ने भी अपने 'योग-दर्शन' में बतलाया है कि—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः॥ १।१२

चित्त की वृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य से ही होता है, तो इस प्रकार मन को वश कर लेने पर ही यह संसार से हटकर अमन होगा। अमन होना और फिर आत्मा का दर्शन करना ही इसे मृत्यु से भी बचाएगा, अन्यथा कोई मन्त्र, जप, तप, औषधि ऐसी नहीं जो इसे जन्म-मरण के भय से छुटा दे। मन से द्वैत हटाकर अद्वैत का सही दर्शन होने पर ही इसकी मुक्ति सम्भव है।

---

# अभिमान ही बन्धन है

हमारे शरीर में आत्मा ज्योतिरूप से विराजमान है। वह है तो ज्योति है और वह जहाँ नहीं है वहाँ अन्धकार है। वह आत्मा इस शरीररूपी उद्यान में सैर करने आया है। शरीर और संसार उसकी क्रीड़ा-भूमि है। जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति यह तीन अवस्थाएँ और स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण, तीन शरीर उस आत्मा के आराम, (बगीचा) हैं। वह एक ही बगीचे में भ्रमण नहीं करता। कभी जाग्रत के उद्यान में है, तो कभी स्वप्न के उद्यान में और कभी सुषुप्ति के बगीचे में भी घूमता है। मनुष्य का ऐसा स्वभाव पड़ गया है कि वह बगीचे को देखकर ही प्रसन्नता एवं आश्चर्य प्रकट करता है। उस बगीचे का भोक्ता कौन है, वह क्रीड़ा करने वाला कौन है, यह वह नहीं देखता।

'बृहदारण्यकोपनिषद्' में याज्ञवल्क्य ने राजा जनक को आत्मा का उपदेश करते हुए बताया—"सब लोग उसके आराम (क्रीड़ा की सामग्री)को ही देखते हैं, उसे कोई नहीं देखता।"

"आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यन्ति कश्चनेति।" ४।३।१४ ॥

तो हम अपने शरीर को ही देखते हैं, शरीररूपी बगीचे में जो स्वतन्त्र होकर विचर रहा है, उस आत्मा को नहीं देखते। जैसे किसी पुराने राजप्रासाद में जाकर कोई घूम आए और देखे कि यहाँ राजा सोता था, यहाँ दरबार लगाता था, यहाँ अन्तःपुर था आदि और स्वयं राजा के सम्बन्ध में कोई जानकारी ही प्राप्त न करे, इसी प्रकार हमारी दृष्टि केवल शरीररूपी उद्यान तक ही सीमित हो गई है, यह उद्यान जिसकी क्रीडास्थली है, उसे हम जानने की चेष्टा नहीं करते। वह शुभ्र आत्मा इस उद्यान में ही ज्योति-स्वरूप होने के कारण स्वतन्त्र है, बँधा हुआ नहीं। इसमें रहकर भी इससे

असंग है। प्रकाश जिस प्रकार अपने प्रकाश्य के गुण-दोष से लिप्त नहीं, उसी प्रकार यह आत्मा भी शरीर के गुण-दोषों से असंग है। वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्यापक है, फिर भी किसी देहादि के गुण से लिपायमान नहीं।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ १३।३३ ॥

भगवान् ने गीता में कहा—हे अर्जुन! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्र, अपने जड़-वर्ग को प्रकाशित करता है; लेकिन फिर भी वह इसमें लिपायमान नहीं होता।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ १३।३२

जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त हुआ भी आकाश सूक्ष्म होने के कारण लिपायमान नहीं होता, वैसे ही सर्वत्र देह में स्थित हुआ भी आत्मा गुणातीत होने के कारण देह के गुणों से लिपायमान नहीं होता। सूर्य अच्छे-बुरे सभी पदार्थों को प्रकाशित करता है, पर किसी अपवित्र वस्तु की अपवित्रता उसमें नहीं आती, और न ही पवित्र वस्तु की पवित्रता लेकर वह पावन होता। वह तो सर्वथा असंग है। तो उस असंग, कूटस्थ, निर्दोष आत्मा को न देखकर हम वहाँ देखते हैं, जहाँ कि वह बैठता है, वह सोता है, वह चलता-फिरता है। क्रीडा-भूमि और क्रीड़ा करने वाला, दोनों भिन्न वस्तुएँ हैं। जाग्रत में यह क्रीड़ा करने वाला, कूटस्थ आत्मा स्थूल प्रपंचरूपी उद्यान की सैर करता है, खाता-पीता है, मित्रों-सम्बन्धियों से मिलता-जुलता है; पर वह उद्यान जिसमें वह घूमता है, उससे पृथक् है, वह उसमें भोक्ता होकर स्वतंत्र विचरता है; स्थान तो उसी पुरुष का शेष समझना चाहिए। तो जाग्रत प्रपंच

की क्रीड़ा भूमि को नहीं, हमें उसमें क्रीड़ा करने वाले को देखना चाहिए। वह जाग्रत में, स्वप्न में और सुषुप्ति में भ्रमण करता है, पर है एक। जाग्रत में अभिमान करने वाले उस आत्मा को विश्व कहा है, और स्वप्न में अभिमान करने वाले आत्मा को तैजस एवं सुषुप्ति के अभिमानी आत्मा को प्राज्ञात्मा कहा है। स्थान भेद से उसके तीन नाम हो गए हैं। जैसे श्रोत्र शब्द सुनते हैं, रूप को नेत्र देखते हैं, पर वस्तुतः देखने वाले को भिन्न नहीं मान सकते; दृश्य अलग-अलग दीखता है, पर देखने वाला वही है। क्रिया भिन्न होने से नामी भिन्न नहीं होता। इस प्रकार तीनों अवस्थाओं में वही ब्रह्म है। जिसने इन्द्रियों सहित मन को जीता है, वही इसका दर्शन कर सकता है। गीता में भगवान् ने बताया है—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥(५।६)

अर्थात्—हे अर्जुन निष्काम कर्मयोग के बिना मन-इन्द्रियों द्वारा होने वाले संपूर्ण कार्यों में कर्तापन का अभिमान नहीं होना कठिन है। भगवत् स्वरूप को मनन करने वाला निष्काम कर्मयोगी परब्रह्म को शीघ्र पा लेता है। लेकिन इन्द्रियों के विषय में फँस जाने के कारण यह जीव अपने आत्मा को पहचानने में असफल हो रहा है। जीव को माया का पुत्र बताया है, इसे कहीं-कहीं बिम्ब अथवा उपाधि का पुत्र भी कहा है। इसीलिए इसके दो नाम मायापुत्र और ब्रह्मपुत्र प्रचलित हैं। जिस प्रकार लोक में जब सन्तान मामा के यहाँ होती है, तो मा के नाम से जानी जाती है और पिता के यहाँ पिता के नाम से जानी जाती है। तो यह जीवात्मा भी अपने बिम्ब ब्रह्म के अधीन है और उपाधि के भी अधीन है। यदि दर्पणरूप उपाधि सामने न हो तो हमें मुख

का दर्शन नहीं होगा अथवा मुख दर्पण के सामने न ले जायँ तो भी मुख का प्रतिबिम्ब नहीं देखा जायगा। तो इस माया का काम जीव को ब्रह्म से अलग रखना ही है। माता अपने पुत्र को, अपने से दूर नहीं जाने देती, उसकी पुत्र में अधिक ममता होती है। तो यह माया हिरण्यगर्भ लोक तक तो इस जीव को जाने देती है। सोचती है, इस कल्प में नहीं लौटा तो अगले कल्प में तो लौट ही आयेगा। परन्तु जब देखती है कि यह कैवल्य-पद की ओर बढ़ रहा है, मुक्ति चाहता है तो बाधाएँ खड़ी करती है, प्रलोभन सामने फेंकती है। विवेकी साधक इसके चक्कर में नहीं आता, वह कल्याण का मार्ग जानता है। माता जिस प्रकार बच्चे के आगे खिलौने फेंककर उसका ध्यान बँटा देती है और स्वयं काम में लग जाती है, इसी प्रकार माया जीवात्मा को प्रलोभनों, सांसारिक विषयों में फँसा देती है। यह मुक्ति का मार्ग ही भूल जाता है। सत्संग, महात्माओं के उपदेश और शास्त्र इसे सावधान करते हैं, तो यह जागता है। तब इसे पता लगता है कि मुझे क्या करना चाहिए था और मैं क्या कर रहा हूँ। सावधान होते ही यह अपने को मित्रद्रोही, विश्वासघाती, कृतघ्न और वचनभंग करने वाला पाता है। यह चारों महापाप हैं। शास्त्र कहता है, इन चारों पापों में से जिसने एक भी किया होता है, वह तब तक नरक में वास करता है जब तक कि सूर्य और चन्द्र रहते हैं।

भगवान् हमारा सबसे बड़ा मित्र है, जिसने हमें कल्याण का साधनरूप यह मनुष्य-देह देकर बड़ा ही उपकार किया है। उसके हमारे ऊपर इतने उपकार हैं, जितने कि तमाम संसार के वृक्षों के पत्ते। 'गर्भोपनिषद्' में आता है कि नवें मास में जब यह ज्ञानेन्द्रिय आदि सभी लक्षणों से पूर्ण हो जाता है, तब इसे पूर्व जन्म का स्मरण होता है और इसके सामने इसके शुभ-अशुभ कर्म भी आते हैं। तब जीव सोचने लगता है कि मैंने सहस्रों पूर्व जन्मों को

देखा, उनमें नाना प्रकार के भोजन किये, नाना प्रकार के—नाना योनियों के स्तनों का पान किया, मैं बारम्बार उत्पन्न हुआ। अपने परिवार वालों के लिए मैंने जो शुभाशुभ कर्म किये उन्हें सोचकर मैं आज यहाँ दग्ध हो रहा हूँ। यदि मैं इस योनि से छूट जाऊँगा तो इस गर्भ से बाहर निकल गया तो अशुभ कर्मों का नाश करने वाले तथा मुक्ति रूप फल को प्रदान करने वाले भगवान् नारायण की शरण ग्रहण करूँगा। सांख्य और योग का अभ्यास करूँगा, ब्रह्म का ध्यान करूँगा। लेकिन गर्भ से बाहर आते ही वैष्णवी वायु (माया) के स्पर्श से अपने पिछले जन्म और मृत्युओं को भूल जाता है और शुभ-अशुभ कर्म भी उसके सामने से हट जाते हैं।

इस प्रकार इस जीव पर वचन-भंग, मित्र-द्रोह, विश्वासघात और कृतघ्नता का पाप चढ़ जाता है। बाहर आते ही भगवान् को कृपण बनिये की तरह भूल जाता है। कथा आती है, एक कृपण बनिया एक बार नदी पार कर रहा था। पानी था ज्यादा। उसने संकल्प किया, भगवान् मुझे पार कर दो तो मैं १०० रुपये का प्रसाद लगाऊँ। अब भगवान् तो करुणासागर हैं, दयालु हैं उनकी तो प्रतिज्ञा है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥९।२६॥

अतः पानी कुछ कम हुआ, कुछ उस कृपण के मन में भी संकल्प करने से बल आया। थोड़ा आगे बढ़ा तो पानी कन्धों तक हो गया। वह और आगे बढ़ा तो जल कमर तक आने लगा। वह अब बोला—"भगवान् आजकल काम-काज हलका है, इसलिए आप ५०) में ही संतुष्ट हो जाना।" और थोड़ा आगे बढ़ा तो पानी नाभि से नीचे हो गया। वह सोचने लगा—"भगवान् को तो अब २०) ही चढ़ा देंगे, वह तो जगदीश्वर है, उसे क्या कमी, अपने तो घाटा हो रहा है।" इसी प्रकार जब वह नदी से पार हो गया

तो कहने लगा—"भगवान् भी बड़ा स्वार्थी है। मुझे पार करने आया ही नहीं। मैं तो अपने पुरुषार्थ से नदी पार करके आया हूँ, इसलिए भगवान् को अब कुछ चढ़ाने की आवश्यकता नहीं।" तो ऐसी दशा है इस जीव की। बार-बार जन्मता है, मरता है, और ईश्वर को भूल जाता है।

सत्संग से जब इसे विवेक होता है तब यह माया के खिलौनों को छोड़ता है। और आत्मा के स्वरूप को जानने के लिये प्रयत्न करता है। उस आत्मा को जो शरीर से असंग होकर शरीर में बैठा है, जानकर ही उसका कल्याण होता है। आत्मा को इसलिए श्रुति ने हंस बताया—

एको हँसो भुवनस्यास्य मध्ये
स एवाग्निः सलिले संनिविष्टः।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ (श्वेत० ६।१५)

यह आत्मा इस भुवन, शरीर के मध्य में एक हंस के समान है, वही जल में अर्थात् पंचमाहुति रूप देह में स्थित अग्नि है। (अविद्या और उसके कार्य का दाह करने वाला होने से उसे अग्नि के समान कहा)। उसे जानकर ही पुरुष मृत्यु से पार हो जाता है। इससे भिन्न मोक्ष-प्राप्ति का कोई और मार्ग नहीं। हंस जिस प्रकार मानसरोवर में रहकर जल से भीजता नहीं और मोती ही खाता है, मेंढक, मछली नहीं; इसी प्रकार आत्मा शरीर में रहकर असंग है और इसकी अपवित्रता से भी बचा हुआ है। परन्तु जीव ने अपने इस स्वरूप को न जानकर देह में अभिमान कर लिया है और इस अभिमान के कारण ही बंधन में पड़ गया है।

शरीर को स्वप्न में कोई बाँधता नहीं, लेकिन इसे दृढ़ अभिमान होता है कि मैं बँध गया। इसी प्रकार सच्चा सर्प जैसा दुःख-भय देता है, वैसा ही रज्जु का सर्प भी दुःख देता है, क्योंकि उसमें

सच्चे का अभिमान हो जाता है। यदि हम अपने को कूटस्थ, निर्दोष, असंग मानकर वैसा ही अभिमान करें तो हम देहाभिमान भूल जायँगे। तो यह अभिमान ही बंधन का हेतु है। एक कोई मनुष्य रात्रि को सोते समय अपनी चारपाई के नीचे पानी का लोटा भरकर रख देता था और प्रातः ४ बजे उसे उठाकर दिशा-मैदान के लिए जंगल में चला जाता था। एक बार ऐसा हुआ कि कोई त्यौहार आया और उसकी लड़की ने कोई वस्त्र और चित्र आदि रंगने के अभिप्राय से उस लोटे में रंग घोलकर रख दिया। पिता को कुछ पता नहीं। रंग था लाल। अब वह स्वभाववश उस लोटे को लेकर जंगल गया। पानी व्यवहार में लाया तो उसने देखा कि हाथ लाल होगया, नीचे भूमि देखी तो लाल। सवा सेर पानी गिराया था उसने और उससे लाल हुई भूमि देखकर उसे भ्रम हुआ कि मेरे उदर से इतना खून बह गया। अब तो उसको चिन्ता हुई। इतना ढेर सारा खून निकल गया, अब तो प्राण बचने कठिन। उसे लगा कि बस आज मर जाऊँगा। स्वस्थ होते हुए भी वह धीरे-धीरे घर लौटा। व्याकुल हो गया और लौटते ही चार-पाई पर रजाई ओढ़कर लेट गया। वैद्य को बुलवा भेजा। उसकी भार्या ने पूछा—"आखिर हुआ क्या? इतने व्याकुल क्यों हो?"

"बस पूछो नहीं कुछ! आज तो पेट की नाड़ी फट गई। सेर भर से अधिक खून बह गया। अब नहीं बचूँगा।..."

इसी बीच वह लड़की उठी और लोटा ढूँढ़ने लगी। मा से पूछा, भाई से प्रश्न किया, बहनों से भी पूछा। किसी ने कुछ न बताया तो उदास होकर रोने लगी। बात पिता के कान तक पहुँची। उसे बताया लड़की ने—"पिताजी, मैंने आपकी खाट के नीचे लाल रंग घोलकर लोटा रखा था, वह कोई नहीं बता रहा है।" इतना सुना तो वह मनुष्य सावधान हो गया। रजाई छोड़कर उठ बैठा और कहने लगा—"तूने मुझे पहले क्यों नहीं बताया!

जाओ वैद्य को मना कर आओ—अब मैं ठीक हूँ।" तो यह है मिथ्या पदार्थों में अभिमान का फल। शरीर, इन्द्रिय-सुख, अनात्म पदार्थ हमने सत्य माने हुए हैं और इन्हीं में अभिमान कर लिया है। मिथ्या अभिमान छोड़कर हम निवृत्ति, मुक्ति के मार्ग पर बढ़ें, यही हमारा लक्ष्य होना चाहिए। जीवात्मा संसारी नहीं, फिर भी सबमें अपने को ही कर्ता-भोक्ता देखकर दुःखी-सुखी हो रहा है। और यदि यह जीव अभिमान को त्याग दे, अहंकार को छोड़ दे तो फिर वह सब लोकों को मारकर भी पाप से नहीं बंधता। भगवान् ने कहा—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १८।१७

जिस पुरुष के अंतःकरण में मैं कर्ता हूँ, ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थों में, सम्पूर्ण कार्यों में लिपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकों को मारकर भी वास्तव में न तो मरता है, न पाप से बंधता है। जिस पुरुष का देह में अभिमान नहीं है और स्वार्थरहित केवल संसार के हित के लिए ही जिसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ होती हैं वह वास्तव में किसी की हिंसा नहीं करता, लेकिन कर्तापन के अभाव का महत्व बताने के लिए यहाँ कहा कि यदि उससे किसी की हिंसा होते हुए भी दिखाई दे तो वह उसके पाप में नहीं बंधता; क्योंकि बिना कर्तृत्व अभिमान के किया हुआ कर्म वास्तव में अकर्म ही है।

तो यह अहंभाव ही असल में मनुष्य को बाँधता है। इसे जानना चाहिए कि अहंभाव और अहंकार का अभाव, दोनों तत्वों का द्रष्टा मैं स्वयं हूँ। श्रुति कहती है जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं को जो प्रकाशित कर रहा है, वही ब्रह्म है।

जाग्रत स्वप्न सुषुप्त्यादि प्रपञ्चं यत् प्रकाशते।
तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः विमुच्यते ॥ (कैवल्य०)

तो इसे ऐसा अभिमान करना चाहिए कि वह सबका द्रष्टा चेतन, साक्षी मैं ही हूँ। उससे अलग मैं नहीं। ऐसा संशय-विपर्यय-रहित निश्चय होने पर ही हमें आत्मा का दर्शन होगा। हमें दृढ़-निश्चय है कि मैं मनुष्य हूँ, ब्राह्मण हूँ, या यह भैंस है, घोड़ा है आदि। इसी प्रकार मैं शरीर नहीं, साक्षी चेतन, ज्योतिरूप आत्मा हूँ, यह दृढ़-निश्चय होना चाहिए। जब ऐसा निश्चय इसे हो जायगा कि मैं ब्रह्म हूँ तो फिर यह जन्म-मरण, कर्ता-भोक्ता भाव और सुख-दुःख आदि से मुक्त हो जायगा और तब मुक्ति की इच्छा न होने पर भी इसकी मुक्ति हो जायगी। यह तद्रूप हो जायगा। वह ब्रह्म इसके अन्दर भी है, बाहर भी है। इसलिए तद्रूप तो यह है ही, पर देहाभिमान की उपाधि से इसे आत्मैकत्व विज्ञान समझ में नहीं आ रहा। श्रुति स्पष्ट कहती है—

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ॥
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ (कठ० २।२।१०)

जिस प्रकार इस लोक में प्रविष्ट हुआ वायु प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है, उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों का एक ही अन्तरात्मा प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है और उससे बाहर भी है। अविकारी और असंग होने से ही वह शरीर-दुःख से दूर है। तो ऐसा दृढ़निश्चय होने पर ही मुक्ति होती है। द्रष्टा दृश्य को अपने से अलग देखता है, इसी प्रकार साक्षी, द्रष्टा, आत्मा दृश्य-शरीर से अलग है। पर वह अपने को जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति के प्रपंच से भिन्न नहीं देख रहा, इसीलिए श्रुति ने खेद प्रकट किया कि यह अभिमानवश बंधन में क्यों पड़ गया। अतः हमें जानना चाहिए कि देह हमारा सच्चा स्वरूप नहीं। सारे जप, तप, त्याग,

वैराग्य आदि साधन ब्रह्म को, अपने आत्मा को जानने के लिए ही किए जाते हैं। जिसने अपने आत्मा को पंचकोश से परे अनुभव नहीं किया, उसका जप-तप वैराग्य निष्फल ही समझना चाहिए। और यह साधन उसी के निष्फल होते हैं जो विमूढ़ अहंकार से ग्रसित है। अभिमान त्याग दिया तो आत्मा का दर्शन होने में देरी नहीं। भगवान् शंकराचार्य कहते हैं—

अहंकारग्रहान्मुक्तः स्वरूपमुपपद्यते।
चन्द्रवद्विमलः पूर्णः सदानन्दः स्वयंप्रभः॥

अर्थात्—अहंकार रूपी राहु से मुक्त हो जाने पर चन्द्रमा के समान आत्मा निर्मल पूर्ण एवं नित्यानन्दस्वरूप स्वयंप्रकाश होकर अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

---

## मनोनिग्रह-मोक्ष और जप

आत्मा को श्रुति ने अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय तथा रस-हीन, नित्य और गंधरहित बताया और कहा वह अनादि है, अनन्त है, महत्तत्व से भी परे और ध्रुव है। उसे जानकर पुरुष मृत्यु के मुख से छूट जाता है।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥ (कठ० १।३।१५)

श्रुति का अभिप्राय है कि वह आत्मा अखण्डस्वरूप और पाँच काशों से परे है। अपने इसी वास्तविक स्वरूप को हमें जानना

है। केवल यही जानने से कि मैं पाँचकोश वाला हूँ, काम न चलेगा। जानना तो यह है कि मैं पाँच कोशों से परे हूँ। अनात्म पदार्थों से अहंता का भाव हटाकर हमें अपने वास्तविक स्वरूप, जिसे श्रुति ने 'ज्योतिषां-ज्योतिः' बताया, में अहंता करनी है। मैं स्वयंज्योति, प्रकाशस्वरूप हूँ, ऐसा समझने के लिए पहले विवेक द्वारा अनात्म पदार्थों से ममता और शरीर से अहंता को हटाना चाहिए। ममता एवं अहंता हटाने से पूर्व मन को संसार और शरीर से हटाना होगा। तो मन को संसार से कैसे हटायें ? 'माण्डूक्यकारिका' में इसका उपाय बताया है—

दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेत् ।
अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति ॥ ३।४३ ॥

जिस-जिस वस्तु में मन लगे, जहाँ-जहाँ यह जाय, उसी वस्तु को दुःखदायी समझे, उसी में दोष-दृष्टि करे। जब दोष-दृष्टि करेगा, तो मन उस ओर नहीं जायगा। इस प्रकार सब सांसारिक और अनात्म पदार्थों की ओर से मन को हटाकर अपने स्वरूप अजन्मा ब्रह्म में लगा दे। जो कुछ दिखता है उसे ब्रह्मस्वरूप ही माने।

दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद् ब्रह्ममयं जगत् ।

दृष्टि को ज्ञान अथवा ब्रह्ममयी करके जगत् को ब्रह्ममय देखे। श्रुति ने सर्वत्र ब्रह्म को ही देखा है।

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छान्दोग्य ३।१४।१)

यह सारा जगत् निश्चय ही ब्रह्म है। तो ऐसा निश्चय होने पर जिधर मन जाय उधर ही से इसे रोककर परमात्मा में लगाना चाहिए। भगवान् कहते हैं—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ ६।२६

यह चंचल और अस्थिर मन जहाँ-जहाँ भी जाय, वहाँ-वहाँ से

इसे हटाकर वश में करना चाहिए। जिस विषय की ओर भी यह लपके, वहीं दोष-दृष्टि कर लेनी चाहिए। ऐसा होने पर द्वैत और अनात्म की ओर से दृष्टि स्वतः हट जायगी। वहाँ से हट-कर यह पंचकोशों में छिपे आत्मा की ओर लगेगी। इस मन को यों ब्रह्म अनुसन्धान में लगाना है।

परन्तु, यह काम है कठिन। इसलिए श्रुति ने लय-चिन्तन का सुगम मार्ग बताया। बाहरी पदार्थों से मन हटाकर पहले वाणी पर ले आना चाहिए। वाणी सहित सभी इन्द्रियों का मन में उप-संहार करना चाहिए और मन का प्रकाश अथवा ज्ञानरूप बुद्धि में लय करे, बुद्धि को महत्तत्व में और महत्तत्व को शान्त आत्मा में नियुक्त करे। श्रुति आती है :—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥ (कठ० १।३।१३)

तो बाहर से मन हटाने के लिए कोई भी मन्त्र वाणी से जपना चाहिए, वाणी के बाद मन से जाप करे और मन के बाद वह जाप बुद्धि या हृदय से होता रहे। उसे कहते हैं—अजपा जाप। मनु ने भी जाप के तीन भेद बताये हैं :—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः
उपांशु स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः। (२।८५)

विधियज्ञ या कर्मकाण्ड-सम्बन्धी, कर्मेन्द्रियों द्वारा किये जाने वाले यज्ञों से जप-यज्ञ दस गुना बढ़कर है और उपांशु अर्थात् मौन जिसमें दूसरे को शब्द भी न सुनाई दे, ऐसा जप विधियज्ञ से सौगुना बढ़कर है, तथा मानस जप हज़ार गुना बढ़कर है। भगवान् ने भी जप की महिमा बताते हुए कहा—

यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि (१०।२५)

"यज्ञों में जपयज्ञ मैं हूँ।" जप में न तो धन का खर्च है और न

शारीरिक अथवा मानसिक क्लेश ही है। मनु ने कहा है, ब्रह्म-प्राप्ति की इच्छा वाला चाहे दूसरी कुछ भी क्रिया न करे, वह जप से ही सब सिद्धि पाता है और वह ब्रह्म में लीन सबका मित्र कहाता है।

जप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥ २।८७

जप से सबसे बड़ी सिद्धि ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। जप से मन एकाग्र भी होता है और शुद्ध भी। कर्मकाण्ड मन की शुद्धि के लिए बताया है, उपासनाकाण्ड मन की एकाग्रता के लिए। जप से दोनों हो जाते हैं। जप से ब्रह्म में लीन पुरुष सबका मित्र हो जाता है और सब उसके मित्र हो जाते हैं। और उसे नैष्कर्म्य सिद्धि भी प्राप्त होती है। भगवान् ने भी गीता में कहा है :—

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ १८।४९ ॥

जो सर्वत्र असंग हैं, इन्द्रियाँ और मन जिसके वश में हैं। जिसकी कोई कामना नहीं, वह संन्यास ग्रहण करने वाला परम नैष्कर्म्य सिद्धि पाता है। यह परम नैष्कर्म्य सिद्धि पाकर मनुष्य को कभी संसार के जन्म-मरण-रूपी चक्कर में नहीं आना पड़ता। सांसारिक और योग से प्राप्त की गई अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व सिद्धियाँ अथवा जन्म से, औषधि से, मन्त्र से, तप से और समाधि से प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ तो कालान्तर में अपना प्रभाव छोड़कर नष्ट भी हो जाती हैं, पर नैष्कर्म्य सिद्धि कभी नष्ट नहीं होती। उसे पाने वाला अमृतत्व को पा लेता है।

सांसारिक सिद्धियों से तो अन्त में दुःख भी हो सकता है और परमार्थ भी बिगड़ सकता है। 'श्रीमद्भागवत' में ऐसी एक

कथा आती है। सौभरि नाम के एक परम तपस्वी ऋषि थे। उन्होंने बारह वर्ष सूखे पत्ते खाकर तपस्या की, बारह वर्ष, जल पीकर ही रहे, तदनन्तर बारह वर्ष वायु का भक्षण किया और पुनः बारह वर्ष केवल सूर्य की किरणों का पान करके ही रहे। बारह वर्ष एक टाँग से खड़े रहे और बारह वर्ष एक अँगूठे पर ही खड़े होकर उन्होंने तप किया। इस प्रकार उनके तप से इन्द्र भी भयभीत हो गया। फिर उन्होंने यमुना-जल में बैठकर समाधि लगा दी। वहाँ बारह वर्ष तप करते-करते उनके शरीर पर काई जम गई, केश बढ़ गये और शरीर से मछली व कछुओं जैसी दुर्गन्ध आने लगी। समाधि खुलने पर उन्होंने क्या देखा कि सामने एक मत्स्यराज अपनी पत्नियों के साथ बहुत सुखपूर्वक क्रीड़ा कर रहा है। उनके बच्चे कभी ऊपर से तैर जाते हैं, कभी मुँह से टकराते हैं, कभी पूँछ नोंचते हैं और पूरा मत्स्य-परिवार बड़े आनन्द में मग्न है। उस के इस सुख को देखकर ब्राह्मण सौभरि के मन में भी विवाह की इच्छा जाग उठी और उन्होंने यमुना से बाहर आकर देश के राजा मान्धाता के पास जाकर उसकी एक कन्या माँगने का विचार किया। राजा मान्धाता की पत्नी शशविन्दु की पुत्री बिन्दुमती थी, उसके गर्भ से ५० कन्याएँ और पुरुकुत्स, अम्बरीष और योगी मुचुकुन्द नाम के तीन पुत्र हुए थे। सौभरि ने अपने शरीर और आयु की ओर नहीं निहारा। वैवाहिक सुख और गृहस्थ की वासना ने उन्हें तेजस्वी तपस्वी से अन्धा अज्ञानी बना डाला। वासना से वह भिखारी हो गये और राजा के यहाँ कन्या की याचना करने चल पड़े। वासना मनुष्य को गिरा देती है।

वासना की भर्त्सना करते हुए भर्तृहरि ने लिखा है:—

खलालापाः सोढा: कथमपि तदाराधनपरै—

निर्गृह्यान्तर्बाष्पं हसितमपि शून्येन मनसा।

कृतश्चित्तस्तम्भः प्रहसितधियामञ्जलिरपि
त्वमाशे मोघाशे किमपरमतो नर्तयसि माम् ॥

हे तृष्णे ! तूने बड़े-बड़े नाच नचाए। तूने दुष्टों की आराधना करवाई और उनके कटु-वचन सहने के लिए बाध्य किया। [जो श्रीमन्त होते हैं वे तो भिखारियों को फटकारते ही हैं। क्योंकि—

कनक कनक (धतूरे) से सौ गुनी मादकता अधिकाय।
वह खाये बौरात है, यह पाये बौराय ॥

कवि ने तो यहाँ तक कल्पना की है कि लक्ष्मी ने विष्णु को भी अन्धा बना दिया है, अन्यथा वह कमल-जैसे विशाल नेत्र होते हुए समुद्र में शेषनाग की शैया पर सोता !] यही नहीं, जो हँसने से प्रसन्न होते हैं उन्हें प्रसन्न करने के लिए मैंने आँसू भीतर ही रोक-कर बनावटी हँसी भी हँसी। मन को स्थिर करके उनके सामने हाथ भी जोड़े; पर व्यर्थ, कुछ सार नहीं निकला। फिर भी हे तृष्णे, तू मुझे क्यों नचाती है ? तो तृष्णा के वश हो रहे सौभरि ने जब राजा से कन्या माँगी, तो वह आश्चर्य से अवाक् रह गया। शरीर, आयु, बल, कुछ न देखते हुए ऋषि एक राजकन्या को मांग रहे हैं ! राजा ने सोचा, इन्हें अन्तःपुर में भेज दो, न कोई कन्या पसन्द करेगी, न विवाह होगा। अतः मान्धाता ने कहा—"ब्रह्मन् ! जो कन्या स्वयंवर में आपको चुनले आप उसे ले लीजिये।" सौभरि ऋषि राजा मान्धाता का अभिप्राय समझ गए। उन्होंने सोचा—राजा ने इसलिए ऐसा सूखा जवाब मुझे दिया है कि मैं अब बूढ़ा होगया हूँ, शरीर में झुर्रियाँ पड़ गई हैं और सिर काँपने लगा है, बाल पक गए हैं। अब कोई स्त्री मुझसे प्रेम नहीं कर सकती। अच्छी बात है। मैं अपने को ऐसा सुन्दर बनाऊँगा कि राज-कन्याएँ तो क्या, देवांगनाएँ भी मेरे लिए लालायित हो जायँगी। ऐसा सोचकर उन्होंने सिद्धि के बल से अपने को अत्यन्त सुन्दर

और तरुण बना लिया। फिर क्या था, अन्तःपुर के रक्षक ने सौभरि मुनि को कन्याओं के महल में पहुँचा दिया। फिर तो उन पचासों राजकन्याओं ने एक सौभरि को ही अपना पति चुन लिया। उन कन्याओं का मन सौभरि में इस प्रकार आसक्त हो गया कि वे परस्पर के प्रेमभाव को तिलांजलि दे आपस में कलह करने लगीं कि "यह मेरे योग्य हैं, तेरे योग्य नहीं।" ऋग्वेदी सौभरि ने उन सभी का पाणिग्रहण कर लिया। वे अपनी अपार तपस्या के बल से वन में अनेक सुसज्जित महल तैयार करके विहार करने लगे। उन महलों में राजकन्याओं के अनुकूल ही उपवन, निर्मल जल के सरोवर, सौगन्धिक पुष्पों के बगीचे, बहुमूल्य शय्या, आसन, वस्त्र, आभूषण, सुस्वादु भोजन आदि सभी सामग्री थी। सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषण पहने हुए स्त्री-पुरुष उनकी सेवा में सदा लगे रहते। सिद्धियों के प्रभाव से यह सब सौभरि ने कर लिया। सप्तद्वीपवती पृथ्वी के स्वामी मान्धाता सौभरि ऋषि के इस गृहस्थ-सुख को देख आश्चर्यचकित हो गए। उनका सार्वभौम सम्पत्ति का स्वामी होने का गर्व जाता रहा। इस प्रकार गृहस्थ-सुख भोगते हुए सौभरि के सन्तान होने लगीं। लिखा है, हर एक पत्नी से सौ बालक हुए। अब उन्हें पाँच-हजार से अधिक प्राणियों के भरण-पोषण और आरोग्य की चिन्ता रहने लगी। सिद्धियों के प्रताप से वह यह सब निभाते रहे। सौ वर्ष उन्होंने इस प्रकार सुख भोगा। तब एक दिन एक पत्नी के रोग को सिद्धिबल से दूर न कर सकने पर उन्हें भान हुआ कि तप का बल नष्ट होने से सिद्धि की शक्ति भी समाप्त हो चुकी है। इस प्रकार चेत होने पर उनका चित्त तनिक स्वस्थ हुआ और सौभरि सोचने लगे—मत्स्य-राज के क्षण-भर के संग से मैंने अपनी सारी तपस्या और स्वयं को नष्ट कर दिया है। उन्होंने पछतावा किया :—

अहो इमं पश्यत मे विनाशं तपस्विनः सच्चरितव्रतस्य।
अन्तर्जले वारिचर प्रसंगात् प्रच्यावितं ब्रह्मचिरं धृतं यत्॥
संङ्गं त्यजेत मिथुनव्रतिनां मुमुक्षुः सर्वात्मना न विसृजदे बहिरिन्द्रियाणि।
एकश्चरन् रहसिचित्तमनन्त ईशे युञ्जीत तद्व्रतिषु साधुषुचेत् प्रसंगः॥
एकस्तपस्व्यहमथाम्भसि मत्स्यसङ्गात् पंचाशदासयुत पंचसहस्त्रसर्गः।
नान्तं व्रजाम्युभयकृत्य मनोरथानां माया गुणैर्हृत मतिर्विषयेऽर्थभावः॥
(९।६।५०-५१-५२)

"मैं तो बड़ा तपस्वी था। मैंने भली भाँति अपने व्रतों का अनुष्ठान भी किया था। मेरा यह अधःपतन तो देखो! मैंने दीर्घकाल से अपने ब्रह्मतेज को अक्षुण्ण रखा था, परन्तु जल में बिहार करती हुई मछली के संसर्ग से मेरा ब्रह्मतेज नष्ट हो गया। अतः जिसे मोक्ष की इच्छा है उस पुरुष को चाहिए कि वह भोगी प्राणियों का संग सर्वथा छोड़ दे। और एक क्षण के लिए भी अपनी इन्द्रियों को बहिर्मुख न होने दे। अकेला ही रहे और एकान्त में अपने चित्त को भगवान् में लगा दे। यदि संग करने की आवश्यकता ही है तो भगवान् के अनन्य प्रेमी निष्ठावान् महात्माओं का ही संग करे। मैं पहले एकान्त में ही अकेला तपस्या में संलग्न था। फिर जल में मछली का संग करने से विवाह करके ५० से ५ हजार हो गया। विषयों में सत्यबुद्धि होने से माया के गुणों ने मेरी बुद्धि हर ली। अब तो लोक-परलोक के सम्बन्ध में मेरा मन इतनी लालसाओं से भर गया है कि मैं किसी तरह उनका पार नहीं पा सकता।" अन्त में सौभरि ने पुनः घोर तपस्या की और आहवनीय अग्नियों के साथ ही अपने आपको परमात्मा में लीन कर दिया। उनकी पत्नियाँ भी उनके प्रभाव से सती होकर उन्हीं में लीन हो गई, जैसे ज्वालाएँ शान्त अग्नि में लीन हो जाती हैं। उन्हें भी सौभरि की ही गति प्राप्त हुई। तो इस कथा से सांसारिक सिद्धियों की अपेक्षा परमसिद्धि की

श्रेष्ठता और मायिक पदार्थों में सत्यत्व बुद्धि करने से महान् दुःख की प्राप्ति स्पष्ट देख रहे हैं। विषयों के वश होने से तो इस मनुष्य का सारा विवेक नष्ट हो जाता है, जैसे एक छिद्र होने से मशक का सारा जल निकल जाता है। मनु ने लिखा है—

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम्॥ २।९९

एक इन्द्रिय के विषय सुख में फँसने पर भी इसका पतन हो जाता है। घृत से अग्नि जिस प्रकार शान्त नहीं होती, और बढ़ती है, उसी प्रकार यह विषयों का सेवन करने से विषयों की भूख और बढ़ जाती है। इसीलिए मन को मायिक पदार्थों से हटाना है। बहिर्मुख स्वभाव वाली इन्द्रियों को अन्तःमुख करना है। जो मन चंचल, प्रमथन करने वाला और बलवान है ( चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ) उसे रोकने के लिए ही, ऊपर जप की आवश्यकता बताई।

जब तक वाणी में जप को बैठाकर मन का निग्रह नहीं किया जायगा तब तक वह मायिक पदार्थों में अभिमान करता ही रहेगा। अपने शरीर को ही आत्मा मानेगा और मोह से ग्रसित हुआ दुःख का भागी बनेगा। भगवान् शंकराचार्य ने कहा है—

शरीरपोषणार्थी सन् य आत्मानं दिदृक्षति।
ग्राहं दारुधिया धृत्वा नदीं तर्तुं स इच्छति॥

जो शरीर-पोषण में ही लगा है और फिर भी आत्मतत्व को देखना चाहता है, वह तो समझो मगर पर चढ़कर नदी पार करना चाहता है। अर्थात् अनात्म पदार्थों का आश्रय लेकर विनाश को प्राप्त होता है। तुलसीदासजी ने "तन-पोषक" को मृत माना है।..."तनु पोषक निंदक अघ खानी। जीवित सव सम चौदह प्रानी॥" इसलिए भगवान् शंकराचार्य ने मुमुक्षु को सावधान किया—

मोह एव महामृत्युमु र्मुक्षोर्वपुरादिषु ।
मोहो विनिर्जितो येन स मुक्तिपदमर्हति ॥

शरीर, स्त्री, धन, पुत्रादि में मोह रखना मुमुक्षु की मौत है, जिसने मोह को जीता है वही मोक्ष का अधिकारी है। मुमुक्षु को साधना सफल बनाने के लिए शरीर की रक्षा तो करनी चाहिए; परन्तु उसी में आसक्त न हो जाय। जो मोटर द्वारा लम्बी यात्रा करना चाहता है और फिर उसके इंजन की देखभाल और सफाई में ही समय खो देता है, तो उसकी यात्रा पूर्ण नहीं हो सकती। शास्त्र ने शरीर को—"साधन धाम मोक्ष कर द्वारा" भी बताया है, पर जो इसे ऐसा मानते हैं उन्हीं के लिए यह बात है। जो इसमें आत्म-बुद्धि करके बैठ गया है, उसे आत्मतत्व को जानने में कल्पों लग जायँ तो क्या आश्चर्य !

अतः संसार को अनात्म और देहादि को भी मायाजनित प्रपंच मानकर मन को उस परब्रह्म में लगाना है। और इसका प्रथम उपाय है, वाणी द्वारा जप। जप के लिए वैदिक मंत्रों और भगवान् के नाम से बढ़कर कोई नाम नहीं। गायत्री मन्त्र की भी बड़ी महिमा है। मनु ने बताया है—

ओङ्कार पूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः ।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्राह्मणो मुखम् ॥
सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः ।
महतोऽप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥
योऽधीतेऽहन्यहन्येतास्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः ।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान् ॥

अर्थात् जिनके पहले ओंकार है ऐसे अविनाशिनी भूः, भुवः, स्वः इन महाव्याहृति और तीन पदवाली सावित्री को ब्रह्म का मुख जानना चाहिए। जो द्विज ( द्विज इसलिए कि मनु ने यज्ञोपवीत

होने पर मनुष्यका दूसरा जन्म माना है। यज्ञोपवीत वाला ही गायत्री जाप का अधिकारी होता है।) इन तीनों को बाहर एकान्त स्थान में नित्य सहस्त्र बार एक मास तक जपता है वह बड़े भारी पाप से ऐसे ही छूट जाता है, जैसे सर्प केंचुली से। और जो आलस्य छोड़कर इसे नित्यप्रति तीन वर्ष तक पढ़ता है, वह पवन की तरह असंग और आकाश की तरह व्यापक होकर ब्रह्म में ही लीन हो जाता है। जिसने उग्र दान लिया हो, यानी ग्रहण में अथवा मुर्दे का दान लिया हो, वह भी गायत्री से पापमुक्त हो जाता है। गायत्री के एक पाद से भूलोक दान लेने वाला पापमुक्त हो जाता है, दूसरे पाद से अन्तरिक्षलोक दान लेने वाले को पाप नहीं होता, तीसरे पाद से स्वर्गलोक दान में प्राप्त करने वाला पाप से बच जाता है। और गायत्री का चौथा पाद संसार का दान लेने वाले को भी असंग बना देता है। गायत्री का जाप कितना प्रभाव रखता है, यह महाभारत में आई जगत्कारू की कथा से सुस्पष्ट हो जाता है।

जगत्कारू ने आजन्म ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए हर समय गायत्री-जप का व्रत लिया था। वह एकान्त वन में गायत्री जप करते थे। एक बार उन्होंने वन में अद्भुत दृश्य देखा। एक विशाल वट वृक्ष की एक जर्जर-सी शाखा को पकड़े हुए सात-आठ ऋषि लटके हुए हैं, नीचे गहन अन्धकार से परिपूर्ण एक कुआँ है और ऊपर उस शाखा को काले और सफ़ेद रंगवाले दो चूहे काट रहे हैं। जान पड़ता था, जैसे शाखा अभी कटकर कुएँ में गिर पड़ेगी। जगत्कारू देखकर अवाक् रह गया, शाखा से लटके हुए ऋषियों के सम्भावित नाश की कल्पना से वह सिहर उठा। स्तब्ध, अवाक् रह गया। उसकी गति रुक गई। उसने सहानुभूति के स्वर में प्रश्न किया—"हे, ऋषिगण! आप कौन हैं? आपके इस प्रकार लटकने का क्या कारण है?"

उनमें से जो सबसे वृद्ध था, वह बोला—"बेटा! तुम बड़े दयालु जान पड़ते हो। इस मार्ग से अनेक व्यक्ति निकल गये, किसी ने हमारी ओर देखा तक नहीं। तुमने हमारी इस दुर्दशा का कारण तो पूछा। लो सुनो! हमें एक जगत्कारू नाम के ऋषि से यह कष्ट हो रहा है। वह मिले तो भेजना।"

"जगत्कारू?" सुनकर जगत्कारू को आश्चर्य हुआ, वह बोला—"जगत्कारू तो मैं ही हूँ।"

"तो बेटा, हम तुम्हारे पितर हैं। तुम्हारी आयु अब ८०-९० वर्ष की हो गई। तुमने विवाह नहीं किया। इसलिए हम तुम्हारी मृत्यु होते ही नरक में गिर पड़ेंगे। शाखा काटने वाले चूहे, तुम्हारी आयु को क्षीण करने वाले रात-दिन हैं। जब तक तुम तर्पण करते रहोगे, तभी तक हम यहाँ हैं।"

यह सुनकर जगत्कारू का हृदय दुःख से फटने लगा। वह तो सब-कुछ छोड़कर तपस्या में लगा था। अब उसके सामने इतनी वृद्धावस्था में गृहस्थ बसाने की समस्या आ खड़ी हुई। परिवार का बन्धन छोड़कर जिसने धैर्य को पिता, क्षमा को माता, शान्ति को भार्या, सत्य को मित्र, दया को बहिन, मनःसंयम को भाई, भूमि को शैया, दिशा को वस्त्र और ज्ञानामृत को भोजन बनाया था और अभय पद की प्राप्ति की थी[1], उसी के सम्मुख परिवार बसाने का प्रश्न आ गया। जगत्कारू के मन में परोपकार की भावना बलवती हो गई। "अपने पितरों को मैं नरक में नहीं जाने दूँगा!"

---

१. भर्तृहरि ने लिखा है—

धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी शान्तिश्चिरङ्गेहिनी।
सत्यं मित्रमिदं दया च भगिनी भ्राता मनः संयमः॥
शय्या भूमितलं दिशोऽपि वसनं ज्ञानामृतं भोजनम्।
ह्येते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे कस्माद्भयं योगिनः॥

ऐसा उसने सोचा। वास्तव में जो दूसरे के दुःख से दुःखी होता है, वही देवता है, और जो दूसरे के दुःख को दुःख नहीं मानता वह राक्षस है। [रावण को जैसे पुलस्त्य कुल में ब्राह्मण-शरीर पाकर स्वार्थान्ध होने के कारण ही राक्षस का नाम मिला। ] जगत्कारू ने अपने पितरों से कहा—"मैं विवाह कर सकता हूँ, पर कुछ शर्तें हैं। एक तो यह कि मैं किसी से कन्या नहीं माँगूँगा, कन्यावाला स्वयं मेरे पास आए और मैं कार्य एवं जीविका का साधन भी नहीं जुटाऊँगा, कन्या के पिता को ही दम्पत्ति का खर्च भी वहन करना होगा और तीसरी शर्त यह है कि मेरे योग्य कन्या वही होगी, जिसका नाम भी मेरे समान जगत्कारू हो। यही नहीं, विवाह हुआ भी तो उसे मेरे अनुकूल रहना होगा। यदि मेरे प्रतिकूल आचरण किया उसने, तो मैं उसे तत्काल छोड़ दूँगा।" उसके पितरों ने कहा—"ऐसा हो जायगा! तुम तैयार हो जाओ।"

बस, ऋषि जगत्कारू के विवाह का संकल्प करने पर वासुकी नाग ने अपनी कन्या जिसका नाम जगत्कारू था और जिसने समान नाम वाला पुरुष न मिलने के कारण विवाह नहीं किया था, जगत्कारू को दे दी और उनके निर्वाह का अच्छा प्रबन्ध भी कर दिया। जगत्कारू का प्रण था कि वह नियमपूर्वक प्रातः सायं संध्या किया करता था। सन्ध्या भी उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकार की मानी गई है। जो प्रातः तारों के रहते ही कर ली जाय वह सन्ध्या उत्तम है, जो प्रकाश होने पर की जाय वह मध्यम और जो सूर्य के प्रकाशित होने पर की जाय वह अधम। इस प्रकार सन्ध्या समय सूर्यमण्डल के थोड़ा रहते जो सन्ध्या की जाती है, वह उत्तम मानी जाती है और सूर्यास्त पर की जाने वाली मध्यम एवं तारे निकल आने पर जो सन्ध्या की जाती है वह अधम मानी जाती है। एक बार ऐसा हुआ कि जगत्कारू को नींद आ गई और सूर्य-मण्डल के अस्त होने का समय आ गया। उसकी

पत्नी दुविधा में पड़ गई। सोचने लगी—"पतिदेव पिछले ८० वर्षों से नित्य-प्रति सूर्य-मण्डल के रहते ही सन्ध्या करते हैं, आज सो जाने से इनका नियम टूट जायगा।" ऐसा सोचते-सोचते उसने जगत्कारू को जगा दिया। जगत्कारू जागते ही बड़ा रुष्ट हुआ। बोला—"तूने मुझे क्यों जगा दिया? मेरी तो यह प्रतिज्ञा है कि पत्नी यदि प्रतिकूल व्यवहार करेगी तो मैं उसे छोड़ दूँगा। जा, तू अब मेरे योग्य नहीं रही। मैं वन में जाता हूँ।"

वासुकीसुता ने जगत्कारू के चरण पकड़ लिए और गिड़गिड़ाकर बोली, "नाथ! मैंने अपने स्वार्थ के लिए आपको नहीं जगाया। आपका नियम भंग होने के भय से ही मैंने आपको जगा दिया।" अब तो जगत्कारू और भी कुपित हो गया। कहने लगा—"तुझे मेरा प्रभाव नहीं मालूम? क्या सूर्य की इतनी शक्ति है कि मेरे सन्ध्या किए बिना अस्त हो जाए। क्या मैंने ८० वर्ष से अधिक काल तक गायत्री का जो अखंड जप किया है, वह व्यर्थ है! तू मेरे योग्य अब नहीं।"

"पर, नाथ! हमारे संतान तो नहीं है?"

"सन्तान तेरे हो जायगी।"

(और बाद में जगत्कारू के आस्तिक नाम का पुत्र हुआ। उसने ही जन्मेजय के यज्ञ में सर्पों की रक्षा की। उसका नाम लेने से सर्प कहीं हों भी तो कोई उपद्रव नहीं करते।) तो गायत्री जप का इतना प्रभाव होता है। जपने वाले के लिए ईश्वर भी अपना नियम बदल सकता है और सूर्य भी उसकी प्रतीक्षा में खड़ा हो सकता है। सूर्य तो गायत्री का देवता है।

सत्य तो यह है कि जो नियम का पालन करता है, भगवान् उसकी रक्षा करते हैं, उसके नियम को, बाधाएँ आने पर भी पूरा करते हैं। इस प्रसंग में एक सच्ची घटना उल्लेखनीय है। सौराष्ट्र में डाकोर नामक स्थान में एक भक्त रहता था। उसका हर

पूर्णिमा को द्वारिका जाकर भगवान् के दर्शन करना और तत्पश्चात् अन्न-जल ग्रहण करने का नियम था। दो-सौ-ढाई सौ मील का मार्ग वह पैदल चलता था। वस्तुतः पूरा मास ही उसका इसी नियम के पालन में चला जाता था। बहुत वर्षों तक उसने इसे निभाया। एक बार जब वह वृद्ध हो गया, शरीर में चलने की शक्ति नहीं रह गई, तो वह द्वारिका जाते समय रात्रि को मार्ग में एक गढ़े में गिर गया। ऊपर से वर्षा हो रही थी। उसे अपने गिरने का दुःख नहीं हुआ, पर अगले दिवस पूर्णिमा थी। भगवान् द्वारिकानाथ के दर्शनों से वंचित रह जाने का उसे भारी पश्चाताप होने लगा। इतने में अलौकिक घटना घटी। भगवान् वहीं प्रकट हो गए। और उससे बोले—"ले भाई भक्त, दर्शन कर ले! "अब वह तो भक्ति से विह्वल हो गया। उसकी गति तो "गिरा अनयन नयन बिनु बानी" वाली हो गई। भगवान् बोले—"अब हम ही तुम्हारे घर आयेंगे, तुम बूढ़े हो गए, मत आया करो।"

बूढ़े भक्त को आश्चर्य हुआ, पूछ बैठा—"भगवान् आप कैसे आयेंगे?"

अब भगवान् तो मायापति ठहरे। कहने लगे "तू रात को बैलगाड़ी ले आना, बारह बजे। मन्दिर खुला मिलेगा। मुझे उठा ले जाना। और देख जब मुझे ढूँढ़ते हुए लोग तुझे पकड़ने आएँ तो तू कह देना, मूर्ति तो मैं नहीं दूँगा उसके बराबर सोना दे दूँगा।" बस बात तय हो गई। और वह भक्त एक रात को मूर्ति डाकौर ले आया। रात के समय मन्दिर के प्रहरी सोये पड़े थे, मन्दिर का द्वारा खुला था। काले पत्थर की विशाल मूर्ति उससे उठी नहीं, तो भगवान् हलके हो गए। गाड़ी के बैल भी थे बूढ़े। उसने सोचा यह धीरे-धीरे चलेंगे तो प्रातः मार्ग में ही पकड़ लिया जाऊँगा। अतः फिर भगवान् से प्रार्थना की। भगवान् ने कहा—"मुझे बैलों के पास रख दे।" उसने ऐसा ही किया। बैल अब दौड़ने लगे।

वह रात्रि के पिछले प्रहर में घर आ लगा। दूसरे दिन मूर्ति की तलाश हुई और संयोगवश पुजारी लोग इसी के घर आ पहुँचे। यह मूर्ति की सेवा-पूजा में लगा था। पुजारी मूर्ति वापस लेने के लिए आग्रह करने लगे। पर जब वह भक्त मूर्ति देने को तैयार नहीं हुआ तो पुजारियों ने ईश्वर-प्रेरणा से ऐसा मत बनाया कि इस गरीब से मूर्ति के बदले सोना माँगो, सोना नहीं दे सकेगा तो मूर्ति देनी ही पड़ेगी। बस उन्होंने सोने की माँग सामने रख दी। अब भक्त फिर दुःखी होने लगा। अन्दर जाकर भगवान् की मूर्ति के सामने रोने लगा। भगवान् बोले—"अपनी पत्नी की नाक की लौंग दे दे वह मेरे बराबर हो जायगी।" तब भगवान् ने ऐसी लीला की कि वह उस लौंग से भी हलके हो गए! (वहाँ डाकौर में अब भी उस स्थान पर मन्दिर है।) तो इस प्रकार भगवान् नियम से चलने वाले भक्तों के नियम भी पूरे करते हैं।

एक बार यदि हमने दृढ़ निश्चय करके जप का नियम बना लिया तो जप पक्का हो जायगा। वाणी पर जप पक्का हुआ, वाणी को जप का अभ्यास हुआ तो फिर मन को भी जप का अभ्यास हो जायगा। मन में जप आ जाय तो फिर उसे बुद्धि में ले जाना है और फिर महत्तत्व या अहंकार से हटाकर इसे आत्मा में ले जाना है। अब अहंकार भी यहाँ दो प्रकार का है—विशेष और सामान्य। विशेष अहंकार में तो "मैं" द्रष्टा, भोक्ता, जप करने वाला आदि भावना रहती है, लेकिन सामान्य अहंकार में केवल "मैं" ही रह जायगा। अहम् आकार वाली चित्त की एक वृत्ति होती है, दूसरी घट-पटादि आकार वाली वृत्ति होती है। तो साक्षी, चेतन और अहंकार का मिश्रण तो सामान्य अहंकार है, उसमें "मैं" ही शेष रहता है और जब "मैं" का भी लोप हो जाय तो इसकी आत्मा में स्थिति हो जाती है। दूसरे शब्दों में, पहली अवस्था तो वह है जिसमें ध्याता, ध्यान और ध्येय तीनों हैं; इसके

बाद दूसरी स्थिति वह है जिसमें ध्याता और ध्यान रह जाते हैं और तीसरी में केवल ध्येय ही रह जाता है। इस प्रकार मन को आत्मा में लगाने के लिए, आत्मा का दर्शन पाने के लिए अनात्म पदार्थों से दृष्टि हटाकर वाणी पर आत्म-चिन्तन लाना है, वाणी से उसे मन में लाया जायगा, मन से बुद्धि में और बुद्धि से महत्तत्व में और अन्त में आत्मा में ही इसकी प्रतिष्ठा हो जायगी। इसलिए इस "लय चिन्तन" की प्रक्रिया को समझकर अपनाने से साधक को सुगमता से ही अपने स्वरूप का दर्शन हो सकता है।

---

## प्रणव और गायत्री

यह जीवात्मा जिसका स्वरूप पहले ज्योतिर्मय, कूटस्थ, चेतन आदि शब्दों से बताया गया है, वास्तव में ब्रह्म, परिपूर्ण परमात्मा का ही अंश है। लेकिन अनादिकाल से अविद्या से ग्रसित होने के कारण यह अपने वास्तविक स्वरूप को भूला हुआ है। अपने को देह के जन्म-मरण, कर्ता-भोक्ता आदि धर्मों से इसने संयुक्त कर लिया है। पाँच कोशों में उसे अभिमान हो गया है। और इस अभिमान के फलस्वरूप यह जन्म-मरण-के चक्कर में पड़ा है। महान् संसृति-क्लेश इसे भोगना पड़ता है। उपनिषद् यह नहीं चाहती। उपनिषद् ने तो दया करके उसे महान् रोग से मुक्ति का उपाय बताया है। लोक में हम देखते हैं, जो समर्थ है वह अपने को रोग-मुक्त करने के लिए सब प्रकार के उपाय काम में लाता है। असाध्य को भी सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। तो इस प्रकार संसार-सागर से मुक्त होने का जो एकमात्र उपाय है, आत्म-

दर्शन, वह भी साधना द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। यदि आत्मदर्शन असंभव होता और इस जीव को इसी प्रकार नाना योनियों में जन्म लेकर जन्म-मरण के दुःख भोगने के अतिरिक्त कोई और मार्ग न होता, तो श्रुति अमृतत्व की प्राप्ति के हेतु प्रयत्नशील होने के लिए हमें सावधान ही क्यों करती ? चूँकि आत्मा को अनुभव किया जा सकता है, उसका दर्शन हो सकता है, इसलिए श्रुति ने "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं" आदि से उसके स्वरूप का निर्देश किया। हमारे दुःख का मूल कारण इस स्वरूप को न पहचान पाना ही है। हमने अनात्म में अहं-बुद्धि कर ली है। पर आत्मा के स्वरूप को जानकर उसी के शुद्ध स्वरूप में अहं-बुद्धि करने से ही हमारा कल्याण होगा।

किसी वस्तु के स्वरूप को जानने से पहले उसके नाम को जानना आवश्यक है। मन नाम-रूप के दो परों से ही उड़ान भरता है। नाम-रूप के बिना कोई वस्तु जानी ही नहीं जा सकती। मन संसार में अनन्त रूप और नाम देखता है। एक वस्तु से मन हटा तो दूसरी पर लग गया। मनुष्य मन को एकाग्र नहीं कर पाता। मनकी एकाग्रता के बिन शान्ति भी नहीं मिलती। अतः शास्त्र ने संसार के अनात्म पदार्थों की ओर से इसका मन हटाने के लिए इसे वैदिक मंत्र और नाम दिए। अनाम, अरूप ब्रह्म का दर्शन पाने के लिए भी अनाम-अरूप बनना होता है। इसलिए इसे सर्वप्रथम संसार के अनन्त नाम-रूप वाले पदार्थों से मन हटाकर, एक नाम-रूप वाले वैदिक मन्त्र अथवा भगवत् नाम जप की ओर जाने का निर्देश किया गया। जिस प्रकार लोक में कोई सिपाही युद्ध में बिना अभ्यास के नहीं जाता, स्थूल आकृतियों को निशाना बनाते-बनाते जब वह सूक्ष्मतम निशाना लगाने में, उड़ते हुए पक्षी की आँख बेधने में पारंगत हो जाता है, तभी उसे युद्ध में जाने दिया जाता है, इसी प्रकार एक नाम-रूप वाले

पदार्थ या मंत्र में जब इसका अभ्यास दृढ़ हो जाता है, तब यह आत्मा को अनाम, अरूप करके जान लेता है।

तो साधक को यहाँ आत्मा को निशाना बनाना है। श्रुति कह रही है:—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥ (मुण्डक० २।२।४)

प्रणव आत्मा, ओंकार धनुष है। धनुष पर बाण चढ़ाकर ही लक्ष्य का वेधन किया जाता है। इसी प्रकार ब्रह्म लक्ष्य है और ओंकार रूपी धनुष पर चढ़ाकर सोपाधिक आत्मा अथवा मन को ही उस लक्ष्य में पहुँचाना है। जैसे धनुष से छोड़ा गया बाण अपने लक्ष्य में स्थित होता है, उसी प्रकार अभ्यास से दृढ़ किये हुए प्रणव के द्वारा ही संस्कृत होकर वह उसके आश्रय से बिना किसी बाधा के अक्षर-ब्रह्म में स्थित होता है। मुमुक्षु को अप्रमत्त होकर यानी एकाग्रचित्त होकर, बाह्य विषयों से विरक्त होकर ब्रह्मरूप लक्ष्य का वेधन करना चाहिए और फिर वेधन करने के अनन्तर बाण के समान तन्मय हो जाना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार बाण अपने लक्ष्य से एकरूप हो जाता है, उसी प्रकार देहादि में आत्मत्व की प्रतीति का तिरस्कार कर उस अक्षर-ब्रह्म से एकात्मत्व प्राप्त कर लेना चाहिए। मनुष्य-जीवन का लक्ष्य भी वास्तव में यही है।

लक्ष्य वह है जो स्थिर है। संसार के पदार्थ अस्थिर, विकारी हैं, उन्हें बुद्धिमान पुरुष लक्ष्य नहीं बना सकता। समुद्र में यात्रा करने वाले जहाजों के लिए जिस प्रकार ध्रुवतारा जो कभी अपने स्थान से नहीं हटता, लक्ष्य है, उसी प्रकार जीवात्मा का लक्ष्य है ब्रह्म। ब्रह्म में कभी कोई परिवर्तन नहीं, वह सदा कूटस्थ, अविकारी अचल और अजर-अमर है। इसलिए संसार के अस्थिर पदार्थों को लक्ष्य नहीं बनाना चाहिए। जो जहाज ध्रुव के अतिरिक्त

अज्ञान वश किसी अन्य तारे से दिशा-ज्ञान प्राप्त करना चाहेगा, भटक जायगा; इसी प्रकार जिसने सांसारिक पदार्थों को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया है, वह तो बारम्बार इसी संसार में भटकता रहेगा। इसलिए आत्मा को अपना लक्ष्य बनाए।

लक्ष्य के वेधन के लिए श्रुति ने ओंकार का आश्रय लेने की आज्ञा दी है। "पातञ्जलयोगदर्शन" में बताया है—

तस्य वाचकः प्रणवः। ॥ (१।२७)

उस ईश्वर का वाचक या नाम प्रणव ही है। "ॐ" उस परमेश्वर का नाम होने से मुख्य है। भगवान् गीता में कहते हैं—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधिः स्मृतः।
ब्राह्मणस्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ (१७।२३)

अर्थात् ॐ, तत्, सत्, ऐसे यह तीन प्रकार का सच्चिदानन्द घन ब्रह्म का नाम कहा है उसी से सृष्टि के आदिकाल में ब्राह्मण, वेद तथा यज्ञादिक रचे गये हैं। 'कठोपनिषद्' में भी ओंकार की महिमा गाते हुए कहा—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तापाँसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति।
तत्ते पदँ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।१।२।१५

अर्थात् "सारे वेद जिस पद का वर्णन करते हैं, समस्त तपों को जिसकी प्राप्ति के लिए ही बताया है, जिसकी इच्छा से मुमुक्षु जन ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उस पद को मैं तुम से संक्षेप से कहता हूँ। "ॐ" यही वह पद है। अतः इसी अक्षर को जानकर जो जिसकी इच्छा करता है, वही उसका हो जाता है। यही अक्षर पर है, यही अक्षर ब्रह्म है।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥कठ०।१।२।१६

तो इस अक्षर का जप करते हुए उसके अर्थ स्वरूप परमेश्वर का चिन्तन करना चाहिए। महर्षि पातञ्जलि ने बताया—

तज्जपस्तदर्थभावनम्॥ (१।२८)

ओंकार का जप करते हुए जब साधक उसके अर्थ स्वरूप परमात्मा का चिन्तन करेगा तो उसके सामने से संसार तथाय नाम-रूप हट जायगा और यह एक नामरूप रह जायगा। यानी विघ्नों और विषयों की इतिश्री हो जायगी और आत्मा के स्वरूप का ज्ञान भी हो जायगा। भगवान् ने भी ओंकार के अर्थ स्वरूप भगवान् चिन्तन की महिमा बताई—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन।
यःप्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥८।१३

अर्थात्—"जो पुरुष "ॐ" ऐसे इस एक अक्षर रूप ब्रह्म के उच्चारण को करता हुआ और उसके अर्थ स्वरूप मेरे को चिन्तन करता हुआ शरीर को त्याग कर जाता है, वह पुरुष परमगति को प्राप्त होता है।"

लेकिन यहाँ भी नाम और रूप दो वस्तुएँ रह जाती हैं। द्वैत से शास्त्र को घृणा है। इसलिए तेजधर्मा रूप का त्यागा। शब्द-धर्मा नाम को रखा। नाम को भी आगे चलकर शास्त्र मायावी कहता है, और फिर अनाम ही शेष रह जाता है। लेकिन अनाम की उपासना कोई सहसा कैसे कर सकता है! इसलिए "ओंकार" की आवश्यकता हुई। उसके जप से जैसा कि ऊपर कहा, साधक जो चाहता है, वह पा लेता है। ओंकार की श्रेष्ठता 'छान्दोग्य उपनिषद' में भी बताई है। सृष्टि बनाने के बाद प्रजा-पति ने सोचा कोई ऐसा तत्व होना चाहिए जिसके द्वारा जीव सुख की प्राप्ति कर सके। अतः उसने लोकों को तपाया। भूलोक, अन्तरिक्ष लोक और स्वर्ग लोक के तपाने से अग्नि, वायु और

सूर्य की उत्पत्ति हुई। इन तीनों को भी उसने तपाया। इससे ऋग्, यजुः और सामवेदों की उत्पत्ति हुई। इन तीन वेदों से गायत्री के तीन पाद निकले और इनसे भूः, भुवः, स्वः ये अक्षर उत्पन्न हुए। इनको भी आलोड़न कर उसने अ-उ-म् वाले ओंकार की उत्पत्ति की। (छा० २।२३।२-३)

ओंकार की सर्वव्यापकता इस तालिका से और स्पष्ट है—

| अङ्गभूत प्रपंच | अ | उ | म् |
|---|---|---|---|
| अभिमानी आत्मा | विराट | हिरण्यगर्भ | ईश्वर |
| रूप | विश्व | तैजस | प्राज्ञ |
| स्थान | भूर्लोक | भुवः | स्वः |
| वेद | ऋग् | यजुः | साम |
| शरीर | स्थूल | सूक्ष्म | कारण |
| अवस्था | जाग्रत | स्वप्न | सुषुप्ति |
| ऋषि | अग्नि | वायु | सूर्य |
| देवता | ब्रह्मा | विष्णु | रुद्र |

ओंकार चिन्तन से सारे प्रपंच का लय करने वाले मुमुक्षु को चाहिए कि वह ऐसा चिन्तन करे कि विश्व है तो यह सब है; विश्व नहीं है तो कुछ नहीं है। इस प्रकार विश्व का विराट में लय करे। "उ" के सामने जितना प्रपंच है, उसका लय तैजस में करे और "म्" के सामने का प्रपंच प्राज्ञ में लय करे। अब विराट-हिरण्यगर्भ और ईश्वर रह गये। इनका भी माया द्वारे में लय करे, विराट का 'अकार' में, हिरण्यगर्भ का 'उकार' में और 'मकार' में ईश्वर का लय करे। अकार, उकार रूप है और उकार, मकार रूप है।[1] तीनों मिल गए तो "ॐ" बना। 'ॐ' के सामने मन की समाधि लगती है, आत्मा की नहीं। समाधि महाकारण है, क्योंकि अज्ञान का अधिष्ठान है। समाधि का लय महाकारण में, महाकारण का लय तुरीय में और तुरीय का लय ब्रह्म में कर दे। ब्रह्म का लय "ॐ" में करे। "ॐ" ब्रह्म रूप है, ऐसा चिन्तन करे। जो 'सोऽहम्' का अर्थ है वही "ॐ" का। "वह मैं हूँ" ऐसा चिन्तन करे। तो इस प्रकार ओंकार से सारे प्रपंच का नाश और अमृतत्व की प्राप्ति हो सकती है।

'छान्दोग्योपनिषद्' में आता है—"जो ओंकार को अमृतरूप

---

१. माण्डूक्योपनिषद् में ओंकार और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन ८–९–१०–११ मंत्रों में किया गया है। वहाँ लिखा है—परमात्मा के नामात्मक ओंकार की जो तीसरी मात्रा "म" है, वह "मा" धातु से बनी है। "मा" धातु का अर्थ माप लेना समझना चाहिए। "म" ओंकार की अन्तिम मात्रा है। "अ" और "उ" के पीछे उच्चरित होती है—इस कारण दोनों का माप इसमें आ जाता है। "म" का उच्चारण होते-होते मुख बन्द हो जाता है, "अ" और "उ" उसमें विलीन हो जाते हैं; अतः वह अन्त में उन दोनों मात्राओं को विलीन करने वाला भी है।

में जानकर उसके अर्थभूत अविनाशी परमेश्वर की स्तुति एवं उपासना करता है तथा एक मात्र इसी अमृतरूप, सर्वथा भय-रहित एवं अविनाशी परमात्मा के स्वरूपभूत इस स्वर में प्रविष्ट हो जाता है—उसकी शरण में चला जाता है, वह उसमें प्रवेश करके उसी अमृत को प्राप्त कर लेता है। (१।४।५)

इसी प्रकार 'प्रश्नोपनिषद्' में भी बताया है कि—

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभि-
ध्यायीत स तेजसि सूर्ये संपन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा
विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः ॥५।५

जो उपासक त्रिमात्राविशिष्ट "ॐ" इस अक्षर द्वारा इस परम पुरुष की उपासना करता है वह तेजोमय सूर्यलोक को प्राप्त होता है सर्प जिस प्रकार में केंचुली से निकल आता है उसी प्रकार वह पापों से मुक्त हो जाता है। और भी बताया—

तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्
यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति।५।७

उस ओंकार रूप आलम्बन के द्वारा ही विद्वान उस लोक को प्राप्त होता है जो शान्त, अजर, अमर, अभय एवं सबसे पर, श्रेष्ठ है। इसी प्रकार गायत्री की श्रेष्ठता भी कम नहीं है। मनु ने कहा है—

एतदक्षरमेतां च जपन्व्याहृतिपूर्विकाम्।
सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥ (२।७८)

अर्थात् इस 'ओम्' अक्षर और इस व्याहृतिपूर्वक सावित्री को दोनों संध्याओं में जपता हुआ वेदपाठी ब्राह्मण वेदपाठ के पुण्य का भागी होता है। गायत्री की उत्पत्ति के विषय में भी मनु ने स्पष्ट लिखा है—

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः।
वेदत्रयान्निरदुहद्भूर्भुवः स्वरितीति च ॥ (२।७६)

ब्रह्मा ने तीनों वेदों से अकार, उकार और मकार, एवं भूः;

भुवः, स्वः इन व्याहृतियों को क्रम से निकाला और परमेष्ठी ब्रह्मा ने ही तीनों वेदों से इस सावित्री का एक-एक पाद निकाला। (मनु० २।७७) बृहदारण्यकोपनिषद् के पंचम अध्याय में चौदहवें ब्राह्मण के अन्तगत आता है—"भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौ, ये आठ अक्षर हैं। आठ अक्षर वाला ही गायत्री का प्रथम पाद है। "ऋचः, यजूंषि, सामानि"—ये आठ अक्षर हैं। आठ अक्षर वाला ही गायत्री का दूसरा पाद है। प्राण-अपान-व्यान, ये आठ अक्षर हैं, यही आठ अक्षर वाला गायत्री का तृतीय पाद है और यह जो तपता है वही इसका तुरीय, दर्शत परोरजा ( परोरजा का अर्थ है, जो सभी रज ( यानी लोकों ) के ऊपर-ऊपर रहकर प्रकाशित होता है। ) पद है। जो चतुर्थ होता है, वही तुरीय कहलाता है। इस पूर्वोक्त गायत्री ने गयों अर्थात प्राणों का त्राण किया था, इसीलिए इसका नाम गायत्री है।"

जिस प्रकार ओंकार पद से साधक जो चाहे पा लेता है, उसी प्रकार गायत्री के जप से ब्रह्मास्त्र, ब्रह्मदण्ड, पाशुपति आदि दिव्य अस्त्र सिद्ध हो जाते हैं। गायत्री के जप तीन प्रकार के हैं—अनुलोम, प्रतिलोम और विलोम। ॐ भुर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेणियम् भर्गोदेवस्य धीमहिधीयो योनः प्रचोदयात्—ऐसा जो मंत्र है उसका इस रूप में जप करना तो अनुलोम जप है। प्रतिलोम में पहले तृतीय पाद फिर दूसरा पाद और अन्त में प्रथम पाद बोलना होता है। ऐसा जप करने से ब्रह्मदण्ड की प्राप्ति होती है। पदों का प्रतिलोम करें तो वह विलोम जप होगा इससे ब्रह्मशर की प्राप्ति होती है। और अक्षरों को भी उलट दें तो ब्रह्मास्त्र की प्राप्ति होती है। इन सिद्धियों को भी वही पा सकता है, जिसने पहले २४ लाख अनुलोम जप किया हो। तभी दिव्यास्त्रों की शक्ति सँभालने का बल आता है। इस मंत्र से लौकिक-पारलौकिक दोनों सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

इसका अर्थ भी कितना सुन्दर है। मंत्र कह रहा है—सबका प्रेरक (सविता), ज्योतिरूप, चेतन आत्मा, सर्वान्तर्यामी जो लोक और वेद में प्रसिद्ध है, वही तेजरूप सबके लिए वरण करने योग्य है। उसकी प्राप्ति की इच्छा करनी चाहिए। (लौकिक पदार्थों की चाहे कोई कितनी ही कामना करे, पर जो प्रारब्ध में है, वही मिलता है। क्षय और वृद्धि में दैव ही कारण है जैसा कि भर्तृहरि ने बताया है :—

भग्नाशस्य करण्डपीड़िततनोर्म्लानेन्द्रियस्य क्षुधा।
कृत्वाऽऽखुर्विवरं स्वयं निपतितो नक्तं मुखे भोगिनः।
तृप्तस्तत्पिशितेन सत्वरमसौ तेनैव यातः पथा।
लोकाः पश्यत दैवमेव हि नृणां वृद्धौ क्षये कारणम्॥

अर्थात् एक सर्प पिटारे में बन्द होने के कारण शरीर से पीड़ित और जीने की आशा छोड़ भूख से क्षीणेन्द्रिय हो रहा था। अकस्मात् रात्रि में एक चूहा, जिसका "जिमि हिम उपल कृषि दल गरई" जैसा दुष्ट स्वभाव होता है, उसके पिटारे में छिद्र करके घुसा और स्वयं सर्प के मुख में गिर पड़ा। सर्प भी मूषक के मांस से तृप्त होकर उसी छिद्र से बाहर निकल गया। हे भाइयो! देखो, पुरुषों की वृद्धि और क्षय में दैव ही कारण होता है।) वह जिसे पहले वरण करने योग्य बताया, अविद्या, काम, कर्म जलाने वाला होने से तेजरूप है, देव यानी स्वयं प्रकाश है, उसी का हम ध्यान करें। वही हमारी बुद्धि-इन्द्रियों को शुभ कर्मों में प्रेरित करने का सामर्थ्य रखता है। वही परमात्मा भूलोक, अन्तरिक्ष लोक और स्वर्गलोक में व्याप्त है अथवा वही प्राण, अपान, व्यान का मूल है। (प्राण जीवन का, अपान बल का और व्यान, स्व, या संपत्ति का द्योतक है।) और फिर वह ज्योतिरूप "ओं" अर्थात् सबका रक्षक है। तो इस प्रकार गायत्री का जप करते हुए उसके अर्थ का चिंतन करे। जपते हुए साधक का नियंत्रित होना अत्यावश्यक है। जो भोग-

विलास में फँसा हुआ, आचारहीन होगा उसका यह जप सफल नहीं हो सकता। साधक को शास्त्र, गुरु और परमात्मा का नियन्त्रण स्वीकार करके ही आगे बढ़ना चाहिए। जप करते-करते साधक वायु की तरह असंग और आकाश की तरह निर्दोष एवं व्यापक होकर परब्रह्म के पास जाता है, ऐसा मनु का कथन है। तो यों शास्त्र ने हमें जीवन का लक्ष्य और उसके वेधन का उपाय बता दिया है। उत्तम अधिकारी साधक इसी मार्ग को अपनाकर अमृतत्व की प्राप्ति कर लेता है।

---

## मन की एकाग्रता

आत्मा के स्वरूप को जानने से पहले मुमुक्षु के लिए देहाभिमान त्याग आवश्यक बताया गया है। शरीरादि को ही आत्मा मानने वाले वस्तुतः यह भूल मिथ्या अहंकारवश ही करते हैं। अनात्म पदार्थों में अहं-बुद्धि करना आत्मा के स्वरूप को न जानने देने में सबसे बड़ी बाधा है। अज्ञानवश ही अन्तःकरण ने इन चक्षु आदि इन्द्रियों में "मैं पन" का अभिमान कर लिया है। यही अहंकार का स्वरूप है। भगवान् शंकराचार्य ने "विवेकचूड़ामणि" में बताया है—

> विषयाणमानुकूल्ये सुखी दुःखी विपर्यये।
> सुखं दुःखं च तद्धर्मः सदानन्दस्य नात्मनः॥

अर्थात् "विषयों की अनुकूलता से मनुष्य सुखी और प्रतिकूलता से दुःखी होता है। सुख और दुःख अहंकार के ही धर्म हैं; नित्यानन्दस्वरूप आत्मा के नहीं।" आत्मा तो असंग, निर्विकार

और चेतनस्वरूप है। सबको ज्योति देने वाला है। जिस प्रकार मानलो एक बर्तन में आग रखी है, और वह बर्तन एक और बर्तन के अन्दर रख दिया गया हो तथा उसको अन्य पात्रों में रख दिया जाय, तो सबसे अन्दरवाले पात्र में रखी अग्नि की गरमी से क्रमशः वह सभी पात्र गरम हो जायँगे। सबसे ऊपर का पात्र गरम होगा और उसके नीचे के पात्र भी गरम ही होंगे। पर वस्तुतः इन पात्रों में अपनी कोई उष्णता नहीं है। सबसे अन्दर के पात्र में रखी उष्णता से ही सब गरम हैं। ऊपर वाले पात्र को छूकर यदि किसी की अंगुली जल जाती है, तो वह पात्र से नहीं, प्रत्युत उसी अग्नि से जलती है, जो कि सब पात्रों को गरम कर रही है। उष्णता पात्र का धर्म नहीं, अग्नि का धर्म है। इसी प्रकार हमारा आत्मा पाँच कोशों से आवृत्त है, आत्मा के ऊपर आनन्दमयकोश है, उसके ऊपर विज्ञानमयकोश है, उसके भी ऊपर मनोमयकोश है, उसके ऊपर प्राणमयकोश है और सबसे ऊपर है अन्नमय कोश। तो चेतनस्वरूप अत्माकी चेतनता से ही सबमें चेतनता है। जिस प्रकार अग्नि से गरम होने वाले गरम पात्र को अग्नि नहीं मान सकते, इसी प्रकार अन्नमय आदि पाँचों कोशों को भी आत्मा नहीं मान सकते। आत्मा तो पाँचों कोशों से परे है। परन्तु ऐसा हमें अनुभव क्यों नहीं हो रहा! इसका कारण है हमारा अहंकार। विशेष अहंकार और सामान्य अहंकार—अहंकारके ये दो भेद पहले बताए जा चुके हैं। मैं ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ, स्त्री हूँ, पुरुष हूँ, आदि तो विशेष अहंकार के ही द्योतक हैं। लेकिन 'मैं" हूँ, ऐसा मान लेना, सामान्य अहंकार का लक्षण है। जैसा कि पहले बताया, चेतन आत्मा और अहंकार का मिश्रण ही सामान्य अहंकार का स्वरूप है। इसे ही—"जड़-चेतनहि ग्रंथि पर गई—जद्यपि मृषा छूटत कठिनई" कहा गया है। इसी के लिए श्रुति ने—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ (मुण्डक० २।२।८)

जड़-चेतन की यह ग्रन्थि कार्य-कारण रूप ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने पर ही टूटती है और जो इस ग्रन्थि को सुलझाने में सफल हो जाता है, उसके कर्म क्षीण हो जाते हैं और सारे संशय भी नष्ट हो जाते हैं। अतः ब्रह्म का साक्षात्कार करने के लिए यह आवश्यक हो गया कि चेतन से अहंकार को भी अलग कर दिया जाय। अहंकार वस्तुतः आत्मा का स्वरूप नहीं। यह तो चिदाभास के तेज से व्याप्त हुए अन्तःकरण में "मैं पन" के अभिमान से उदय हुआ है। आत्मा में यदि अहंकार होता तो यह तीनों काल में रहा आता। जाग्रत में—मैं हूँ, चलता-फिरता या खाता-पीता हूँ और आत्मा से यह सब करता हूँ—ऐसी अवस्था देखने में आती है, अर्थात् अहंकार, क्रिया और आत्मा तीनों वहाँ हैं। और जाग्रत एवं स्वप्न में ये तीनों अनुभव में आते हैं। क्रिया और आत्मा के साथ वहाँ अहंकार भी है, लेकिन सुषुप्ति में अहंकार नहीं है। यदि होता तो हमें अनुभव होता कि "मैं" इस समय सो रहा हूँ,या मेरे ऊपर से रजाई, ओढ़ना हट गया है, इत्यादि। लेकिन ऐसा होता नहीं। सोकर उठने के बाद हम यह तो कहते हैं कि "सुखपूर्वक सोया।" लेकिन प्रगाढ़ निद्रा के समय ऐसी अनुभूति नहीं होती कि 'मैं सो रहा हूँ।' इससे पता चलता है कि अहंकार आत्मा का स्वरूप नहीं। आत्मा विशुद्ध है, असंग है, निर्विकार है।

अतः उसका दर्शन करने के लिए जप द्वारा मन को संसार से हटाकर अन्तर्मुख होने का उपाय बताया गया है। जिस प्रकार थाली अथवा भूमि पर गिरा हुआ जल फैल जाता है और गिलास-लोटे आदि में वह सुरक्षित सिमटा हुआ रहता है, उसी प्रकार चित्त की वृत्तियाँ बहिर्मुख होकर फैल जाती हैं और मन

की एकाग्रता उससे नहीं हो पाती। अन्तर्मुख मन एकाग्र होगा तो उससे आत्म-दर्शन में सहायता मिलेगी। मन को एकाग्र करने की प्रथम सीढ़ी है धारणा दूसरी है, ध्यान और तीसरी है समाधि। पातञ्जल योगदर्शन में बताया है—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ ३।१

बाहर या शरीर के भीतर कहीं भी किसी एक देश में चित्त को ठहराना "धारणा" है और ऐसी अवस्था भी कम-से-कम दो घण्टे तक रहे, तभी धारणा सफल मानी जा सकती है। ध्यान धारणा से बारह गुना होता है, अर्थात् चित्त की वृत्ति अविकलरूप से एक ही देश में चौबीस घण्टे तक ठहरनी चाहिए।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ ३।२

"जहाँ चित्त को लगाया जाय, उसी में वृत्ति का एकतार चलना "ध्यान" है। यदि भगवान् का ध्यान कर रहे हैं, तो एक क्षण के सौवें भाग में भी संसार का ध्यान, चिन्तन नहीं होना चाहिए। और समाधि तो ध्यान से भी बारह गुनी है, अर्थात् बारह दिन लगातार एक ही स्थान में चित्त का ठहर जाना समाधि है। धारणा में तो ध्येय और ध्यान दोनों थे और ध्यान में ध्येय और ध्यान ही रह जाते हैं। और समाधि का स्वरूप बताया—

तदेवार्थ मात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। ३।३

अर्थात् ध्यान करते-करते जब चित्त ध्येयाकार में परिणत हो जाता है, तो उसके अपने स्वरूप का अभाव-सा हो जाता है, उसकी ध्येय से भिन्न उपलब्धि नहीं होती, उस समय उस ध्यान का नाम ही समाधि हो जाता है। तो इस प्रकार मन को धीरे-धीरे एकाग्र करने से वह एक ही लक्ष्य पर ठहरने में सामर्थ्यवान् हो जाता है। और लक्ष्य पर ठहरने का अभ्यास होते ही यह सोपाधिक आत्मा ( मन ), जिसे पहले बाण की उपमा दी, अपने स्वरूप में ओंकार द्वारा प्रतिष्ठित हो जाता है।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥ (मुण्डक० २।२।४)

तो आत्मा रूपी लक्ष्य को वेधन करने के लिए ही ओंकार द्वारा मन को एकाग्र करने की परम आवश्यकता है। मन की एकाग्रता के बिना लक्ष्य वेधन असम्भव होता है। महाभारत में कथा आती है—एक दिन द्रोणाचार्य ने अपने शिष्यों की परीक्षा लेने का विचार किया। उन्होंने नीले रंग की एक बनावटी चिड़िया सामने पेड़ की एक ऊँची डाली पर रख दी। अनन्तर उन्होंने सब राजकुमारों को बुलाकर वह चिड़िया उन्हें दिखाई। दिखाकर आपने कहा—"तुम सब लोग इस निशाने पर बाण चलाने के लिए—इस चिड़िया को बाण से छेदने के लिए—तैयार हो जाओ। हम एक-एक को निशाना लगाने की आज्ञा देंगे। बाण छोड़ने की आज्ञा पाते ही तुम लोग इस चिड़िया के दक्षिण नेत्र को बाण से छेद देना।"

यह कहकर द्रोण ने पहले युधिष्ठिर को बुलाया और निशाने के सामने खड़ा करके उनसे कहा—'हे वीर! पहले हमारे प्रश्न का उत्तर दो। फिर हमारी आज्ञा पाते ही बाण छोड़ना, पहले नहीं।'

युधिष्ठिर ने धनुष उठाया और उस पर बाण रख निशाने को ताककर खड़े हुए। तब द्रोण ने पूछा—"हे धर्मपुत्र! तुम इस चिड़िया को देखते हो?"

युधिष्ठिर ने कहा—"हाँ देखता हूँ।"

फिर द्रोण ने पूछा—"क्या तुम इस पेड़ को, हम को और जितने राजकुमार यहाँ खड़े हैं उन सबको भी देखते हो?"

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—"भगवन्! मैं इस पेड़ को, आपको और खड़े हुए इन राजकुमारों को भी देख रहा हूँ।"

यह बात द्रोण के असन्तोष का कारण हुई। उन्होंने अप्रसन्न होकर कहा—"तुम इस निशाने को न छेद सकोगे।" यह कहकर

युधिष्ठिर को उन्होंने वहाँ से हटा दिया।

इसके अनन्तर एक-एक करके दुर्योधन आदि को भी आचार्य ने निशाने के सामने बाण चढ़ाकर खड़ा किया और सबसे वही प्रश्न पूछे। उत्तर भी सबने लगभग वही दिये जो युधिष्ठिर ने दिये थे। उनके उत्तरों को सुनकर द्रोणाचार्य को बड़ा खेद हुआ। उन्होंने सबका तिरस्कार करके निशाने के सामने से हट जाने को कहा। किसी को बाण छोड़ने की आज्ञा उन्होंने न दी।

अन्त में द्रोण ने मुस्कराकर अपने प्यारे शिष्य अर्जुन को बुलाया और उन्हें यथास्थान खड़ा करके आप बोले—"पुत्र! इस

वार तुम को यह निशाना मारना होगा। धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाओ और निशाने की तरफ़ बाण तानकर कुछ देर ठहरो। फिर हमारे प्रश्नों का उत्तर देकर आज्ञा पाते ही निशाने पर तीर मारना।

गुरु की आज्ञा से धनुष पर बाण रखकर अर्जुन एकटक निशाने की तरफ़ देखने लगे। तब द्रोण पहले की तरह अर्जुन से पूछने लगे—"वत्स! पेड़, पेड़ पर रखी हुई चिड़िया, हम और भाई सब तुम्हें देख पड़ते हैं न?"

अर्जुन ने कहा—"मुझे सिर्फ निशाना देख पड़ता है; न पेड़ देख पड़ता है, न आप देख पड़ते हैं, न और कोई देख पड़ता है।"

तब प्रसन्न होकर द्रोण ने फिर पूछा—"क्या तुम्हें पूरी चिड़िया देख पड़ रही?"

अर्जुन बोले—"मुझे चिड़िया का दक्षिण नेत्र देख पड़ता है, उसका और कोई अंग नहीं देख पड़ता।"

यह सुनकर द्रोण बहुत ही प्रसन्न हुए और बोले—"अच्छा तो निशाने पर बाण छूटने दो।

आज्ञा पाते ही अर्जुन ने बाण छोड़ा और सिर कटी हुई

चिड़िया पृथ्वी पर आ गिरी। द्रोण ने अर्जुन को बड़े प्रेम से हृदय से लगा लिया।

अतएव मन की एकाग्रता से ही उस आत्मा का दर्शन हो सकता है। जिस प्रकार अर्जुन को चिड़िया की आँख के अतिरिक्त और कुछ भी दिखाई नहीं दिया, उसी प्रकार आत्मा का दर्शन करने वाले मुमुक्षु को भी इस संसार का कोई पदार्थ नहीं दिखता है। सनत्कुमारों ने नारदजी को बताया—

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमाथ। यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद् विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम् ॥ (छान्दोग्य० ६।२४।१)

अर्थात् जहाँ यह कुछ और नहीं देखता, कुछ और नहीं सुनता तथा कुछ और नहीं जानता, वही भूमा है। किन्तु जहाँ कुछ और देखता है, कुछ और सुनता है एवं कुछ और जानता है, वह अल्प है। जो भूमा है वही अमृत है; जो अल्प है, वह मर्त्य है। भूमा अर्थात् व्यापक, जिसमें सारे ब्रह्माण्ड स्थित हैं और जो सब में साक्षी, द्रष्टा, चेतन, कूटस्थ आत्मा रूप से स्थित है। उसे ओंकार द्वारा मन की एकाग्रता से जान लें, तो वही अपने स्वरूप का भी सच्चा दर्शन है। माण्डूक्यकारिका में आता है :—

प्रणवं हीश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदि संस्थितम्।
सर्वव्यापिनमोङ्कारं मत्वा धीरो न शोचति ॥

(माण्डूक्यकारिका २८।)

अर्थात् प्रणव को ही सबके हृदय में स्थित ईश्वर जाने। इस प्रकार सर्वव्यापी ओंकार को जानकर बुद्धिमान पुरुष शोक नहीं करता। तो इस प्रकार मन में ओंकार का दृढ़ संस्कार होने पर एवं ओंकार अर्थरूप आत्मा का चिन्तन करते रहने से अपने वास्तविक स्वरूप की सच्ची अनुभूति साधक को हो जाती है।

---

# शिवरूप आत्मा !

लोक में देखा जाता है कि मनुष्य को सांसारिक, मायिक अथवा कल्पित पदार्थों से तात्कालिक सुख तो मिल जाता है, लेकिन सच्चा सुख नहीं मिलता। सच्चा, शाश्वत सुख उसे ही मिलता है, जिसने पंचकोशों से परे, इन्द्रियातीत, सबके प्रकाशक, परमेश्वर, चेतनस्वरूप आत्मा का दर्शन किया है। वास्तविक वस्तु के ज्ञान से ही सच्चा सुख मिलता है, और यह वास्तविक वस्तु है अपनी आत्मा। श्रुति कह रही है :—

एकोवशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥

(श्वेत० ६।१२)

अर्थात् जो एक अद्वितीय स्वतन्त्र परमात्मा बहुत से निष्क्रिय जीवों के एक बीज को अनेक रूप कर देता है, उस अपने अन्तः-करण में स्थित देव को जो धीर देखते हैं, उन्हें ही नित्य सुख प्राप्त होता है, औरों को नहीं। जिनको परमात्मा में ऐसा ही दृढ़ निश्चय है जैसा कि आँख देखी वस्तु में, उन्हें ही शाश्वत सुख मिलता है। गीता में भी भगवान् ने कहा है :—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ (५।२१)

जो अनात्म पदार्थों में आसक्ति नहीं रखता उसे ही आत्मा का सुख मिलता है। वह सुख कैसा है ? अक्षय ! सुख वास्तव में आत्मा का स्वरूप ही है। इसलिए शास्त्र ने निरन्तर भजन, उपा-सना आदि की प्रेरणा दी है, क्योंकि तत्वज्ञान में पहुँचने के लिए, आत्मा का दर्शन करने के लिए उपासना, भक्ति मुख्य साधन हैं। उपासनाएँ भी अनेक प्रकार की हैं और उनके फल भी विविध हैं। मोक्ष प्राप्ति के लिए बताये गए अनेक साधनों में जैसे भक्ति का

स्थान बहुत ऊँचा है, वैसे ही शिव के पूजन और उनकी उपासना से पर विद्या की प्राप्ति होती है। भगवान् शिव स्वयं आत्मस्वरूप हैं और स्वभाव से हैं वह आशुतोष। जो माँगो वही देने वाले, अत्यन्त शीघ्र प्रसन्न होने वाले। लौकिक और पारलौकिक सुख उनकी उपासना से सहज ही प्राप्त हो जाते हैं। मनुष्य ही नहीं, देवता भी उनकी उपासना करके भयंकर संकटों से बच जाते हैं। 'महिम्नस्तोत्र' में आता है :—

अकांडब्रह्माण्डक्षय चकित देवासुर कृपा—
विधेयस्यासीद्यस्त्रिनयन विषं संहृतवतः ॥
स कल्माषः कंठे तव न कुरुते न श्रिय महो
विकारोऽपि श्लाघ्यो भुवन भयभंगव्यसनिनः ॥

अर्थात् जब समुद्रमंथन के समय विष निकला और उसकी महाभयंकर ज्वालाओं से प्रलय जैसा दृश्य उपस्थित होने लगा, ब्रह्माण्ड का असमय क्षय होने का भय था, तब विष्णु, ब्रह्मा और अन्य देवताओं पर कृपाकर अपने विष पान किया और उसे कण्ठ में ही धारण कर लिया। इस प्रकार आपने संसार को प्रलय से बचाने के लिए स्वयं को संकट में डाल दिया। इसलिए आपके कंठ में विष से जो नीला धब्बा पड़ गया है, वह भद्दा प्रतीत नहीं हो रहा, वरन् शोभा बढ़ा रहा है। संसार को संकट से बचाने के लिए अथवा परोपकार की भावना से किये गए किसी कर्म में कुछ हानि भी स्वयं को हो जाय तो वह कल्याणप्रद ही होती है, क्योंकि संकट मोल लेने वाले की परोपकार की भावना को उससे प्रकाश मिलता है। तो ऐसे दयालु हैं महादेव शिवजी।

इसी प्रकार एक बार श्रीकृष्ण को भी शिवजी की दया की आवश्यकता पड़ गई थी। उनकी रानी जाम्बवती के कोई संतान नहीं थी, अन्य पुत्रवती रानियाँ उसकी ओर उपेक्षा की दृष्टि से देखती थीं। इसलिए वह सदैव व्यथित रहती थीं। उसने श्रीकृष्ण

से प्रार्थना की कि मुझे भी पुत्ररत्न की प्राप्ति होनी चाहिए। जिसके पुत्र नहीं है, उसे उत्तम लोकों की प्राप्ति नहीं होती और इस लोक में उससे पुत्रवती स्त्रियाँ घृणा करती हैं, अपने बच्चों को भी उसकी छाया से बचाती हैं। इसी प्रकार रुक्मणी आदि रानियाँ मेरा भी तिरस्कार करती हैं, वह असह्य है। श्रीकृष्णजी ने बहुत समझाया कि यह पुत्र, धन, आदि सांसारिक वैभव-सुख प्रारब्धानुसार ही प्राप्त होते हैं, फिर भी जाम्बवती ने हठ की। फलस्वरूप कृष्णजी ने हिमालय में जाकर १२ वर्षों तक तपस्या की। तदनन्तर जाम्बवती के शिवजी की कृपा से साम्ब नाम का पुत्र हुआ। (वह शिवजी का भक्त था। उसने शिवजी की स्तुति में एक ग्रन्थ भी लिखा है जिसमें ५० श्लोक हैं, पर वह अद्वैतवाद और ज्ञान-शास्त्र के प्राण हैं। शैवी सिद्धान्तवालों में इस ग्रन्थ का बड़ा आदर है।) इसी प्रकार भगवान् राम ने भी अपने लंका-अभियान की सफलता के लिए आशुतोष भगवान् शंकर को प्रसन्न किया और दक्षिण में रामेश्वर लिंग की स्थापना की। समुद्र पार किया और रावण का ध्वंस कर सीता की प्राप्ति की। मनुष्य भी इसी प्रकार संसार समुद्र को पार करने के लिए शिवरूप आत्मा की उपासना करके सीता रूपी निज स्वरूप को प्राप्त हो सकता है।

महादेव भगवान् शिव की शरण में एक बार अर्जुन को भी जाना पड़ा। अभिमन्यु के अवसान के बाद वीर अर्जुन ने प्रतिज्ञा कर ली थी कि कल संध्या तक सूर्यास्त से पहले मैं अभिमन्यु के संहारक जयद्रथ का वध कर दूँगा, अन्यथा स्वयं जलकर मर जाऊँगा। जब इस प्रतिज्ञा का श्रीकृष्ण को पता चला तो वह बड़े चकित हुए, बोले—"अर्जुन ऐसा करने से पूर्व मेरे से पूछ लिया होता तो ठीक था। तुम जानते हो, कल सारी कौरव सेना जयद्रथ की रक्षा करेगी और इस प्रकार जयद्रथ को तभी मार

पाओगे जब कौरवों की सेना खत्म कर दोगे और यह थोड़े समय में असंभव है।"

अर्जुन ने पूर्ण विश्वास के साथ कहा—"भगवान्! प्रतिज्ञा करना मेरा काम है और उसको पूरा कराना आपका काम है। अधूरी रहने पर आपकी निन्दा होगी, मेरी नहीं।"

श्रीकृष्ण बोले—"अच्छा! तो रात्रि को मेरे शिविर में आना।" अर्जुन पहुँच गया। भगवान् कृष्ण और अर्जुन दोनों गरुड़ पर बैठ कैलाश जा पहुँचे। श्रीकृष्ण ने कहा—"अर्जुन! इस संकट में शिवजी की उपासना से ही काम बनेगा।" वे दोनों महादेव की गुहा के सामने पहुँचे तो गुहा खाली दिखाई दी। भगवान् ने कहा—"अर्जुन, चिंता मत करो, वह सर्वत्र हैं, कृपा होगी तो अवश्य दर्शन देंगे।" यही तो आत्मा के विषय में श्रुति ने भी कहा है—

> नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
> यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्॥
> (कठ० १।२।२३)

यह आत्मा वेदाध्ययन द्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है और न ही इसे धारण शक्ति अथवा अधिक श्रवण से ही प्राप्त किया जा सकता है। यह साधक जिस आत्मा का वरण करता है, उस आत्मा से अर्थात् आत्मकृपा से ही यह जाना जा सकता है। उसके उसके सम्मुख ही यह आत्मा अपने स्वरूप को व्यक्त कर देता है। तो इस प्रकार आत्मा की कृपा से ही आत्मा को जाना जाता है। सो जानई जेहि देहु जनाई। जानत तुमहि तुमहि होइ जाई॥ अतः शिवजी भी स्वयं कृपा करके दर्शन देंगे। श्रीकृष्ण और अर्जुन ने उनकी स्तुति आरम्भ की—

> जटा सुजाल घूम झूमती निलिम्प निर्झरी।
> विराजमान शीश पै विलोल वीचि वल्लरी॥

ललाट पट्ट ज्वाल माल का प्रवाह-सा वहे।
किशोर चन्द्रभाल पै रति प्रतिक्षण रहे॥
× × ×
ललाट वह्निवेग से अनङ्ग शेष नाम है।
महेश तेज धाम को प्रणाम है प्रणाम है॥
सुधा मयूख शीश पै सुरंग गंगधार है।
महाकपालि की कृपा सुसंपदा अपार है॥

तो उपासना करने से महादेव शिव, जो दही में घृत अथवा तिलों में तेल और अरणि में अग्नि की भाँति सर्वत्र व्याप्त हैं, गुहा में प्रकट हो गए। कृष्णजी से गले मिले और अर्जुन को आशीर्वाद दिया। पूछने लगे—"इस रात्रि में क्या संकट उपस्थित हो गया ?"

भगवान् कृष्ण ने बताया कि अर्जुन ने कल संध्या तक जयद्रथ-वध की प्रतिज्ञा की है। यह आपको ही पूरी करनी होगी। तब महादेव शिव ने श्रीकृष्ण के आग्रह पर पाशुपति अस्त्र दिया। इसकी सहायता से ही महाभारत युद्ध में जयद्रथ और उसके पिता मारे गये और अर्जुन की रक्षा भी हो गई। तात्पर्य यह है कि शिवजी संकटकाल में अथवा समृद्धि में उपासना करने से सब कुछ दे देते हैं। उन्हीं की उपासना से पर-विद्या—जिसे मुंडकोपनिषद् में अक्षर परमात्मा का ज्ञान कराने वाली विद्या कहा है—का ज्ञान होता है। तुरीय आत्मा ही शिव है। शिव अर्थात् कल्याण-रूप और शंकर अर्थात् संताप, कष्ट हरने वाला। तो शिव—आत्मा के ज्ञान से कल्याण अथवा मोक्ष-प्राप्ति और संताप—जन्म-मरण के दुःख की निवृत्ति दोनों सिद्ध होते हैं। शिव को ही तुरीय आत्मा बताते हुए श्रुति कहती है—

नान्तः प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यम ग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म प्रत्यसारं

प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः

(माण्डूक्य १।७)

विवेकीजन तुरीय को ऐसा मानते हैं कि वह न अन्तःप्रज्ञ है, न बहिष्प्रज्ञ है, न उभयतः (अन्तर्बहिः) प्रज्ञ है, न प्रज्ञानघन है, न प्रज्ञ है और न अप्रज्ञ है। बल्कि अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य,[1] एकात्म प्रत्ययसार,[2] प्रपंच का उपशम,[3] शान्त, शिव और अद्वैत रूप है। वही आत्मा है और वही साक्षात् जानने योग्य है। यह है शिव, आत्मा का स्वरूप। इस स्वरूप को जानने में चूँकि कठिनाई है, इसलिए साधक के सम्मुख पहले सोपाधिक स्वरूप रखा, साकार रूप बताया, ताकि उपासना आसानी से हो सके। साकार की उपासना में दृढ़ होने के पश्चात ही यह निराकार, अनाम, अरूप ब्रह्म की उपासना और साक्षात्कार का अधिकारी होता है।

साकार और निराकार की उपासना से पहले शास्त्रों ने इसे निष्काम कर्म करने का उपदेश दिया है। निष्काम कर्म करके जब मन शुद्ध होता है, तो वह सुगमता से साकार की उपासना में लग जाता है। वाणी भी उस उपासना में तल्लीन हो जाती है। निर्विशेष ब्रह्म को तो वाणी-मन का विषय ही नहीं बताया—

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥ (कठ० २।३।१२)

वह आत्मा न तो वाणी से, न मन से, न नेत्र से ही प्राप्त किया जा सकता है, तथापि सर्व विशेष रहित होने पर भी वह जगत का मूल है। इस प्रकार ज्ञात होने के कारण वह है ही; क्योंकि कार्य का विलय किसी अस्तित्व के आश्रय से ही हो सकता

१. जो बताने में नहीं आ सकता।

२. एक मात्र आत्मसत्ता की प्रतीति ही जिसका प्रमाण है।

३. जिसमें प्रपंच का सर्वथा अभाव है।

है। इससे भिन्न धारणा रखने वालों को वह कैसे प्राप्त होगा ? उसे मन-वाणी का अविषय बताते हुए 'महिम्नस्तोत्र' में भी लिखा है:—

अतीतः पथानं तव महिमा वाङ्मनसयो—
गतद्व्यावृत्त्यायं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि ॥
स कस्य स्तोतव्यः कतिविधगुणः कस्य विषयः।
पदे त्वर्वाचाने पतति न मनः कस्य न वच : ॥

निर्विशेष ब्रह्म किसी की मन वाणी का विषय नहीं है, पर साकार ब्रह्म में किसी की मन-वाणी नहीं लग सकी। अतः साकार की उपासना ही पहली सीढ़ी है जो निराकार तक पहुँचा देगी। उपासना में लग जाने पर साधक का मन संसार के नानात्व से हटकर एकाग्र होगा और एकाग्र मन में शिवस्वरूप आत्मा की ज्योति निरन्तर फैलती जायगी। ऐसा अभ्यास दृढ़ होने पर ही जीव जन्म-मरण के चक्कर से छूट जायगा और अपने सच्चे स्वरूप को प्राप्त कर लेगा। यही स्वरूप की प्राप्ति शाश्वत सुख की प्राप्ति है।

---

## असंसारी आत्मा की उपासना

आत्मा को शास्त्र ने असंग और असंसारी कहा है। लेकिन कुछ दूसरे लोगों का मत है कि आत्मा संसारी है। उनका कथन है कि जो वस्तु अनुभव में जैसी आती है, वही उसका स्वरूप है। किसी वस्तु के स्वरूप को प्रमाण या कारक से जाना जा सकता है। प्रमाण ज्ञापक है, बोधक है और कारक स्वरूप-परिवर्तन करने वाला है। तो जब ऐसा भान हो रहा है कि 'मैं'

सुखी हूँ, दुःखी हूँ, भोक्ता हूँ, कर्ता हूँ, तो फिर आत्मा को असंसारी क्यों मान लें? शास्त्र शब्दरूप है और अनुभव प्रत्यक्ष है, अतः शास्त्र से तो अनुभव बलवान है, ऐसा मानना पड़ेगा। मान लो वैद्य पूर्ण विश्वास के साथ किसी रोगी को उदरशूल की औषधि देता है और रोगी आध-पौन घण्टे बाद भी शूल बताता है, तो वैद्य का यह कथन कि औषधि से शूल शान्त हो गया है, सही नहीं माना जा सकता। रोगी, जो शूल अनुभव कर रहा है, उसका कथन ही सत्य माना जायगा। अतः सिद्ध हुआ अनुभव बलवान है। लेकिन नियम यह है कि शब्द का अर्थ भी वैसा ही किया जाता है, जैसा कि अनुभव हो। तो जब आत्मा संसारी भान होता है, तो असंसारी आत्मा से शास्त्र का अभिप्राय है, ईश्वर से। और वे लोग ऐसा ही सिद्धान्त बना लेते हैं कि जीव हर्ष, शोक, द्वेष, राग वाला है। फलतः वे अद्वैत से विमुख हो जाते हैं। वेदान्त इसका तर्क से ही खण्डन करता है, यद्यपि वह तर्कप्रधान विषय नहीं है। तर्क तो बुद्धि का कार्य है और तर्क पर चलने वाले के पैर भी नहीं ठहरते। जिस प्रकार अगाध समुद्र में तैरने वाले की दशा होती है, वैसी ही दशा तर्क की शरण लेने वाले की होती है। कोई भी बुद्धिमान् जिस तर्क की स्थापना करता है, उससे बड़ी, विशाल बुद्धिवाला उस तर्क को गलत सिद्ध कर देता है। श्रुति भी यही कहती है कि वह आत्मा तर्क का विषय नहीं है :—

नैषा तर्केण मतिरापनेया
प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि
त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा॥ (कठ० १।२।९)

अर्थात् "हे नचिकेता! सम्यक् ज्ञान के लिए शुष्क तार्किक से भिन्न शास्त्रज्ञ आचार्य द्वारा कही हुई यह बुद्धि जिसे तू प्राप्त

हुआ है, तर्क द्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है। ( अहा, तू बड़ा ही सत्य धारणावाला है। हे नचिकेत, हमें तेरे समान प्रश्न करने वाला प्राप्त हो। ) तो यह आत्मा तर्क से प्राप्त नहीं होता। कोई दूसरा समझाए, गुरू उपदेश करे तब भी इसका ज्ञान होना आश्चर्य जैसा ही है। श्रुति कहती है :—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः
श्रृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो
ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥ (कठ० १।२।७)

अर्थात् "जो बहुतों को तो सुनने के लिए भी प्राप्त होने योग्य नहीं है, जिसे बहुत सुनकर भी नहीं समझते, उस आत्मतत्व का निरूपण करने वाला भी आश्चर्यरूप है। उसको प्राप्त करने वाला भी कोई निपुण पुरुष ही होता है तथा कुशल आचार्य द्वारा उपदेश किया हुआ ज्ञान भी आश्चर्यरूप है।" इसी प्रकार का भाव गीता में भी व्यक्त हुआ है :—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥२।२९॥

तो इस प्रकार यह आत्मा, जिसे कोई आश्चर्यवत् कहता है, कोई आश्चर्यवत् सुनता है, तर्क का विषय नहीं। फिर भी आत्मा को संसारी मानने वालों का भ्रम निवारण करने के लिए वेदान्त ने तर्क उपस्थित किया है। आत्मा को संसारी मानने वाले को यह भी मानना पड़ेगा कि "मैं ब्राह्मण हूँ, अथवा स्त्री-पुरुष हूँ, धनी हूँ, निर्धन हूँ आदि जो अनुभूतियाँ इसे हो रही हैं, वह सब आत्मा में भी हैं। आत्मा को भी फिर ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि मानना पड़ेगा। पर ऐसा देखने में नहीं आता। ब्राह्मण के शरीर में आने वाला जीवात्मा सदैव ब्राह्मण ही रहा हो, इसमें क्या प्रमाण है? ऐसा कोई भी सिद्धान्त नहीं मानता। अतः ब्राह्मणत्व,

क्षत्रियत्व आदि तो आत्मा के धर्म नहीं, स्थूल शरीर के धर्म हैं। इसलिए "अहं सुखी, अहं दुःखी" आदि भाव भी आत्मा में नहीं हो सकते। तो अनुभव में जो आता है, वही वास्तविकता भी हो, यह सिद्धान्ततः ग़लत सिद्ध होता है। सूर्य हमें एक वालिश्त-भर दिखाई देता है, पर वह वास्तव में हमारी पृथिवी से भी बड़ा है। कई तारागण सूर्य से भी बड़े हैं, पर वह अत्यन्त सूक्ष्म विन्दु-समान दिखते हैं। तो इसलिए आत्मा के सम्बन्ध में भी अनुभव को ही प्रमाण नहीं माना जा सकता। आत्मा में सुख-दुःख आदि की अनुभूति तो भ्रम से है। सुख-दुःख का आश्रय है सूक्ष्म शरीर। काला, गोरा, मोटा इत्यादि यह स्थूल शरीर के धर्म हैं। शरीर मोटा-दुर्बल होता है तो आत्मा भी मोटा-पतला होता हो, ऐसा नहीं है। इसी प्रकार अज्ञान कारण शरीर का धर्म है। यदि इन धर्मों को आत्मा का धर्म मानलें तो आत्मा विकारी और फल-स्वरूप विनाशी सिद्ध होगा। पर वह तो निर्विकार और शाश्वत, सत्य स्वरूप है। वार्तिककार ने लिखा है—यदि हर्ष-शोक, सुख-दुःख आदि आत्मा के धर्म मान लें तो फिर मोक्ष की आवश्यकता ही क्या है? मोक्ष तो इन्हीं सांसारिक कष्टों की आत्यन्तिक निवृत्ति का नाम है, फिर आत्मा में ही जब सुख-दुःख हैं तो मोक्ष की कामना, उसके लिए साधना व्यर्थ है। कोई वस्तु अपना स्वभाव नहीं बदलती है। अग्नि गरम है, जल शीतल है, वायु अरूप है, इसलिए वह तीनों काल में अपने इन्हीं स्वभावों में प्रतिष्ठित दीखते हैं। आत्मा का स्वभाव राग-द्वेष वाला मान लेंगे तो वह भी उसके शाश्वत धर्म होंगे, इसलिए मोक्ष का साधन निष्फल होगा। परन्तु शास्त्र ने वताया है कि इस शरीर द्वारा मोक्ष-प्राप्ति सम्भव है। असम्भव वस्तु की प्राप्ति के लिए शास्त्र प्रेरणा नहीं देता है। आत्मा को सुख-दुःख, राग-द्वेष, कर्ता-भोक्ता, मान-अपमान सबसे परे बताया है, यह सब आत्मा के धर्म नहीं।

अनुभव के आधार पर इसमें इन धर्मों की स्थापना कैसे हो सकती है ? अनुभव तो इन्द्रियजन्य ज्ञान का नाम है। तो आत्मा तो इन्द्रियों से देखा नहीं जा सकता। क्या आँख से किसी ने उसे रोते देखा ? क्या कानों से किसी ने उसका रुदन-हास्य का शब्द सुना ? त्वचा से उसका स्पर्श किसी ने किया ? रसना से उसे किसी ने चखा ? नाक से उसकी सुगन्धि किसी ने अनुभव की ? तो फिर आत्मा को संसारी मान लेना, वह भी अनुभव के बल पर, कोई अर्थ नहीं रखता। आत्मा को शास्त्र ने असंसारी कहा और वह कथन अनादि काल से सत्य ही रहा। लेकिन जो अनुभव के आधार पर इसे संसारी मानते रहे, उनका अनुभव लाखों-करोड़ों बार ग़लत सिद्ध हुआ। शास्त्र, उपनिषद् का शब्द झूठा नहीं होता। शब्द झूठा उसका होता है, जो संसारी है, जिसे लोभ है, जो मोह से ग्रसित है।

इसी प्रकार जो ईश्वरभक्त है, आत्मा को जिसने सत्यस्वरूप करके जाना है, उस ब्रह्मनिष्ठ का शब्द भी सत्य माना जाता है। भक्त की पहचान ही यही है कि वह लोभवश असत्य का आश्रय कदापि नहीं लेता। महाभारत में कथा आती है—विरोचन और सुधन्वा की। वह दोनों एक बार एक रूपवती कन्या पर आसक्त होगए। दोनों में विवाद होगया कि इस कन्या को कौन वरण करे ? कन्या ने कहा—"पहले तुम दोनों यह निर्णय करलो कि तुममें श्रेष्ठ कौन है। जो श्रेष्ठ होगा मैं उसका ही वरण करूँगी।" अब विरोचन और सुधन्वा दोनों पंच की खोज में चल पड़े। कुछ सोच-विचार के बाद सुधन्वा बोला—"विरोचन! क्यों न हम इस समस्या का हल तुम्हारे पिता प्रह्लाद से करायें। मैं जानता हूँ, वह तुम्हारे पिता हैं, फिर भी उनके जैसा सत्यवादी कोई उपलब्ध न होगा। उनकी निष्पक्षता और सत्यता पर मुझे पूर्ण विश्वास है। उन्हीं के पास चलो।"

विरोचन ने मन-ही-मन सोचा कि पिता मेरा पक्ष लेंगे ही, इसलिए इस ब्राह्मण-पुत्र को हठ का मजा चखा देना चाहिए। अतः उसने छल से कहा—"शर्त यह है सुधन्वा, जो श्रेष्ठ ठहराया जाय, वह निकृष्ट का गला काट डाले और कन्या को वरण करे।"

सुधन्वा को तो प्रह्लाद पर पूर्ण विश्वास था। अतः उसने सहर्ष यह शर्त स्वीकार कर ली। दोनों प्रह्लाद के सम्मुख आए। अपना वृतान्त सुनाया।

प्रह्लाद के सामने धर्म-संकट उपस्थित हो गया। पुत्र के पक्ष में निर्णय देता है तो धर्म का गला कटता है, और सुधन्वा का पक्ष लेता है तो पुत्र का गला उड़ा दिया जाता है। आकाश में देवता और गन्धर्व भी प्रह्लाद का न्याय देखने के लिए आ उपस्थित हुए। सर्वत्र स्तब्धता थी। प्रह्लाद गंभीर मुद्रा में विचार करने लगा। उसने सोचा—"धर्म ही मनुष्य का सच्चा सहायक है। मरने वाले के सभी प्रिय सम्बन्धी, जिनके लिए वह पाप-पुण्य करता है, यहीं रह जाते हैं, लेकिन यह धर्म साथ जाता है। जिसने धर्म का आश्रय लिया है, उसे कोई नहीं मार सकता और जिसने धर्म को ठुकराया है, उसे कोई जिला नहीं सकता। श्रुति भी कहती है—"सत्यं वद। धर्मं चर। ×× सत्यान्न प्रमदितव्यम् धर्मान्न प्रमदितव्यम्।" सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो। सत्य से कभी नहीं डिगना चाहिए। धर्म से कभी नहीं डिगना चाहिए।"

"मृत्युरपि धर्मिष्ठं रक्षति" (कौटिल्य) मृत्यु भी धर्म निष्ठ प्राणी की रक्षा करती है। जो धर्म की रक्षा करता करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है। ऐसा सोचकर प्रह्लाद ने कहा—"विरोचन! जाति से सुधन्वा ब्राह्मण है, उच्चवर्ण वाला है। ब्राह्मण को तो विष्णु का मुख कहा है। और कर्म से वह तपस्वी है। भजन, ईश्वर-चिंतन करने वाला है और आचरण से वह सत्यवादी है। उसमें अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, दया, तेज, क्षमा, धृति,

शौच, अद्रोह आदि दैवी संपत्तियाँ विद्यमान हैं और विरोचन तुम में तो—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्॥ (१६।४)

के अनुसार सभी आसुर संपत्तियाँ मौजूद हैं। वर्ण से तुम क्षत्रिय हो। आचरण से भोगी हो। अतः तुम से तो सुधन्वा ही श्रेष्ठ है।" यह सुनकर गगन से देवता पुष्पवृष्टि करने लगे। सुन्धवा प्रसन्न हो गया। विरोचन सूख गया और प्रह्लाद का मुख सत्य के तेज से चमक उठा। सुन्धवा बोला—"प्रह्लाद! तुम धन्य हो। तुमने धर्म की रक्षा की है, धर्म तुम्हारी रक्षा करेगा। मैं विरोचन का सिर नहीं काटूँगा और न ही मैं अब उस कन्या से विवाह करूँगा।" इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठ सत्य पर आरूढ़ रहते हैं। उन्हें झूठ का आश्रय लेने की क्या ज़रूरत? जिस तरह ब्रह्म-निष्ठ को कोई लोभ-लालच नहीं, उसी तरह शास्त्र-उपनिषद् भी जो कुछ कहते हैं वह, "लोकाः समस्तः सुखिनो भवन्तुः" की भावना से ही कहते हैं। उनका वचन प्रमाण है।

अतः शास्त्र ने जब "अयमात्मा ब्रह्म","सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" कहा तो उसका कथन ही प्रमाण माना जायगा। यहाँ "अहम्" देहादि में होने वाले अहंकार का द्योतक नहीं, वरन् शुद्ध अहंकार का द्योतक है। जड़ से अलग जो चेतन है वही "अहम्" से कहा गया। यह अहम् का लक्ष्यार्थ मानना चाहिए। इसीलिए शास्त्र कहता है—आत्मा को उपनिषद् से ही जाना जा सकता है। कहा है—

"उपनिषादयति सर्वानर्थकरसंसारं विनाशयति, संसारकारणभूताम—विद्यां च शिथिलयति, ब्रह्म च गमयति इति उपनिषद्।"

अर्थात् "जो समस्त अनर्थों को उत्पन्न करने वाले संसार का नाश करती है, संसार की कारणभूत अविद्या को शिथिल करती

है, तथा ब्रह्म की प्राप्ति कराती है, वह उपनिषद् है।"

और भी बताया है—

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं
शरंह्युपासानिशितं सन्धयीत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा
लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि॥ (मुण्डक० २।२।३)

अर्थात् "हे सोम्य! उपनिषद् द्वेय महान् अस्त्ररूप धनुष लेकर उस पर उपासना द्वारा तीक्ष्ण किया हुआ बाण चढ़ा; और फिर उसे खींचकर ब्रह्म भावानुगत, चित्त से उस अक्षर रूप लक्ष्य का ही वेधन कर। इस से प्रकट होता है कि उपनिषद् ने ब्रह्म दर्शन का उपाय बताकर उसकी प्राप्ति को संभव सिद्ध किया है। अतः आत्मा के असंसारी रूप निश्चित कर उपासना द्वारा उसे ही प्राप्त करना चाहिए।

---

## इन्द्र को आत्म-विद्या का उपदेश

आत्मा को शरीर से भिन्न और विश्व, तैजस, प्राज्ञ से परे बताया गया है। शरीर के धर्म उसमें नहीं हैं। श्रुति ने इसे स्पष्टतः समझाने के लिए ही कहा है कि नेत्र, सूर्य, विद्युत, अग्नि आदि जड़-वर्ग को प्रकाशित करने वाली ज्योतियों से उस कूटस्थ आत्मा का दर्शन नहीं किया जा सकता। वह तो दिव्य है, स्वयं-ज्योति है, उसी की ज्योति से सब प्रकाशित हैं। स्थूल बुद्धिवालों की अपेक्षा सूक्ष्म बुद्धि वाले जिज्ञासु उसे गुरु कृपा से जान लेते हैं।

'छान्दोग्योपनिषद्' में एक बड़ी रोचक कथा आती है। प्रजापति ने सृष्टि बनाई। ईश्वर तो सृष्टि के लिए उपादान-रूप सामग्री तैयार कर देता है, उसीसे प्रजापति सृष्टि बनाते हैं। जैसे कुम्हार मिट्टी नहीं बना सकता, मिट्टी के पात्र बनाता है, इसी प्रकार प्रजापति सृष्टि की सामग्री नहीं बनाता, वरन् ईश्वर द्वारा प्रदत्त उपादान सामग्री से वह सृष्टि बनाता है। सूक्ष्मभूत का पंचीकरण करके हिरण्यगर्भ चौदहों भुवनों का निर्माण करता है। तो सृष्टि बनाने के बाद प्रजापति ने सोचा, जीव को ऐसी विद्या भी आनी चाहिए जिससे वह अपना कल्याण कर सके। इसलिए उन्होंने जन्म-मरण से छुटाने वाली आत्म-विद्या का प्रचार करने के अभिप्राय से यह घोषणा कर दी कि—

"य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको
विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः
सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वा्ँश्च
लोकानाप्नोति सर्वा्ँश्च कामान्यस्तमात्मानमनु-
विद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच ॥" ८।७।१॥

अर्थात् "आत्मा पाप, वृद्धावस्था, मृत्यु, शोक, क्षुधा, पिपासा से रहित और सत्यकाम एव सत्यसंकल्प है। उस आत्मा की ही खोज करनी चाहिए। वही जानने योग्य है। जो उसको जानकर उसका अनुभव करता है, वह सम्पूर्ण लोकों को और सम्पूर्ण भोगों को प्राप्त करता है।" तो ऐसी विद्या जिससे समस्त भोग और लोक मिल सकें, कौन नहीं जानना चाहेगा ? सब लोकों में प्रजापति की इस घोषणा का स्वागत हुआ और लोगों में यह विद्या प्राप्त करने की प्रबल इच्छा जाग्रत हो गई। देवता और असुर दोनों ही इस विद्या को जानने के लिए उत्सुक हो उठे। अब प्रजापति के पास महर्लोक में जाने और वहाँ से विद्या सीख आने का प्रश्न उपस्थित हुआ। देवताओं ने तो अपने राजा इन्द्र से

प्रार्थना की कि आप ही इस विद्या को सीखकर आ सकते हैं। अतः इन्द्र जाने को तैयार हो गए। असुरों ने अपने राजा विरोचन को अपना प्रतिनिधि मानकर इस विद्या-प्राप्ति के लिए विदा कर दिया। असुरों और देवताओं में तो सदैव द्वेष रहता है। अतः विरोचन और इन्द्र साथ-साथ यात्रा करते हुए भी एक-दूसरे से बोले नहीं। पर जब दोनों समित्पाणि होकर विनयपूर्वक प्रजापति के पास पहुँचे तो दोनों ही मन में एक दूसरे के लिए समझ गए कि विद्या ग्रहण करना ही इसका उद्देश्य है। परन्तु प्रजापति ने इनकी बात भी न पूछी। इनकी ओर ध्यान भी नहीं दिया। पास आने वाले को चाहे कोई कुछ भी न दे, पर घास-फूस का आसन, बैठने के लिए भूमि और पीने के लिए स्वच्छ जल देने में एवं मीठी वाणी द्वारा कुशल पूछने में कुछ भी कम नहीं होता। इसीसे आने वाला अपने को सम्मानित मान लेता है। पर इन्द्र देवताओं का राजा और असुरों का राजा विरोचन, दोनों इस प्रकार अपमानित होने पर भी महर्लोक में ब्रह्मचर्यवास करने लगे। इनका बड़ा भारी स्वार्थ था। सभी लोकों और भोगों को प्राप्त करा देने वाली विद्या सीखने के उद्देश्य से यह आए थे, उसे पूर्ण किए बिना लौटते कैसे? बिना स्वार्थ कैसे सहे कोउ कड़वे बैन। अतः दोनों ने वहाँ इस प्रकार ब्रह्मचर्य पालन करते हुए बत्तीस वर्ष बिता दिए।

उनका ऐसा दृढ़ व्रत एवं धैर्य देखकर प्रजापति ने एक दिन उनसे पूछा—"किमिच्छन्ताववास्तम्"—किस इच्छा से तुम यहाँ आकर रहे हो? अब उन्होंने कहा—"महाराज! आपने ऐसी घोषणा की थी कि आत्मा पाप, जरा, मृत्यु, शोक, क्षुधा और पिपासा से रहित है। वह सत्यकाम और सत्य-संकल्प है। वही जानने योग्य है। वही अनुभव करने योग्य है। जो उसको जानकर उसका अनुभव करता है, वह सम्पूर्ण लोकों और सम्पूर्ण भोगों

को प्राप्त होता है। हमने जबसे आपके यह वचन सुने हैं, तब से आत्म-विद्या को जानने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हो गई है। हम आपकी सेवा में इसी उद्देश्य से उपस्थित हुए हैं।"

इन्होंने बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य-पालन किया था, यह प्रजापति को मालूम था ही। उसने सोचा इनमें विद्या प्राप्त करने की लगन सच्ची है। वास्तव में विद्या प्राप्त भी वही कर सकता है, जिसे संसारी विषय आकर्षित नहीं कर सकें। नचिकेता की परीक्षा लेने के बाद यमराज ने भी यही निर्णय दिया था—

"विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये
न त्वां कामा बहवोऽलोलुपन्त।" (कठ० १।२।४)

"हे नचिकेता ! मैं तुझे विद्याभिलाषी मानता हूँ, क्योंकि तुझे बहुत-से भोगों ने भी नहीं लुभाया।" इसी प्रकार इन्द्र एवं विरोचन भी बत्तीस वर्ष तक विषय-विमुख होकर रहे। तब प्रजापति ने उन्हें उपदेश किया—

"तौ ह प्रजापतिरुवाच य
एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति
होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति।"

अर्थात् "आँखों में यह जो पुरुष द्रष्टा अन्तर्मुखी दृष्टिवालों को दीखता है, यही आत्मा है, यही अमृत है, यही अभय है, यही ब्रह्म है।"

इन्द्र और विरोचन ने स्थूल बुद्धि होने के कारण इस उपदेश को अक्षरशः ग्रहण कर लिया। प्रजापति के भाव को न समझ, इन्द्र ने विरोचन की आँख में झाँककर आत्मा का दर्शन करना चाहा। नेत्र की स्वच्छ पुतली में उसे अपना प्रतिबिम्ब दिखाई दिया। पर केवल कण्ठ तक ही उसने अपना मुख देखा। उसे ही आत्मा मानकर वह विरोचन से कहने लगा—"आत्मा का दर्शन तो हुआ, पर सम्पूर्ण दर्शन नहीं हुआ।"

"अच्छा ! दर्शन हो गया ?" ऐसी उत्सुकता प्रदर्शित करते हुए विरोचन ने इन्द्र के नेत्र में झाँका। उसे भी इन्द्र के नेत्र में अपना कण्ठ तक का भाग स्पष्ट दिखाई दिया। दोनों ने फिर ऐसा विचार किया कि आत्मा का सम्पूर्ण दर्शन करने के लिए प्रजापति से पुनः मार्ग-दर्शन की प्रार्थना करनी चाहिए। उन्होंने यह नहीं सोचा कि प्रतिबिम्ब जो दर्पणरूप उपाधि और मुखरूप बिम्ब पर आश्रित है, वह आत्मा कैसे हो सकता है ? आत्मा तो किसी के भी अधीन नहीं, वह तो स्वतन्त्र है। 'बृहदारण्यक' में याज्ञवल्क्य ने गार्गी को बताया है—"इस अक्षर के प्रशासन में सूर्य और चन्द्रमा विशेष रूप से धारण किये हुए स्थित रहते हैं। इस अक्षर के ही प्रशासन में पृथिवी और द्युलोक विशेष रूप से धारण किये हुए स्थित रहते हैं। इसी के प्रशासन में निमेष, मुहूर्त, दिन-रात, अर्धमास (पक्ष), मास-ऋतु और संवत्सर विशेषरूप से धारण किये हुए स्थित रहते हैं।" अर्थात् मृत्यु भी इसी के अधीन है। ऐसा नहीं होता कि मृत्यु चाहे जिसको मार डाले। जिसके लिए भगवान् की आज्ञा होती है, मृत्यु उसे ही मारती है। एक दृष्टान्त है कि एक बार कुछ मजदूर जंगल में लकड़ी काटते थे। उनकी संख्या लगभग ८० थी। वे लकड़ी के शहतीरों से बने मकानों में ही रहते थे। एक बार बहुत जोर की वर्षा हुई और उन्हें जंगल से लौटकर शहतीरों की छत के नीचे आश्रय लेना पड़ा। तब ऐसा हुआ कि जोर की गरज के साथ छः-सात बार बिजली कड़की और उस छत तक आकर लौट गई। उन मजदूरों को चिन्ता हुई। वे सोचने लगे, "बिजली हममें से किसी एक को मारना चाहती है। ऐसा न हो कि एक के कारण सभी मारे जायें, इसलिए ऐसा करो कि एक-एक व्यक्ति को बाहर भेजो जिसकी मृत्यु आई होगी, वह मर जायगा। शेष तो बचे रहेंगे !" यह मत सबको पसन्द आया और वे एक-एक करके बाहर जाने लगे। सब श्रमिक इस प्रकार लौट आए

और एक उनमें से शेष रह गया। अब लोग उसे बाहर भेजने लगे। वह डरकर कभी किसी का पैर पकड़ ले और कभी किसी की बाँह कसकर पकड़े, बाहर न जाय। तब उसे जबरदस्ती बाहर फेंक दिया गया। उसने सोचा, मरना है तो फिर अब डरने से कुछ लाभ नहीं। हुआ ऐसा कि उसके बाहर जाते ही, उस छत पर बिजली गिरी और ७६ के ७६ मजदूर खत्म हो गए। तो मृत्यु भी उसकी आज्ञा में ही चलती है। वह आत्मा सबका अधिपति है। सब उसके ही अधीन हैं। बिम्ब पर आश्रित प्रतिबिम्ब को आत्मा कैसे माना जा सकता है? परन्तु चूँकि इन्द्र और विरोचन स्थूल-बुद्धि थे, इसलिए वह तो प्रतिबिम्ब को ही आत्मा मानकर उसके और स्पष्ट दर्शन की लालसा लेकर प्रजापति के पास पहुँच गए। प्रजापति ने उनका प्रश्न सुनकर मन-ही-मन आश्चर्य किया और उनकी स्थूल-बुद्धि में आत्मा का निर्विकार स्वरूप बैठाने के लिए उसने कहा—"कल एक बड़ी थाली में स्वच्छ जल लेकर आना।" इन्द्र और विरोचन बड़े प्रसन्न हुए और थाली में जल लेकर पहुँच गए। अब उन्होंने अपना लोम से नख पर्यन्त, एड़ी से चोटी तक का प्रतिबिम्ब देखा और सन्तुष्ट हो गए कि "अब आत्मा का पूरा दर्शन हमें हो गया।" लेकिन उन्हें शंका हुई कि दर्पण और जल में जो प्रतिबिम्ब दिखता है, उनमें से प्रजापति का बतलाया हुआ ब्रह्म कौन-सा है? ऐसा ही उन्होंने प्रजापति से प्रश्न भी किया। तब प्रजापति ने उनसे कहा—"तुम स्नान करके, सुन्दर वस्त्राभूषण से आच्छादित होकर, चन्दन-माला से सुसज्जित होकर फिर आना, तब तुम्हें उपदेश करूँगा।

प्रजापति ने नख और केश की तरह ही शरीर को भी अनात्म बताने के अभिप्राय से ऐसा किया था। पर, उन दोनों की समझ में यह नहीं आया। दूसरे दिन सुन्दर वस्त्राभूषण पहन कर आये और उन्होंने उसी जल में अपना प्रतिबिम्ब देखा। दोनों कहने लगे,

"हे भगवान्, जैसे हमने सुन्दर-सुन्दर वस्त्र और आभूषण धारण किए हैं, इसी प्रकार हमारे इस आत्मा ने भी सुन्दर-सुन्दर वस्त्रालंकार पहने हुए हैं।"

प्रजापति ने यह सोचा कि अशुद्ध, मलिन बुद्धि के कारण इनको आत्मा का यथार्थ ज्ञान नहीं हो रहा। मेरे वचनों का मनन करने से ही इनके प्रतिबन्धक संस्कार दूर होंगे। अतः प्रजापति ने फिर कहा—"यही आत्मा है, यही अविनाशी है, यही अभय है, यही ब्रह्म है।"

प्रजापति के वचन सुनकर वे दोनों शान्त-चित्त से चले गए। उनको यों जाते देख प्रजापति ने सोचा—

> अनुपलभ्यात्मानमननुविद्य व्रजतो यतर एतदुपनिषदो
> भविष्यन्ति देवा वासुरा वा ते पराभविष्यन्ति।

अर्थात् "ये दोनों आत्मा को उपलब्ध किये बिना, उसका साक्षात्कार किये बिना ही जा रहे हैं; देवता हों या असुर, जो कोई भी प्रतिबिम्ब-आधार शरीर को ही आत्मा मानने वाले होंगे, उनका ही पराभव होगा।"

विरोचन तो अपने को ज्ञानी मानकर शान्त भाव से असुरों के पास जा पहुँचा और उनको यह आत्म-विद्या सुनाई—"इस लोक में यह शरीर (आत्मा) ही पूजनीय है और शरीर ही सेवनीय है। इस संसार में केवल शरीररूप आत्मा की ही पूजा-सेवा करनी चाहिए। ऐसा करने वाला पुरुष यह लोक और परलोक दोनों ही प्राप्त कर लेता है। इसीसे इस लोक में जो दान न देने वाला, यज्ञ न करने वाला और सत्कार्यों एवं शास्त्र में श्रद्धा न रखने वाला पुरुष होता है, उसे असुर कहा जाता है। यह उपनिषद् असुरों की ही है। वे ही मृतक पुरुष के शरीर को आत्मा मानकर उसे अलंकृत करते हैं, अन्न, गन्ध, पुष्प, वस्त्र

आदि से सजाते हैं और इसके द्वारा हम परलोक प्राप्त करेंगे, ऐसा मानते हैं। "अमु लोकं जेष्यन्तः।"

लेकिन इसके विपरीत इन्द्र को स्वर्ग में लौटने से पूर्व ही यह विचार हुआ कि प्रजापति ने आत्मा को अभय कहा है, पर इस प्रतिविम्ब-रूप आत्मा में तो अनेक भय रहते हैं। इन्द्र का ऐसा विचार करना स्वाभाविक भी था, क्योंकि वह था देवता। दैवी-गुणों से सम्पन्न होने के कारण उसमें सात्विकता थी और बिना सत्वगुण के विचार-ज्ञान होता नहीं। और विरोचन चूँकि था आसुरी स्वभाव का इसलिए उसने बिना ऊहापोह के ही प्रजापति का उपदेश आत्मा के बजाय शरीर जो अनात्मा है, उसमें घटा लिया। वास्तव में सात्विक गुण-प्रधान शिष्य ही गुरु से विद्या पा सकता है। एक गुरु के पास ऐसे ही दो शिष्य थे। एक तामसी गुणों वाला था, दूसरा था विचारशील-सात्विक गुणों से सम्पन्न। जो विचारशील था वह तो गुरु के पास बहुत देर तक अध्ययन किया करता था और जो तामसी गुणोंवाला था वह दस-पन्द्रह मिनट में ही पाठ की एक आवृत्ति करके लौट जाता था। एक दिन गुरु-पत्नी को सन्देह हुआ कि इस शिष्य को इतनी देर तक क्यों पढ़ाया जाता है और दूसरा शिष्य क्यों जल्दी चला जाता है। अतः उसने पति से पूछा—"विप्रश्रेष्ठ! क्या कारण है कि एक शिष्य देर तक पढ़ता है और दूसरा जल्दी चला जाता है।" गुरु-जी ने बताया—"जो देर तक पढ़ता है, वह विचारशील है और जल्दी लौट जाने वाला अज्ञानी है।"

"सो कैसे ?" गुरु-पत्नी ने पूछा।

गुरुजी बोले—"एक दिन परीक्षा करके देख लो। ऐसा करो, कल मैं अन्दर वाले कमरे में बन्द हो जाऊँगा। पाठशाला को तुम बाहर से बन्द कर देना और जब वह दोनों पढ़ने आएँ तो उनसे कहना—"गुरुजी की कमर में गिरगिट घुस गया है, बड़ा

दर्द है उन्हें, वह वैद्य के यहाँ गये हैं।" बात ऐसे ही हुई। दूसरे दिन पहले तामसी गुणोंवाला शिष्य आया। पाठशाला बन्द देखी तो गुरुआनी से पूछा—"गुरुजी कहाँ हैं ?"

गुरु-पत्नी ने उत्तर दिया—"उनकी पीठ में गिरगिट घुस गया, वह दर्द से व्याकुल हैं और वैद्य के यहाँ गए हैं। आज पढ़ाई नहीं होगी। कल आना।" इतना सुन वह शिष्य चुपचाप लौट गया। थोड़ी देर बाद जो विचारशील शिष्य था वह आया। उससे भी गुरु-पत्नी ने यही कहा। इतना सुन वह चिन्ता प्रकट करते हुए बोला—"आश्चर्य है, कमर में गिरगिट कैसे घुस सकता है ? कौन से वैद्य के यहाँ गए हैं गुरुजी ? मैं उन्हें देखना चाहता हूँ।" अब गुरु-पत्नी क्या बताती ! बोली—"किस वैद्य के यहाँ गए हैं, यह मुझे नहीं कह गए हैं।"

"तो फिर दिशा ही बताइए ! कौनसी दिशा में गए हैं, मैं उधर ही जाकर उनकी खोज करूँगा। मुझे विश्वास है, कमर में गिरगिट नहीं घुस सकता।" इतना सुन भीतर के कमरे से गुरुजी की आवाज आई—"बेटा ! तुम परीक्षा में पास हो गए। मैं अभी आकर तुम्हें पढ़ाता हूँ।" तो यह है विवेकी शिष्य का लक्षण। बिना पर्याप्त ऊहापोह किए वह कोई सत्य वस्तु भी ग्रहण नहीं करता। इसी प्रकार इन्द्र ने भी मार्ग में सोचा कि प्रजापति ने तो आत्मा को अभय, अखण्ड, अमृत, अविनाशी बताया था। पर प्रतिबिम्ब में यह सब लक्षण नहीं घटते। इस प्रकार उसने अब मनन आरम्भ किया। वेदान्त ने आत्मा को अनुभव करने की प्रक्रिया भी इसी प्रकार बताई है। पहले उसका श्रवण करे, फिर मनन करे और तत्पश्चात् निदिध्यासन करे। उपनिषद् के तात्पर्य को जानना ही श्रवण है, इससे प्रमाण-संशय दूर होता है। और उपनिषद् के अर्थ को ठीक-ठीक समझना ही मनन है। यह निश्चय कर लेना कि द्वैत मिथ्या है और अद्वैत ही सत्य है—इससे

विपर्यय का नाश होता है। और निश्चय को पक्का करने का नाम ही निदिध्यासन है। इससे विपरीत भावना नष्ट हो जाती है। तो इन्द्र ने मनन किया—"जब शरीर सजा हुआ होता है तो प्रतिबिम्ब भी सजा हुआ दीखता है। शरीर पर सुन्दर वस्त्राभूषण होते हैं तो प्रतिबिम्ब भी सुन्दर वस्त्राभूषण वाला दिखाई देता है। शरीर काला हो तो प्रतिबिम्ब भी काला दिखता है। शरीर लंगड़ा हो तो प्रतिबिम्ब भी लंगड़ा दिखाई देगा। शरीर का नाश होता है तो प्रतिबिम्ब का भी नाश हो जाता है। इसलिए इसमें अविनाशी, अभय आदि आत्मा के लक्षण नहीं हैं। इसमें कुछ भी आत्मस्वरूपता नहीं। अतः प्रजापति के पास जाकर पूछना चाहिए। ऐसे ही स्वर्ग में लौट गया तो देवतागण कहेंगे—३२ वर्ष तक विद्या न पढ़कर भाड़ ही झोंका। अतः इन्द्र प्रजापति के पास लौट आया। प्रजापति ने इन्द्र को पुनः समित्पाणि आते देख पूछा—"इन्द्र! तुम तो विरोचन के साथ शान्तचित्त हो कर लौट गए थे। फिर किस इच्छा से आए हो?"

इन्द्र ने अपना संशय प्रजापति के सम्मुख रख दिया—"भगवान्! जैसा शरीर होता है, वैसा ही प्रतिबिम्ब दिखता है। शरीर सुन्दर वस्त्रालंकृत होता है, तो प्रतिबिम्ब भी सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित दीखता है। शरीर अंधा, लूला-लंगड़ा या काला होगा तो प्रतिबिम्ब भी अंधा, लूला-लंगड़ा और काला दिखाई देगा। शरीर का नाश होने पर प्रतिबिम्ब का भी नाश हो जायगा अतएव छाया दर्शन को आत्मदर्शन मानने में मुझे कोई फल नहीं दिखाई देता।"

इन्द्र की यह बात सुनकर प्रजापति को कुछ संतोष हुआ। उस की सत्पात्रता से उन्हें प्रसन्नता हुई। वह बोले—हे इन्द्र! वास्तव में प्रतिबिम्ब आत्मा नहीं। मैं तुम्हारे प्रति पुनः इसकी व्याख्या

करूँगा। तुम यहाँ ३२ वर्ष तक और ब्रह्मचर्यवास करो। इन्द्र वहाँ फिर बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हुए रहने लगा। उसे यह भली प्रकार समझ में आ गया कि स्थूल शरीर आत्मा नहीं और स्थूल में अभिमान रखने वाला 'विश्व' भी आत्मा का स्वरूप नहीं। बत्तीस वर्ष बाद वह प्रजापति के पास फिर गया। तब प्रजापति ने कहा—

"य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति होवाचै-
तदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति।"

अर्थात् "जो इस स्वप्न में पूजित हुआ विचरता है, वही आत्मा है। वही अमृत है, वही अभय है और वही ब्रह्म है।" ऐसा ग्रहण कर इन्द्र शान्तचित्त होकर देवताओं के लोक को चल पड़ा। पर उसने पहले की ही तरह मार्ग में सोचा कि ऐसा मान लेने में भी भय है, स्वप्न का द्रष्टा जो आत्मा है, उसमें भी भय है। शरीर अन्धा होने से स्वप्न का द्रष्टा अन्धा नहीं होता। शरीर के व्याधि-पीड़ित होने से स्वप्न का शरीर व्याधि-पीड़ित नहीं होता। शरीर के नाश होने से उसका नाश भी नहीं होता। किन्तु, ऐसा तो यह हो जाता है जैसे कोई इसे मारता हो, अप्रिय का अनुभव करता हो या जैसे इसे कोई तापित करता हो, यह सहन करता हो इत्यादि। अतः इसे भी अविनाशी, अभय, ब्रह्म कैसे माना जा सकता है?" इस प्रकार विचारकर इन्द्र पुनः प्रजापति के सम्मुख आया और अपनी शंका उसे सुना डाली। प्रजापति ने कहा—"इन्द्र! यह बात ऐसी ही है। मैं तुम्हें पुनः आत्म-तत्त्व का उपदेश करूँगा। तुम ३२ वर्ष तक यहाँ और ब्रह्मचर्यवास करो।" अब इन्द्र को यह भी निश्चय हो गया कि स्वप्न का शरीर अथवा स्वप्न में अभिमान करने वाला 'तैजस' आत्मा नहीं। बत्तीस वर्ष बाद प्रजापति ने उसे पुनः उपदेश किया—"जिस अवस्था में यह

सोया हुआ दर्शन-वृत्ति से रहित और सम्यक् रूप से आनन्दित हो स्वप्न का दर्शन नहीं करता, वह आत्मा है। अर्थात् सम्पूर्ण इन्द्रियों का व्यापार शान्त होने पर जिसमें यह सम्पूर्ण रीति से पूर्ण और निर्मल होता है, वही आत्मा है। वही अभय है, अमृत है और वही ब्रह्म है।"

ऐसा उपदेश होने पर इन्द्र शान्तचित्त हो स्वर्ग को चला। उसने आत्मा के इस स्वरूप पर विचार करना प्रारम्भ किया। मार्ग में चलते २ उसने सोचा—"आत्मा की ऐसी अवस्था मान लें तो उसमें भी दोष होगा। सुषुप्ति में आत्मा जाग्रत और स्वप्न की तरह "यह मैं हूँ" ऐसा अपने को नहीं जानता और न ही यह अन्य भूतों को जानता है; उस समय तो मानो यह विनाश को प्राप्त हो जाता है। इसमें मुझे इष्ट-फल दिखाई नहीं देता।" ऐसा सोचकर इन्द्र पुनः समित्पाणि होकर प्रजापति के पास आया। प्रजापति उसे पुनः लौटा देखकर बोले—"इन्द्र! तुम तो शान्तचित्त से गए थे। अब कैसे लौट आए?"

इन्द्र ने सच्चे जिज्ञासु की तरह कहा—"भगवान्! इस अवस्था में तो इसे निश्चय ही यह भी ज्ञान नहीं होता कि "यह मैं हूँ।" न ही यह और भूतों को जानता है। उस समय तो यह विनाश को प्राप्त हुआ-सा दिखाई देता है। मुझे इसमें भी कोई इष्ट-फल दिखाई नहीं देता।"

तब प्रजापति ने कहा, "बात ऐसी ही है, इन्द्र! मैं तुम्हारे प्रति इसकी पुनः व्याख्या करूँगा। आत्मा इससे भिन्न नहीं है। तुम पाँच साल तक और ब्रह्मचर्यवास करो।" प्रजापति के कथनानुसार इन्द्र ने वहाँ पाँच वर्ष तक और ब्रह्मचर्यवास किया। इस प्रकार उसने कुल १०१ वर्ष तक ब्रह्मचर्यवास किया। इसी से हृदय में प्रतिबन्धक-रूप मल की निवृत्ति हुई और वह आत्मा के उपदेश का सच्चा अधिकारी बन गया। तब प्रजापति ने उससे कहा—"इन्द्र! यह शरीर

मरणशील है; यह मृत्यु से ग्रस्त है। यही इस अमृत अशरीरी आत्मा का अधिष्ठान है। जब यह शरीर में अहं-बुद्धि करता है तो निश्चय ही प्रिय-अप्रिय, सुख-दुखादि से यह ग्रस्त हो जाता है। सशरीर रहते हुए अर्थात् शरीर में आत्म-भाव रखते हुए इसके प्रियाप्रिय का नाश नहीं हो सकता और शरीर में आत्मभाव न होने पर इसे प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं कर सकते। वायु अशरीर है। अभ्र, विद्युत, मेघध्वनि ये सब अशरीर हैं। जिस प्रकार यह सब आकाश से उत्पन्न होकर सूर्य की परम-ज्योति को प्राप्त हो अपने स्वरूप में स्थित हो जाते हैं, उसी प्रकार यह सम्प्रसार इस शरीर से समुत्थान कर परम-ज्योति को प्राप्त हो अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। वह उत्तम पुरुष है। उस अवस्था में वह हँसता, क्रीड़ा करता और स्त्री, यान अथवा परिचितों के साथ रमण करता है। और अपने साथ उत्पन्न हुए इस शरीर को स्मरण न करता हुआ सब ओर विचरता है। जिस प्रकार घोड़ा या बैल गाड़ी में जुता रहता है, उसी प्रकार यह प्राण शरीर में जुता हुआ है। शरीर में रहकर जो "मैं देखता हूँ" ऐसा जानता है, वह आत्मा है और नेत्र रूप-ग्रहण के लिए हैं। इसी प्रकार जो ऐसा अनुभव करता है कि मैं इसे सूँघूँ, वह आत्मा है; उसके गन्ध-ग्रहण के लिए नासिका है, जो ऐसा समझता है कि मैं यह शब्द बोलूँ, वही आत्मा है; उसके शब्दोच्चारण के लिए वागेन्द्रिय है। जो ऐसा जानता है कि मैं यह श्रवण करूँ, वह आत्मा है, उसके श्रवण के लिए श्रोत्रेन्द्रिय है और जो यह जानता है, मैं मनन करूँ, वह यह आत्मा है। मन उसका दिव्य नेत्र है, वह यह आत्मा इस दिक्-चक्षु के द्वारा भोगों को देखा हुआ रमण करता है जो यह भोग इस ब्रह्मलोक में हैं, उन्हें यह देखता हुआ स्मरण करता है। यही आत्म-तत्त्व है। इस आत्मा की ही देवगण उपासना करते हैं। इसीसे उन्हें सम्पूर्ण लोक और भोग प्राप्त होते

हैं। जो इस आत्मा को शास्त्र एवं आचार्य के उपदेशानुसार जानकर साक्षात्कार कर लेता है वह सम्पूर्ण लोक और समस्त भोगों को प्राप्त कर लेता है।" तो इस प्रकार आत्म-तत्व का सही ज्ञान प्राप्त कर इन्द्र कृत-कृत्य हो गया। देवलोक में लौट आया और देवताओं को आत्मा का उपदेश किया। इसीसे देवताओं ने समस्त भोगों और सम्पूर्ण लोकों को प्राप्त किया। तो इन्द्र जैसी तीव्र जिज्ञासा और अटल श्रद्धा होने पर ही ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप की उपलब्धि होती है। अतः उसी दिशा में जाने के लिए देहात्मभाव को वमन की नाईं त्याग देना साधक का सर्वप्रथम कर्त्तव्य है। जिसने देह को आत्मा जाना उसे मृत्यु, जरा, व्याधि से कोई बचा नहीं सकता।

---

## अन्तःकरण की शुद्धि

नित्य-सुख प्राप्त करने के लिए हमें अपने स्वरूप को ही सही-सही जानना चाहिए; क्योंकि अपने शुद्ध आत्मस्वरूप से अन्य सब कुछ अनात्म है और अनात्म से कभी नित्य-सुख की प्राप्ति नहीं होती। जिस आत्मा का हमें दर्शन करना है, वह शुद्ध, एक-रस, कूटस्थ और व्यापक है। श्रुति ने उसका एक और नाम, 'प्रत्यगात्मा' बताया है अर्थात् वह अत्यन्त समीप है।

"दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च" (मुण्डक० ३।१।७)

अर्थात् "वह महान्, दिव्य और अचिन्त्यरूप आत्मा दूर से भी दूर और इस शरीर में अत्यन्त समीप भी है।" अत्यन्त समीप जब आत्मा है, तो हमें इसका दर्शन क्यों नहीं होता। जो वस्तु

अत्यन्त समीप है, लोक में भी हम यदि उसे देखते हैं तो नहीं दिखती। जैसे आँख से आँख का अंजन नहीं देखा जा सकता। कोई पदार्थ दिखाई न दे, तो इसमें कुछ और कारण भी होते हैं। जैसे (१) पदार्थ का अत्यन्त दूर होना, (२) पदार्थ का अत्यन्त समीप होना, (३) बीच में आवरण होना, (४) पदार्थ सामने होते हुए भी दृष्टि का उसे, मन साथ न होने से, ग्रहण न करना, (५) अथवा पदार्थ का सामने न रहना। तो आत्मा को अत्यन्त समीप बताने में उपनिषद् का तात्पर्य क्या है? समीप की वस्तु हमें शुद्ध उपाधि के द्वारा शीघ्र दिखाई दे जाती है, जैसे शुद्ध दर्पण सामने हो तो आँख का अंजन दिखाई दे जायगा। लेकिन यदि दर्पण पर मैल-मिट्टी जमा होगी तो अंजन अथवा आँख दिखाई नहीं देगी। इसी प्रकार अत्यन्त समीप जो आत्मा है, उसे शुद्ध चित्त की उपाधि से देखा जा सकता है। श्रुति कहती है:—

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञान प्रसादेन विशुद्ध सत्त्वस्ततस्तु
तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः। (मुण्डक० ३।१।८)

अर्थात् "अपनी आत्मा को अथवा परब्रह्म को मनुष्य अपने चर्म-चक्षुओं से नहीं देख सकता। इतना ही नहीं, वाणी आदि अन्य इन्द्रियाँ भी उसे ग्रहण नहीं कर सकतीं। नाना प्रकार की तपश्चर्या और कर्मों के द्वारा भी मनुष्य उस शुद्ध सत्व का दर्शन नहीं कर सकता। उस अवयव-रहित परम विशुद्ध आत्मा को तो मनुष्य सब भोगों से मुख मोड़कर, निःस्पृह होकर विशुद्ध अन्तःकरण द्वारा निरन्तर उन्हीं का भजन करते-करते ज्ञान की निर्मलता से ही देख सकता है।" सम्पूर्ण प्राणियों का ज्ञान आत्मबोध कराने में समर्थ माना गया है, परन्तु बाह्य रागों से दोषयुक्त एवं कलु-

पित होने के कारण आत्मतत्व का समीपस्थल होते हुए भी उसी प्रकार दर्शन नहीं होता जिस प्रकार कि चंचल जल में प्रतिबिम्ब नहीं दिखाई देता। स्थिर जल की तरह ही जब चित्त दोष-मुक्त होता है तब उस शान्त-चित्त में ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। वह शुद्ध अन्तःकरण वाला पुरुष तब आत्मा के साक्षात्कार का अधिकारी हो जाता है।

आत्म-दर्शन में अन्तःकरण पर पड़े हुए मल, विक्षेप और आवरण के पर्दे ही सबसे बड़े बाधक हैं। अन्तःकरण को शुद्ध बना लेने पर उससे आत्म-साक्षात्कार में सहयोग मिलेगा। शुद्धि होती है संस्कार से। जैसे कोई मलिन वस्त्र है, उसमें साबुन लगाएँ, फिर माँड दें और इस्तरी करें, तो उसका रूप ही बदल जायगा, उसमें मलिनता नहीं रहेगी। यानी उसका संस्कार हो जायगा। संस्कार नाम ही दोष दूर करने और गुणों का मिश्रण करने का है। जन्म से लगाकर मृत्यु-पर्यन्त जीव के अनेक संस्कार माने गये हैं और इनका मुख्य उद्देश्य अन्तःकरण की शुद्धि ही बताया गया है। अन्तःकरण में आई हुई मलिनता को सत्संग, शास्त्र, गुरु और ईश्वर के उपदेश से हटाना चाहिए और शम, दम, नियम आदि के अभ्यास से उसे शुद्ध आत्मतत्व प्राप्त करने का अधिकारी बनाना चाहिए। वेदाभ्यास, उपनिषद् का अध्ययन-मनन भी अन्तः-करण की पवित्रता बढ़ाने वाले हैं। लेकिन वेदाभ्यास भी यज्ञोपवीत संस्कार के बाद होना चाहिए, ऐसा विधान है। मनु ने लिखा है—

कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते।
ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम् ॥२।१७३॥

अर्थात् "यज्ञोपवीत के अनन्तर व्रतों का उपदेश और वेदपाठ, क्रम से विधिपूर्वक कह गए हैं।" वस्तुतः यज्ञोपवीत को द्विज के जीवन का सबसे प्रधान संस्कार माना गया है। यज्ञोपवीत का

अर्थ है उपवीत—जिसका यज्ञ द्वारा संस्कार किया गया हो। प्राचीन काल में वह कपास का खेत, जिसको कपास यज्ञोपवीत के लिए काम में लाई जाती थी, मन्त्रों द्वारा ही बोया जाता था। मन्त्रोच्चार के साथ ही कपास बोई जाती थी, काती जाती थी और कुमारी स्त्रियाँ ही मन्त्रोच्चारण करते हुए उसका धागा बनाती थीं। फिर उन्हें सवालाख गायत्री-जप से अभिमन्त्रित किया जाता था। तब ब्राह्मण उस यज्ञोपवीत को धारण करते थे। जब आजकल भी साधारण मंत्रों से अभिमन्त्रित सूत का धागा गले में या पैर में बाँधने से तिजारी बुखार उतर जाता है, तो सवालाख गायत्री द्वारा अभिमन्त्रित यज्ञोपवीत धारण करने से अन्तःकरण कितना निर्मल होगा, इसका तनिक अनुमान कीजिए। यज्ञोपवीत के तारों में दैवी शक्तियों का वास माना गया है। प्रथम तन्तु में ओंकार, दूसरे में अग्नि, तीसरे में सर्प, चौथे में साम, पाँचवें में पितृ, छठे में प्रजापति, सातवें में अनिल, आठवें में सूर्य और नवें में विश्वानि देवा का वास माना गया है। इसी प्रकार ग्रन्थि के मध्य में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र का स्थान माना गया है। इससे यज्ञोपवीत की पवित्रता का पता चलता है। तो ऐसा यज्ञोपवीत जब तक द्विज पहनता नहीं था, तब तक उसका वास्तविक जन्म भी नहीं माना जाता था। मनु ने कहा है—

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबंधने।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात्॥ (२।१६९)

अर्थात् "वेद की आज्ञानुसार ब्राह्मण का पहला जन्म माता से, दूसरा यज्ञोपवीत से और तीसरा यज्ञ की दीक्षा से होता है।" यज्ञोपवीत वाले दूसरे जन्म को ब्रह्म-जन्म भी कहा है। अर्थात् ब्रह्मदर्शन या ब्रह्मज्ञान प्राप्ति का सच्चा अधिकारी मनुष्य यज्ञोपवीत के अनन्तर ही होता है। यज्ञोपवीत ही पहले तो अन्तःकरण को शुद्ध करता है; फिर द्विज यज्ञोपवीत धारण करके मन्त्र-जप

करता है तो मन्त्र से भी अन्तःकरण का संस्कार होता है। मन्त्र की शक्ति अलौकिक शक्ति होती है। पहले तो मनुष्य के रोग भी मन्त्र-शक्ति से ही दूर किए जाते थे। मन्त्रशक्ति जब अन्तःकरण की मलिनता के कारण घटने लगी, तब मानसी चिकित्सा का श्रीगणेश हुआ, अर्थात् औषधियाँ बनाई जाने लगीं, और जब स्वार्थ बुद्धि बढ़ने से औषधियों की पवित्रता भी कम हुई और औषधियों का प्रभाव अनुकूल नहीं हुआ तब आई राक्षसी चिकित्सा अर्थात् शल्य-चिकित्सा, चीरा-फाड़ी। तो इस प्रकार पहले मन्त्र की शक्ति से ही बहुत बड़े-बड़े एवं असाध्य कार्य सम्पन्न कर लिए जाते थे।

मन्त्र-शक्ति का परिचय श्रीमद्भागवत् की एक कथा से मिलता है। इक्ष्वाकु वंश में एक राजा थे, युवनाश्व। वे यद्यपि बड़े प्रतापी, धर्मात्मा और उदार थे, तथापि उनके कोई संतान नहीं थी। उनके सौ रानियाँ थीं, लेकिन संतानहीन होने से वे सब भी अपने पति की भाँति ही उदास रहती थीं। एक बार वह बहुत दुःखी होकर अपनी सौ पत्नियों सहित वन में चले गए। वन में ऋषियों ने राजा युवानाश्व की उदासी का कारण जाना तो दया से उनका हृदय भर आया। राजा के दुःख को दूर करने के उद्देश्य से उन्होंने युवनाश्व से यज्ञ कराया। बड़ी एकाग्रता के साथ इन्द्र-देवता का यज्ञ सम्पन्न करने के पश्चात् ऋषियों ने अभिमन्त्रित जल से भरा घड़ा सुरक्षित स्थान में रख दिया। वह उसे शुभ दिन देखकर राजप्रासाद में लेजाना चाहते थे ताकि रानी को पिलाया जा सके। लेकिन संयोगवश हुआ ऐसा कि उस रात को युवनाश्व को बड़ी प्यास लगी, वह जंगल में मृगया के लिए आया था और भटक गया था। पानी की खोज में वह पागल-सा हो रहा था। खोजते-खोजते वह वहीं यज्ञशाला में जा पहुँचा और उसी अभि-मन्त्रित जल से भरे घड़े को उठाकर जल पी गया। ऋषिलोग

सोये पड़े थे, उन्हें उसने जगाया नहीं। जब प्रातःकाल ऋषि लोग उठे और उन्होंने देखा कि कलश में जल नहीं है, तो वे बहुत चकित हुए। उस अभिमन्त्रित जल की उन्होंने खोज आरम्भ की; क्योंकि न मिलने पर उन्हें राजा के लिए पुनः यज्ञ करना होता। खोजते-खोजते उन्होंने राजा युवनाश्व के यहाँ भी संदेश भिजवाया; तब तो राजा स्वयं ऋषियों के पास दौड़ा आया। बोला, "महाराज! वह जल तो भूल से मैंने ही पी लिया है।" तब ऋषि लोग मौन हो गए। वे सोचने लगे कि ईश्वर-प्रेरणा से ही ऐसा हुआ है। भगवान् का बल ही वास्तव में बल है। अस्तु, अब मन्त्रों की शक्ति से परिपूर्ण जल पीने के फलस्वरूप युवनाश्व का उदर बढ़ने लगा। अन्ततोगत्वा उसकी दाहिनी कोख फाड़कर एक पुत्र उत्पन्न हुआ। स्त्री शरीर में तो भगवान् ने नवजात शिशु के पान के लिए दूध का प्रबंध किया है, पर युवनाश्व उस बालक को दूध कहाँ से पिलाते? तो जिस इन्द्र देवता को प्रसन्न करके यह पुत्र प्राप्त किया गया था, उन्हीं की प्रार्थना की गई। रोते हुए बालक को देखकर इन्द्र ने अपनी तर्जनी अंगुली उसके मुँह में डाल दी और कहा—"यह मेरा दूध पियेगा (मां धाता!) बेटा! तू रो मत। रो मत।" ब्राह्मणों और देवताओं के प्रसाद से उस बालक के पिता युवनाश्व की मृत्यु नहीं हुई। वह वहीं तपस्या करके मुक्त हो गया था। तो इस प्रकार मान्धाता के जन्म से पता लगता है कि मन्त्र में कितनी शक्ति होती है। मन्त्र से जहाँ लौकिक सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं, वहाँ परमार्थ-साधन भी हो सकता है। मन्त्र उपासना का ही एक अंग है।

आत्मा के दर्शन के लिए मल, विक्षेप और आवरण के जो पर्दे हैं, उन्हें हटाने के लिए ही वेद-उपनिषद् क्रमशः निष्काम कर्म, उपासना और ज्ञान का उपदेश कर रहे हैं। जिस साधक ने वेदोक्त उपायों का अवलम्बन लेकर अन्तःकरण शुद्ध किया है उसे ब्रह्म

का ऐसा ही साक्षात् दर्शन होगा जैसा कि दर्पण में। श्रुति कह रही है :—

> यथाऽदर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके।
> यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव
> ब्रह्मलोके। ( कठ० २।३।५ )

अर्थात् "निर्मल बुद्धि में आत्मा का दर्शन उसी प्रकार स्पष्ट होता है जिस प्रकार कि दर्पण में। पितृलोक में आत्मा का दर्शन वैसा होता है, जैसा कि स्वप्न में और गन्धर्व लोक में आत्मा का दर्शन ऐसा होता है जैसा कि जल में। इन सबसे बढ़कर ब्रह्मलोक में वह आत्मा छाया-प्रकाश के समान सर्वथा स्पष्ट अनुभूत होता है।" तो श्रुति का अभिप्राय यहाँ यही है कि अत्यन्त विशिष्ट कर्म और ज्ञान साध्य होने के कारण ब्रह्मलोक तो बड़ा दुष्प्राप्य है, अतः दुर्लभ मनुष्य शरीर पाकर ही आत्म-दर्शन के लिए हमें प्रयत्नशील होना चाहिए। और इस प्रयत्न में अन्तःकरण की मलिनता दूर करना ही सर्वोपरि है। इसके लिए ही ऊपर शुभ संस्कारों और उपासना के अंगभूत मंत्र-शक्ति का उल्लेख हुआ है। जिस प्रकार अच्छे बीज डालने से खेत में अच्छी फसल होती है, उसी प्रकार शुभ संस्कारों का फल भी उत्कृष्टतम होता है। मलिन संस्कारों से अंतःकरण मलिन होता है और मलिन अंतःकरण में आत्मा का दर्शन असंभव है। सबके हृदय में परमात्मा है, फिर भी शुद्ध अन्तःकरण वाले को ही उस समीपस्थ शुद्ध तत्व का दर्शन होता है। श्रुति ने स्पष्ट कहा है :—

> एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो
> यस्मिन्प्राणः पंचधा संविवेश।
> प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां
> यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा॥ (मुण्डक० ३।१।९)

अर्थात् "जिस शरीर में प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, इन पाँच भेदों वाला प्राण प्रविष्ट होकर उसे चेष्टायुक्त कर रहा है, उसी शरीर के भीतर हृदय के मध्यभाग में मन द्वारा ज्ञात रूप से जानने में आने वाला यह सूक्ष्म जीवात्मा भी रहता है।" परन्तु समस्त प्राणियों के समस्त अन्तःकरण प्राणों से ओतप्रोत हो रहे हैं अर्थात् इन प्राण और इन्द्रियों को तृप्त करने के लिए उत्पन्न हुई नाना प्रकार की भोग-वासनाओं से मलिन और क्षुब्ध हो रहे हैं; इस कारण सब लोग परमात्मा का दर्शन नहीं कर पाते। अन्तःकरण के विशुद्ध होने पर ही यह जीवात्मा सब प्रकार से समर्थ होता है। अतः जब यह संसार के अनित्य भोगों से विरक्त होकर भगवान के चिंतन में लग जाता है, तब परमात्मा को प्राप्त कर लेता है और भोगों की इच्छा करता है तो भोगों को प्राप्त कर लेता है। पर स्मरण रहे, मनुष्य-शरीर को पाकर सांसारिक भोगों की कामना करना हीरे को त्यागकर काँच ग्रहण करने जैसा है। इसलिए सच्चे मुमुक्षु को तो शुद्ध अन्तःकरण से उस अत्यन्त समीप रहने वाले शुद्ध, निर्मल, एकरस, अखंड, परिपूर्ण आत्मा का दर्शन करना चाहिए। उसके दर्शन से ही अमृतत्व की प्राप्ति होगी।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां
सुखं शाश्वती नेतरेषाम् ॥ ( कठ० २।२।१२ )

"अपनी बुद्धि में स्थित उस आत्मा को जो विवेकी पुरुष देखते हैं, उन्हीं को नित्य सुख प्राप्त होता है, औरों को नहीं।"

---

# विषयों से छुट्टी लें

इस संसार का हरेक जीव, प्राणी सुख चाहता है। यह स्वाभाविक है; क्योंकि यह स्वयं सुखरूप है। लेकिन यह अज्ञानवश सांसारिक पदार्थों में सुख ढूँढ़ रहा है। सुखरूप आत्मा की ओर अभी इसने ध्यान नहीं दिया। यमराज ने नचिकेता को प्रलोभन देते हुए कहा था—

शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व बहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान् ।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ।।

(कठ० १।१।२३)

अर्थात् "हे नचिकेता ! तू सौ वर्ष की आयु वाले बेटे-पोते, बहुत से पशु, हाथी, सुवर्ण और घोड़े माँग ले, विशाल भूमण्डल भी माँग ले तथा स्वयं भी जितने वर्ष इच्छा हो जीवित रह।' लेकिन नचिकेता तो विवेकी था। उसने कहा, यह भोग कल तक रहेंगे, इसमें क्या प्रमाण है ? भोग भोगने से तो इन्द्रियाँ और भी विषय-वासना में फँस जाती हैं और इनका बल नष्ट हो जाता है। इसलिए नचिकेता ने आत्मतत्व का उपदेश करने के लिए ही आग्रह किया। तो इस प्रकार संसार के सुखों को अनित्य मानकर ब्रह्म-सुख की ओर बढ़ने वाले विवेकी अधिक नहीं होते। अनेकों जन्मों के संचित पुण्यवाला व्यक्ति ही इस ओर बढ़कर परमगति को पाता है। गीता में कहा है—

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ (६।४५)

इस आत्मा के सुख के अतिरिक्त अन्य सब-कुछ निष्फल है, निष्प्रयोजन है या यों भी कह सकते हैं कि व्यापार मात्र है। भर्तृहरि ने लिखा है :—

किं वेदैः स्मृतिभिः पुराण पठनैः शास्त्रैर्महाविस्तरैः ।
स्वर्गग्रामकुटीनिवासफलदैः कर्मक्रियाविभ्रमैः ।

मुक्त्वैकं भवबन्धदुःखरचनाविध्वंसकालानलं ।
स्वात्मानन्दपदप्रवेशकलनं शेषा वणिग्वृत्तयः ॥

वेद, स्मृति, पुराण, शास्त्र आदि पढ़ने से क्या प्रयोजन ? इन्हें पढ़कर मनुष्य शुभ कर्मों में केवल फल की इच्छा से ही प्रवृत्त होता है। वह इसलिए शुभकर्म करता है कि स्वर्गलोक में उसे सुखपूर्वक रहना मिल जाय। इन सबको इसलिए व्यापार ही कहा। हम बाजार में जिस तरह चार आने देकर पाव-भर मिठाई ले लें या दूध लेलें और उससे अपनी रसना को तृप्त करके सुख मानें, इसी प्रकार शुभकर्म करके उच्च लोकों की प्राप्ति होगी। लेकिन जिस प्रकार संसार के भोग अनित्य हैं इसी प्रकार और लोकों के सुख भी अनित्य हैं। उन्हें भी जीव तब तक ही भोगता है जब तक कि उसके पुण्य कर्म समाप्त नहीं होते। पुण्य क्षीण होने पर उसे फिर मर्त्यलोक में आना पड़ता है। भगवान् गीता में कहते हैं—'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकाः विशन्ति।' केवल एक स्वात्मानन्दपद, आत्मा का आनन्द, आत्मा का दर्शन ही ऐसा है, जिसे प्राप्त करके जीव सदा-सदा के लिए तृप्त हो जाता है। उसको फिर जन्म-मरण के चक्कर में नहीं आना पड़ता और सब कर्म, और उपासना तो अन्य लोकों या पारलौकिक सुखों की प्राप्ति कराने वाले हैं, अतः व्यापार मात्र हैं, लेकिन ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् कुछ भी प्राप्तव्य नहीं रह जाता। शाश्वत सुख जीव पा लेता है।

इसलिए अमूल्य मानव-देह को पाकर सांसारिक विषयों के पीछे सुख की खोज में दौड़ना बुद्धिमत्ता नहीं। भगवान् शंकराचार्य बताते हैं:—

विषमविषयमार्गैर्गच्छतोऽनच्छबुद्धेः
प्रतिपदमभियातो मृत्युरप्येष विद्धि ।

अर्थात् विषयरूपी विषम मार्ग में चलने वाले मलिन-बुद्धि को पद-पद पर मृत्यु आती है, ऐसा समझना चाहिए। इसीलिए विवेकी सांसारिक विषयों को तृणवत् त्याग देता हैं। वह जानता है कि संसार के तमाम भोग, कुल स्त्रियाँ, कुल पृथ्वी, तमाम पशु, समस्त स्वर्ण एक आदमी के लिए भी पर्याप्त नहीं है। अतः विषय की ओर वह मुँह नहीं करता। संसारी विषयों को छोड़कर वह वन में रमण करता है। वन में ही उसे अपने अनुकूल परिवार भी मिल जाता है। भर्तृहरि ने दूसरी जगह लिखा है :—

शय्या शैलशिला गृहं गिरिगुहा वस्त्रं तरूणां त्वचः।
सारङ्गाः सुहृदो ननु क्षितिरुहां वृत्ति फलैः कोमलैः
येषां नैर्झरणाम्बुपानमुचितं रत्यै च विद्याङ्गनाः।
मन्यन्ते परमेश्वराः शिरसि यैर्बद्धो न सेवाञ्जलिः।

आत्मा के सुख में रमण करने वाला वह मुमुक्षु परमेश्वर के तुल्य है जिसने शिला को अपनी शय्या बनाया है, पर्वत-कन्दरा ही जिसका घर है, वृक्षों की छाल से जो शरीर ढकता है, हरिण जिसके मित्र हैं, फल-मूल-कंद से जो उदरपूर्ति करता है, झरनों का जल पीता है और विद्या-रूपी स्त्री में जिसकी प्रीति है। साथ ही जिसने अपनी किसी कामना की पूर्ति के लिए किसी के सम्मुख हाथ नहीं बाँधे, अर्थात् प्रणाम नहीं किया तो ऐसा व्यक्ति वही होगा जो निःस्पृह, वीतराग और सत्य ब्रह्मनिष्ठ होगा। विषयों का जिसने सर्वथा त्याग किया होगा।

विषयों के वश होकर मनुष्य अपनी वर्षों की साधना को पानी में मिला देता है, अपने पद से गिर जाता है। ऐसा एक दृष्टान्त है। एक राजा की लड़की बड़ी रूपवती, गुणवती और विदुषी थी। इतना ही नहीं, घुड़दौड़ में भी वह सबसे वेगवती थी। अतः जब वह विवाह-योग्य हुई तो उसके पिता ने यह

घोषणा कर दी कि जो राजकुमार इसे घुड़दौड़ में हराएगा, उसी का यह वरण करेगी। देश-विदेश से राजकुमार आने लगे। लेकिन वह राजकुमारी घुड़दौड़ में सबको हराती गई। राजा क्षुब्ध हो चला। कन्या की उम्र बढ़ रही थी और घुड़दौड़ में जीत-कर कुमारी को वरण करने वाला कोई राजकुमार मिल नहीं रहा था। इसी तरह कुछ दिन बीत गए। अंत में एक राजकुमार वहाँ आया और उसने चुपचाप राजकुमारी के व्यसन का पता लगाया। ऐसा नियम है, हरेक को कोई-न-कोई व्यसन होता है और उससे काम बनाना हो तो उसका व्यसन पूरा करने से काम निकल जाता है। अतः राजकुमार को पता लगा कि राजकुमारी को सेव खाने का व्यसन है और सेव मिल जाने पर तो ऐसी प्रसन्न होती है, जैसे भक्त को साक्षात् भगवान् मिल जायं। तो उस राजकुमार ने यह जानकारी प्राप्त करने के बाद दूर-दूर से बहुत सुन्दर सेव मंगवाए और उन्हें बहुत संभालकर रखा। जब सेव की ऋतु समाप्त हो गई तब वह राजकुमारी के पिता के पास गया और घुड़दौड़ का प्रस्ताव रखा। राजा तो निराश था, वह भी जनक की भाँति-लिखा न विधि वैदेही बिवाहू-की बात सोचता था। बहुत दिनों बाद एक साहसी राजकुमार के आगमन से उसे प्रसन्नता हुई। उसने घुड़दौड़ की सहर्ष अनुमति दे दी। दस मील लम्बे मार्ग में घुड़दौड़ होनी थी। राजकुमार ने एक युक्ति से काम लिया। उसने अच्छे-अच्छे संग्रहीत सेव छाँटकर टोकरियों में लगाए और घुड़दौड़ के मार्ग में दो-दो मील के अंतर से वह टोकरियाँ रख दीं। और उन्हें भी इस प्रकार रखवाया कि हर दो मील पर आने वाली टोकरी में बढ़िया से बढ़िया सेव थे। अगले दिन घुड़दौड़ आरम्भ हुई। अब राजकुमारी आगे निकल गई। लेकिन दो मील पर ही जब उसे सेव रखे दिखाई दिए तो उसके मुँह में पानी भर आया। उसने सोचा—"राजकुमार तो बहुत पीछे है, सेव को

ले लूँ।' इस विचार से राजकुमारी रुक गई। थोड़े सेव उठाए उसने और जेबों में भर लिये, एकाध मुँह में भी भर लिया। इतने में राजकुमार आगे निकल गया। राजकुमारी ने भी घोड़ा तेजी से चलाया और वह फिर आगे निकल गई। पर मार्ग में सेब की तो और भी टोकरियाँ रखी थीं। राजकुमारी ने आगे जब और भी बढ़िया सेव देखे तो वह उन्हें भी किसी प्रकार बटोरने का लोभ संवरण न कर सकी। हर टोकरी के सेवों ने लुभाया और अंत में परिणाम वही हुआ जो होना था, राजकुमारी हार गई। राजकुमार ने उसका वरण किया। तो यह राजकुमारी ही एक प्रकार से मुमुक्षु है। इसे जिस विजय-स्थल पर पहुँचना था, वही ब्रह्म है। और मार्ग में जिन सेवों ने उसे लुभाया वही विषय हैं। राजकुमार जो विषयों को जीतकर दौड़ा और लक्ष्य पर पहले पहुँच गया, वही मानो जितेन्द्रिय मुमुक्षु है। तो इस प्रकार विषयों को जीतकर ही आत्मदर्शन के लिए साधक को प्रयत्नशील होना चाहिए। विषयों को श्रीशंकराचार्य ने विष-तुल्य वताया है :—

दोषेण तीव्रो विषयः कृष्णसर्पविषादपि।
विषं निहन्ति भोक्तारं द्रष्टारं चक्षुषाप्ययम्॥

विषयों में काले सर्प के विष से भी अधिक तीव्र विष है; क्योंकि विष तो खाने वाले को ही मारता है, परन्तु विषय तो उसे भी मार डालता है जो आँख भरकर उसे देखता ही है। इस प्रकार विषय को साधक का सबसे बड़ा शत्रु बताया गया है। मनुष्य की हर एक इन्द्रिय विषयों की ओर दौड़ने वाली है, क्योंकि उनका स्वभाव बहिर्मुखी है। विवेकी उनको वश में करके आत्म-दर्शन प्राप्त कर लेता है। यमराज ने नचिकेता को बताया :—

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते॥
(कठ० २।१।२)

अर्थात् बाल-पुरुष या मन्दमति लोग बाह्य कामनाओं का, काम्य विषयों का ही अनुगमन करते हैं और इसी कारण से वे अविद्या, काम और कर्म के समुदायरूप मृत्यु के विस्तीर्ण पाश में पड़ते हैं। वे बार-बार जन्म-मरण को भोगते हैं। परन्तु जो धीर हैं, विवेकी हैं, वे प्रत्यगात्मस्वरूप में स्थितिरूप ध्रुव अमृत को पाते हैं। ध्रुव इसलिए कि वह आत्मज्ञानरूपी अमृत कर्म से न तो बढ़ता है, न घटता, यद्यपि देवताओं के अमृत या भोग भी घटते-बढ़ते रहते हैं। अमृतत्व ध्रुव और कूटस्थ है और संसारी भोग अनित्य, अध्रुव हैं। इसलिए ब्रह्मवेत्ता प्रत्यगात्मा के दर्शन में विरोधी होने वाले सांसारिक भोगों से, पुत्र, धन और लोकैषणा से दूर रहता है।

श्रीमद्भागवत में भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धवजी को बताया है—"विषयों का चिन्तन करते-करते मनुष्य विषयरूप हो जाता है। उसका जीवन वृक्षों के समान जड़ हो जाता है। उसके शरीर में उसी प्रकार व्यर्थ श्वास चलता रहता है जैसे लुहार की धौंकनी में हवा। उसे न अपना ज्ञान रहता है, न किसी दूसरे का। वह सर्वथा आत्मवंचित हो जाता है। विषय-वासनाओं में फँसे हुए दीन-हीन लोभी पुरुषों की तरह वे रंग-विरंगे पुष्पों के समान स्वर्गादि लोकों को ही सब कुछ समझ बैठते हैं और अग्नि के द्वारा सिद्ध होने वाले यज्ञ-यागादि कर्मों में ही मुग्ध हो जाते हैं। उन्हें अन्त में देवलोक, पितृलोक की ही प्राप्ति होती है। दूसरी ओर भटक जाने के कारण उन्हें निजधाम आत्मपद का पता नहीं लगता। उनके पास कोई साधना है तो वह है कर्म की और उसका कोई फल है

तो केवल इन्द्रियों की तृप्ति। स्वर्गादि लोक वास्तव में स्वप्न के दृश्यों के समान असत् हैं। सकाम पुरुष वहाँ के भोगों के लिए मन-ही-मन नाना प्रकार की कल्पनाएँ कर लेते हैं और जिस प्रकार व्यापारी अधिक लाभ की आशा से मूलधन भी गँवा बैठता है, वैसे ही वे सकाम यज्ञों द्वारा अपने धन का नाश करते हैं। इसलिए उद्धवजी! इन कभी न तृप्त होने वाली इन्द्रियों से विषय मत भोगो।" तो इस प्रकार भगवान् ने भी स्पष्ट कह दिया कि "आत्म-दृष्टि ही समस्त विपत्तियों से बचने का एकमात्र साधन है।" सबसे बड़ी विपत्ति बार-बार जन्म लेना और अपने स्वरूप को जाने बिना ही बार-बार मरना है। इसी से बचने के लिए, अमृतपद पाने के लिए तीव्र वैराग्य द्वारा विषयों से निवृत्त हो जाना चाहिए। यही परम कर्तव्य है और इसी से परमपद की प्राप्ति होगी।

---

## आत्मा का आश्चर्य !

आत्म-तत्व को जानना अत्यन्त कठिन होता है। आत्मा हमारे अत्यन्त समीप है, व्यापक है और फिर इन्द्रीयातीत भी है। इसलिए उसका दर्शन करना अर्थात् साक्षात् देखने जैसी-ही उसकी अनुभूति करना अत्यन्त कठिन है। उसका दर्शन एक आश्चर्य जैसा है। इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥

आश्चर्यवत् कोई इसका दर्शन करता है, आश्चर्यवत् ही कोई इसे कहता है और आश्चर्यवत ही कोई इसे सुनता है और आश्चर्य-

वत् ही कोई इसे जानता है। इस प्रकार आत्मा स्वयं आश्चर्य-रूप है, उसका दर्शन भी आश्चर्य है और उसका दर्शन करने-वाला भी एक आश्चर्य ही है। आत्मा आश्चर्यरूप क्यों? आत्मा ज्ञानस्वरूप है, आनन्दरूप है, फिर भी देहाध्यास होने से वह मानता है, "मैं सुखी हूँ", "मैं दुःखी हूँ", "मैं अद्वितीय नहीं, भिन्न-भिन्न हूँ" इत्यादि। यह है अज्ञान। आत्मा है ज्ञानस्वरूप। इस प्रकार अज्ञान का विरोधी है ज्ञान, फिर भी वही अज्ञान आत्मामें आरोपित हो रहा है। इसीलिए आत्मा स्वयं आश्चर्यरूप है। ज्ञान अविद्या का कार्य होकर विद्या का नाशक है। कार्य होकर अपने कारण का नाश करता है। ज्ञान के दो स्वरूप हैं, एक तो स्वरूपभूत आत्मा का ज्ञान, यह नित्य है। दूसरा वृत्ति रूप मायिक ज्ञान है, जैसे "अहं ब्रह्मास्मि।" इसी ज्ञान ने अज्ञान के कार्य का नाश कर दिया। वृत्ति उदय होती है तो अज्ञान और अज्ञान का कार्य होने से ज्ञान स्वयं भी नष्ट होता है। मिथ्या होते हुए सत्य प्राप्ति का कारण बनता है, अविद्या का कार्य होकर उसी का नाश करता है और अविद्या को नष्ट कर स्वयं भी नष्ट हो जाता है। तो इस प्रकार आत्मा आश्चर्यरूप ही है।

अब आत्मा का दर्शन भी आश्चर्यरूप कहा। वह आत्मा नेत्र का विषय नहीं। "नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।" (कठ० २।३।१२) उसी आत्मा को जिज्ञासु जान लेता है। जो ज्ञानेन्द्रिय का विषय नहीं, उसे जान लिया जाय, तो आश्चर्य ही है। अज्ञेय आत्मा जिज्ञासु को ज्ञेय हो जाता है। ज्ञानरूप होकर आत्मा जड़रूप भान हो रहा है। उस पर पंचकोशों का आवरण है, इसलिए वह पंचकोशी ही दिख रहा है। है यद्यपि असंग। स्फटिक जैसे स्वच्छ निर्मल होता है, पर लाल पुष्प के समीप होने से लाल अथवा पीले पुष्प के समीप होने से पीला दिखाई देता है, इसी प्रकार पंचकोश के साथ अज्ञान के कारण

तादात्म्य होने से आत्मा में भी पंचकोश के गुण-धर्म प्रतीत होने लगते हैं। विवेकी आत्मा को पंचकोश से पृथक् करके जानता है तो आत्मा का ज्ञान अविद्या या अज्ञान का विरोधी पड़ता है। सो दृष्टान्त से समझना चाहिए। अग्नि और पट का संयोग लीजिए। पट के रूप का कारण है पट और अग्नि-पट संयोग भी पट का कार्य है। पर यह कार्य अपने कारण का नाश कर स्वयं भी नष्ट होने वाला है। इसी प्रकार अविद्या का आत्मा के ज्ञान से नाश हो जाता है। कार्य कारण का विरोधी किस प्रकार है ? इसे यों समझना चाहिए कि स्वतन्त्र रूप से आत्मा अज्ञान का विरोधी नहीं, पर अज्ञान के सामने आने पर उसका विरोधी हो जाता है। रस्सी का ज्ञान सर्प का विरोधी है। इसी प्रकार अधिष्ठान रूप आत्मा का ज्ञान अध्यस्त का विरोधी है। अब वृत्ति भी जड़ मानी है और अज्ञान भी जड़ माना है, तो जड़ ने जड़ को कैसे हटाया ? श्रुति कह रही है :—"आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्" अर्थात् आत्मा को जानने की शक्ति, आत्मा का ज्ञान कराने वाली ज्ञानरूपा शक्ति, यह आत्मा से ही मनुष्य को मिलती है [ विद्या से अमृत की प्राप्ति कहने में उपनिषद् का भाव यह है कि मनुष्य के उत्साह और रुचि में वृद्धि हो। ] आत्मा स्वयं स्वतन्त्र रूप से अविद्या की निवृत्ति नहीं करती, क्योंकि अधिष्ठान अध्यस्त को दूर नहीं करता। अधिष्ठान का ज्ञान ही अध्यस्त को हटायेगा। जैसे सर्प का अधिष्ठान है रज्जु। तो रज्जु से सर्प की निवृत्ति नहीं होगी, रज्जु के ज्ञान से ही सर्प की निवृत्ति होगी। इस आत्मा को मुमुक्षु कैसे जानता है ? इस पर श्रुति कहती है:—

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥( केन २।३)

अर्थात् जिसका यह मानना है कि ब्रह्म जानने में नहीं आता

उसका तो वह जाना हुआ है। जो यह कहता है कि ब्रह्म मेरे जानने में आ गया, वह नहीं जानता। जो महापुरुष परमेश्वर का साक्षात् कर लेते हैं उनमें किञ्चिन्मात्र भी ऐसा अभिमान नहीं रह जाता कि हमने परमेश्वर को जान लिया है। वे परमात्मा के असीम महिमा-महार्णव में निमग्न हुए यही समझते हैं कि परमात्मा स्वयं ही अपने को जानते हैं। उन्हें कोई जानता है तो भी इसी रूप में कि वह अज्ञेय हैं। ज्ञात-अज्ञात दोनों से परे। वह असीम हैं और ससीम मनुष्य असीम की सीमा कैसे जान सकता है? अतएव जो यह मानता है कि मैंने ब्रह्म को जान लिया, परमेश्वर मेरे ज्ञेय हैं, मैं ज्ञानी हूँ, वह सर्वथा भ्रम में है, ब्रह्म इस प्रकार ज्ञान का विषय नहीं है। जितने भी ज्ञान के साधन हैं, उनमें एक भी ऐसा नहीं जो ब्रह्म तक पहुँच सके। अतएव इस प्रकार जानने वालों के लिए परमात्मा सदैव अज्ञेय है। जब तक जानने का अभिमान रहता है, तब तक परमेश्वर का साक्षात्कार नहीं होता। परमेश्वर का साक्षात्कार उन्हीं महापुरुषों को होता है, जिन्हें जानने का अभिमान नहीं रह गया है। दूसरी बात यह भी है कि जिसने उस ब्रह्म को जाना है वह तो स्वरूप से ब्रह्म ही हो जाता है, फिर वह यह कैसे बता सकता है कि मैंने ब्रह्म को जाना? "जानहि सोइ जेहि देहु जनाइ। जानत तुमहि तुमहि होइ जाइ॥" इस प्रकार ज्ञाता और ज्ञेय यहाँ अलग नहीं। वह तो तब ऐसा जानता है कि "यह मैं हूँ, अथवा यही मेरा यथार्थ स्वरूप है।" अतः आत्मा का जानना भी आश्चर्यरूप ही कहा। ऐसा जानना होता है सत्संग से, शास्त्र और गुरु एवं भगवान् के अनुग्रह से। ऐसे ब्रह्म को जानने से ही जीव निर्भय होता है।

अन्तःकरण में तो अज्ञान भरा हो, शरीर—सांसारिक भोगों और पदार्थों में अहंता, ममता हो और जिह्वा पर ज्ञान हो, तो

ऐसे ज्ञान का कोई फल नहीं, लाभ नहीं। अज्ञान-ज्ञान एक-दूसरे के विरोधी हैं। और विरोधियों का यह स्वभाव होता है कि वे समानाधिकरण की दशा में अथवा समान काल में एक साथ नहीं ठहरते। जिसके मन में संसार है उसके मन में भगवान् नहीं ठहर सकता। जिसने संसार को असार जाना है, वह ही आत्म-चिंतन में लगेगा। भर्तृहरि ने कहा है—

भोगस्तुङ्गतरङ्गभङ्ग चपलाः प्राणाः क्षणध्वंसिनः
स्तोकान्येव दिनानि यौवनसुखं प्रीतिः प्रियेष्वस्थिरा।
तत्संसारमसारमेव निखिलं बुद्ध्वा बुधा बोधकाः
लोकानुग्रह पेशतेन मनसा यत्नः समाधीयताम्॥

भोग बड़ी-बड़ी लहरों के टूटने की तरह चंचल हैं, प्राण क्षण में नष्ट होने वाले हैं, यौवन का सुख थोड़े दिन रहने वाला है, प्रिय लोगों से प्रीत भी स्थिर नहीं। इसलिए विवेकी संसार को असार मानकर अपने मन को यत्नपूर्वक दूसरों के उपकार में लगाता है। संसार की असारता को जानकर ही मुमुक्षु आत्मचिंतन में लगता है। ऐसे आत्मवेत्ता को संसार नष्ट होने पर भी खेद नहीं होता, क्योंकि उसकी शरीरादियों में आत्मबुद्धि नहीं होती। वह जानता है कि मृत्यु केवल अभिमान को मारती है। ब्रह्मवेत्ता पहले ही अनात्म पदार्थों में अभिमान को छोड़ चुका होता, इसलिए उसे मृत्यु से भी भय नहीं। शिवजी भी ऐसे ही स्वात्माराम हैं। उनके पास एक बार शनि गया। बोला—"कल से मैं आपके यहाँ आ रहा हूँ।"

शिवजी ने पूछा—"कितने समय के लिए!"

शनि ने उत्तर दिया—"साढ़े सात वर्ष के लिए।"

शिवजी ने कहा—"यह तो बहुत समय है, मुझ पर तो इतनी क्रूर दृष्टि नहीं होनी चाहिए। थोड़े समय के लिए आओ।"

"तो साढ़े सात मास के लिए आ जाऊँ ?" शनि ने कहा।

"नहीं भाई ! यह भी बहुत है।"

"तो फिर साढ़े सात घंटे के लिए आऊँगा।" शनि ने कहा।

शिवजी ने स्वीकृति दे दी और पूछा—"कल किस समय आओगे ?"

शनि ने कहा—"यह तो नहीं बताऊँगा।"

"अच्छा, भाई ! न बता।" शिवजी यह कहकर मौन हो गए। शनि चला गया। शिवजी ने सोचा—शनि को छकाना चाहिए। अतः उन्होंने तत्काल पार्वती को आज्ञा दी—"तुम अपने पिता के यहाँ चली जाओ, कल शनि आने वाला है।" पार्वती चली गईं। गंगा को भी इसी प्रकार चौबीस घण्टे के लिए भेज दिया। नन्दी से कहा—"वन में जाओ।" सर्पों को भी इसी तरह समझाकर भेज दिया। चन्द्रमा की कला को सुधाकर में जाने की आज्ञा देदी और अब अकेले निर्विकल्प समाधि लगाकर बैठ गए। दूसरे दिन आयाशनि। देखा, महादेव तो निर्विकल्प समाधि में बैठे हैं। वहाँ क्या वश चलता ? घर में देखा, न वहाँ पार्वती हैं, न नन्दी है। न गंगा, न चन्द्रमा; न सर्प ही हैं। अब तो शनि निराश होकर लौट गया। चौबीस घण्टे में उसने तीन-चार चक्कर किए, परन्तु शिवजी को समाधि में देखकर वह हर बार निराश होकर लौट गया। २४ घण्टे व्यतीत होगए। अगले दिन महादेवजी ने समाधि खोली तो शनि नतमस्तक हाथ जोड़े खड़ा था। शिवजी अलौकिक मुस्कान के साथ बोले—"भाई, तू आया नहीं।"

शनि ने विनम्र भाव से कहा—"आया तो था, पर प्रभु आपसे कौन जीता है ! जिनको मैं आपसे तितर-बितर करने आ रहा था, उन्हें तो आपने स्वयं ही दूर कर दिया।" तो इसी प्रकार मृत्यु हमारे जिस देहाभिमान को छुड़ाने आती है, उसे यदि हम स्वयं छोड़ दें तो अमृत पद पाने में देरी नहीं होगी। और वेदान्त

का यह विचार समझने में सफल भी वही होता है जिसने संसार को असार जानकर ब्रह्म जानने की जिज्ञासा की है। अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। ब्रह्म कौन है? उसका स्वरूप क्या है? वेदान्त में उसका वर्णन कैसे हुआ है? जो श्रद्धापूर्वक गुरु के पास रहकर इन प्रश्नों का समाधान ढूँढ़ता है, उसे ही ब्रह्मतत्व का दर्शन होता है। वह ब्रह्मवेत्ता संसार के दुःखों से दुःखी नहीं होता। सूर्य जिस प्रकार उदय और अस्तकाल में एकसा लाल होता है, उसी प्रकार वह भी सुख-दुःख, उदय-पतन में एकभाव रखता है। 'बृहदारण्यक' में लिखा है—अपने स्वरूप को ठीक जान लेने पर मायिक पदार्थों और शरीर के मोह में पड़कर रो नहीं सकता। भगवान ने गीता में भी कहा है:—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ (५।२२)

ये संसार के भोग इन्द्रियों के संसर्ग से उत्पन्न होने वाले, अनित्य, और दुःख देने वाले हैं, इसलिए विवेकी इनमें रमण नहीं करता। वह तो गुरु और भगवत् कृपा से आत्म-चिंतन करता है और उस चिंतन के फलस्वरूप उसके सन्मुख आश्चर्यमयी आत्मा ऐसे ही खड़ी हो जाती है, जैसे कोई मूर्ति साक्षात् देखी जा रही हो। और आत्मा का ऐसा ज्ञान होने पर जीव ब्रह्म के ही धर्मों को प्राप्त होता है। भगवान् गीता में कहते हैं:—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ (१४।२)

अर्थात् "ज्ञान की उपासना करके जो मेरे सदृश धर्मों को अर्थात् निर्लेपता आदि दिव्य कल्याणमय भावों को प्राप्त हो जाते हैं, अतः वे न तो जगत की रचना के समय उत्पन्न होते हैं और न प्रलय-काल में मरने का दुःख भोगते हैं। इस प्रकार वे अपने यथार्थ स्वरूप को ही प्राप्त कर लेते हैं। मुक्त हो जाते हैं। मुमुक्षु को

इसी आश्चर्य को जानने, देखने और अनुभव करने के लिए सांसारिक पदार्थों से विमुख हो प्रयत्नशील हो जाना चाहिए। इसी में कल्याण है। यही शुभ मार्ग है।

---

## कर्म की प्रधानता

आत्मा को श्रुति ने व्यापक बताया है। वही ऊपर, नीचे, बाँयें-दाँयें, सामने-पीछे, सब ओर है। वह सब जगह है। व्यापक है, इसलिए उसमें काल-परिच्छेद, देश-परिच्छेद और वस्तु-परिच्छेद नहीं। जो वस्तु कहीं है, कहीं नहीं है उसमें देश-परिच्छेद होता है। ब्रह्म या आत्मा में ऐसा भाव नहीं है। इसी प्रकार जो जन्मने-मरने वाला है, जो किसी काल में है किसी काल में नहीं, जिसकी उत्पत्ति और विनाश हैं, उसमें काल-परिच्छेद माना जाता है। आत्मा में यह भी नहीं है। और जो किसी रूप में है, किसी रूप में नहीं है, उसमें वस्तु-परिच्छेद मानना चाहिए। ब्रह्म सर्वरूप है। जो कुछ हम देखते हैं वह ब्रह्म ही है, वह परिपूर्ण है, व्यापक है। अतः जब ब्रह्म व्यापक है और जीवात्मा एवं ब्रह्म में कोई भेद नहीं, तो जीव को भी व्यापक ही मानना चाहिए। और जिसे व्यापक मानते हैं, उसमें गमनागमन हो नहीं सकता। जैसे बोतल में ठसाठस भरा जल हिलाने-डुलाने से किधर जायगा ? उसमें गति नहीं। गमनागमन क्रिया है और क्रिया होती है परिच्छिन्न में। जीव सर्वव्यापी है, इसलिए इसमें भी गमनागमन नहीं।

लेकिन शास्त्र यह कहता है कि जीव शुभ कर्म करके स्वर्ग में जाता है और महान् पाप करके नरक में जाता है। जब जीव व्यापक है और उसमें गमनागमन नहीं, तो फिर नरक अथवा स्वर्ग में कौन जाता है?

पहले तो यह निर्णय कर लें कि स्वर्ग-नरक हैं भी या नहीं। बहुत से लोग कहते हैं, वास्तव में यमराज के यहाँ कोई नरक नहीं, और न ही देवराज इन्द्र का कोई स्वर्गलोक है। पर ऐसा नहीं है। वेद, स्मृति, पुराण, शास्त्र सबमें स्वर्ग-नरक का वर्णन है। युक्ति से भी यह सिद्ध होता है। जिस तरह वर्तमान सरकार अपराधी को दण्ड देने के लिए जेल में डाल देती है, इसी प्रकार ईश्वरीय विधानानुसार पापियों को यातनाएँ देने के लिए नरक भी है। नरक भी कई प्रकार के हैं। पर मुख्य रूप से इन्हें चार श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। एक तो रोगी-देह नरक है। यों तो शरीर के लिए "व्याधि ग्रस्तं कलेवरं" कहा है, परन्तु जिसका शरीर सदा रोगी है, जो दूसरों के आश्रय पर चारपाई पर ही पड़ा रहता है, दुःखी है, वह नरक जैसा ही है। घर में कलहिनी स्त्री का होना दूसरा नरक है। और तीसरा नरक है कलंकित जीवन। कलंकित से सब घृणा करने लगते हैं। और चौथा नरक है यमराज के यहाँ। चारों प्रकार के नरक पापों का ही फल हैं। पहले तीन नरक तो इसी लोक में देखने को मिल सकते हैं। ये छोटे पापों के फलरूप मिलते हैं। वास्तव में मानवदेह में इतनी शक्ति नहीं कि वह महान् पापों के फलरूप उग्रतम कष्ट को सहन कर सके, अथवा महान् पुण्य कार्य के फलरूप सुख, ऐश्वर्य को भोग सके। इनके लिए क्रमशः उस नारकीय शरीर अथवा स्वर्ग का दिव्य शरीर धारण करना पड़ता है। यहाँ नरक के दुःख भोगने लगें तो शरीर मर जाय और फल अधूरा रह जाय। नरक का शरीर ऐसा है कि असह्य दुःख भोगता है, पर मरता नहीं। कोई नरक असिपत्र

का होता है। वहाँ वृक्षों में तलवारों जैसे पत्ते लगे हुए हैं और वह तलवारें कच्चे धागों से बंधी लटक रही हैं। पापी मनुष्य उसमें धकेल दिया जाता है और फिर वायु चलती है। तब तलवारें उसके शरीर में चुभती हैं, वह जिधर भागता है उधर ही वृक्ष के नीचे तलवारें चुभती हैं। इसी प्रकार कहीं तेल के खौलते कढ़ाए होते हैं, उनमें मनुष्य पकौड़ियों की तरह तला जाता है, पर फिर भी मरता नहीं। यों भिन्न-भिन्न महान् पातकों के लिए भिन्न-भिन्न नरक हैं। जब पाप थोड़े रह जाते हैं, ऐसे जो मानव देह से भोगे जायँ अथवा स्थावर, पशु, पक्षी, कीट, पतंग की योनियों में भोगे जा सकें, तो उस मनुष्य को उन-उन योनियों में पटक दिया जाता है। इसी प्रकार महान् सुख भोगने के लिए स्वर्ग में जाता है। स्वर्ग में देवताओं के दिव्यशरीर से भोग भोगकर, पुण्य समाप्त होने पर फिर मर्त्य लोक में आता है और अच्छे धनवानों के कुल में उत्पन्न होता है। "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकाः विशन्ति" ऐसा भगवान् ने भी कहा है। तो यह स्वर्ग-नरक का वर्णन झूठा नहीं है। यहाँ से दक्षिण दिशा में ८० हजार योजन पर नरक है और उत्तर दिशा में ८० हज़ार योजन पर स्वर्ग है। जब सूर्य दक्षिणायन होता है तब नरक में दिन होता है और जब उत्तरायण सूर्य होता है तब स्वर्ग में दिन होता है। छः-छः मास का दिन और रात्रि वहाँ होते हैं। आज के विमान वहाँ नहीं पहुँच पाते। उनमें इतनी शक्ति नहीं। वे गोल पृथ्वी के ही चारों ओर घूमते हैं। पहले राजा, जिनका पुराणों में वर्णन है, विमानों में स्वर्ग-नरक जाते थे।

अब प्रश्न यह उठता है कि जीवात्मा को जब ब्रह्मरूप एवं व्यापक मान लिया तो फिर स्वर्ग-नरक में कौन जाता है? आत्मा को नैयायिक भी व्यापक मानते हैं, वे कहते हैं आत्मा तो व्यापक है वह स्वर्ग-नरक में नहीं जाती। मन जाता है। आत्मा व्यापक

है, स्वर्ग या नरक में भी वह है, मन जाता है और उसका वहाँ आत्मा से संबंध हो जाता है और फिर यह दुःख या सुख भोगता है। जैसे बिजली का तार सर्वत्र है, जहाँ हरा लट्टू लगाओगे वहाँ हरा प्रकाश, जहाँ लाल लट्टू है वहाँ लाल प्रकाश। पापी का मन नरक में गया तो दुःख भोगने लगेगा और शुभ कर्म करने वाले पुण्यवान् का मन स्वर्ग में गया तो उत्तम भोग और सुख भोगने लगेगा। नैयायिक ऐसा इसलिए कहते हैं कि ऋग्वेद में एक कथा आती है जिसमें मन को स्वर्ग से वापस बुलाने की बात कही गई है। सुवन्धु नाम का एक राजा था। उसका एक पुरोहित था। जिस प्रकार मुकद्मा जिताने के लिए अच्छा वकील चाहिए, उसी प्रकार स्वर्ग दिलानेवाले शुभ कर्मों का अनुष्ठान कराने के लिए विद्वान् पुरोहित रहा करते थे। वह पुरोहित एक बार कार्यवश नगर से बाहर जाने वाला था। जिस दिन उसे जाना था, उसी दिन राजा ने यज्ञ करना निश्चित किया था। पुरोहित का जाना अनिवार्य था। अतः उसने अपने छोटे भाई से कहा—"मेरा जाना तो रुक नहीं सकता और राजा को यज्ञ भी स्थगित नहीं करना है, इसलिए यज्ञ तुम करा दो। आय-दान में से हम आधा-आधा बाँट लेंगे।" छोटे भाई ने कहा—"आपका यजमान प्रसन्नता से यज्ञ करे। मैं यज्ञ करा दूँगा। पर मैं आपकी आयको ग्रहण नहीं करूँगा। आपका मैं छोटा भाई हूँ। आप कभी मेरी अनुपस्थिति में मेरे यजमान का कार्य करा सकते हैं। आप ही इसलिए सारा दान लीजियेगा।" अस्तु, पुरोहित चला गया। उसके छोटे भाई ने यज्ञ कराया। परन्तु, संयोग की बात, यज्ञ होने लगा तो सुबंधु मर गया। अगले दिन उसका पुरोहित लौटा। और सुबंधु की मृत्यु का समाचार सुन उसे बड़ा खेद हुआ। छोटे भाई पर वह बहुत रुष्ट हुआ। तब उसने कहा—"भाई साहब! आप रुष्ट न हों। राजा का शरीर अभी राजकीय सम्मान से

अन्त्येष्टि संस्कार के लिए सुरक्षित पड़ा है। मैं उन्हें जीवित कर दूँगा। आप अपने यजमान के लिए मुझसे न लड़िए।" फलस्वरूप छोटे भाई ने मंत्रों के प्रभाव से सुबंधु के मन को यमराज के यहाँ से वापस बुला लिया। सुबंधु जीवित हो गया। तो इस प्रकार इस कथा में विवस्वान के पुत्र यमराज के यहाँ से मन को लौटाने का प्रमाण मिलता है। लेकिन सांख्यवादी आत्मा के साथ ही मन को भी व्यापक मानते हैं। वे कहते हैं, मन के होने मात्र से सुख-दुःख नहीं। सुख-दुःख होते हैं वृत्तियों से। समाधि में कोई वृत्ति नहीं तो सुख-दुःख भी नहीं। परन्तु जो पापी होता है उसके मन में बुरे संकल्प विकल्प उठते हैं और वह दुःख भोगता है। अच्छे संकल्प-विकल्प उठते हैं तो पुण्यवान् स्वर्ग में जाता है। सांख्य-वादी यह भी कहते हैं कि योगी हजारों मील दूर की सामने की वस्तु भी देख लेता है। और बिना मन के कोई वस्तु देखी नहीं जा सकती, अतः मन व्यापक मानना पड़ेगा। योग वाले भी मन और इन्द्रियों को व्यापक मानते हैं। वे कहते हैं कि कर्मोंके कारण ही मनुष्य बंधन में पड़ता है। योगी अभ्यास से इस बंधन को हटा देता है और मुक्त हो जाता है। वेदान्त मन को व्यापक नहीं मानता; क्योंकि जो वस्तु उत्पन्न होने वाली है वह परि-च्छिन्न होती है, व्यापक नहीं। मन उसी आत्मा से उत्पन्न बताया गया है। श्रुति कह रही है :—

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥

(मुंडक० २।१।३)

अर्थात् इस अक्षर पुरुष से ही प्राण उत्पन्न होता है, इसी से मन, सम्पूर्ण इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल और सारे संसार को धारण करने वाली पृथिवी होती है। अतः मन व्यापक नहीं ठहरता।

फिर नैयायिक जो कहते हैं कि मन जाता है, सो उसमें भी मन नहीं जाता। मन तो लिंग शरीर का एक अवयव है। वह अकेला जा नहीं सकता। लिंग शरीर में पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच प्राण एवं मन और बुद्धि, यह सत्रह पदार्थ माने गए हैं। इसलिए वेदान्त का कथन है कि लिंग शरीर ही आता-जाता है, आत्मा या मन नहीं। महाभारत में लिखा है कि जब सत्य-वान को मारने यमराज आये तो उसके शरीर से उन्होंने जब-र्दस्ती अंगुष्ठमात्र पुरुष निकाला और उसे पाश से जकड़कर ले गये। यह चूँकि स्थूल शरीर में अभिमान कर लेता है, इसलिए उसे छोड़ते हुए डरता है, उसे छोड़ना नहीं चाहता। वहाँ से इसे निकाला जाता है तो यह शरीर के मर्म स्थलों में, जो महल में गुप्त स्थानों के समान ही हैं, छिपता है। पर यमराज इसे वहाँ से भी निकालते हैं। तब यह मरघट तक भी निर्जीव स्थूल शरीर के पीछे-पीछे जाता है और जब वह भी नहीं रहता तो किसी हड्डी आदि में ही ममता कर लेता है। जब अस्थियाँ भी गंगा-यमुना आदि में प्रवाहित कर दी जाती हैं तब यह भटकता है और विवश होकर यम के पाश में इसे बँधना पड़ता है। तब यमराज इसे कर्मा-नुसार स्वर्ग-नरक आदि लोकों में भेज देते हैं। तो सत्यवान् की इस कथा से लिंग शरीर के ही जाने का प्रमाण मिलता है। स्वर्ग में जाता है तो प्राण क्षीण होने पर इसे पर्जन्य, ओषधि, पुरुष और स्त्री अग्नियों में से होकर फिर मर्त्यलोक में आना पड़ता है। श्रुति ने यह भी कहा है कि "यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्।" जो भूमा है वही अमृत है, जो अल्प है वही मर्त्य है। मन, इन्द्रियाँ व्यापक ( भूमा ) नहीं, इसलिए वह स्वर्ग में या नरक में नहीं जाती। लिंग देह ही आता-जाता है। श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध के २२वें अध्याय में भी भगवान् ने उद्धव जी को बताया है—"प्रिय उद्धव! मनुष्यों का मन कर्म-संस्कारों

का पुंज है। उन संस्कारों के अनुसार भोग प्राप्त करने के लिए उसके साथ पाँच इन्द्रियाँ भी लगी हुई हैं। इसी का नाम लिंग शरीर है। वही कर्मों के अनुसार एक शरीर से दूसरे शरीर में, एक लोक से दूसरे लोक में आता-जाता रहता है। आत्मा इस लिंग शरीर से सर्वथा पृथक् है। इसमें आना-जाना नहीं होता। परन्तु जब वह अपने को ही लिंग शरीर समझ बैठता है, तब उसमें अहंकार हो जाने से उसे अपना आना-जाना भी प्रतीत होने लगता है।" तो इससे भी यही सिद्ध होता है कि लिंग देह का ही आना-जाना होता है, आत्मा का नहीं। सुबन्धु के दृष्टान्त में भी मन से लिंग देह ही उपलक्षित है। मन चूँकि लिंग देह में एक प्रधान अंग या अवयव है, इसलिए मन का नाम वहाँ ले दिया गया। जब तक लिंग देह में अहंकार है, तब तक यह अविद्या से ग्रसित हुआ जीवात्मा शरीर धारण करता रहता है। ममता-अहंता हटने पर ही इसे अपने स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है। स्वरूप से यह जीवात्मा व्यापक है, लिंग शरीर में इसका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, इसलिए अपने को छोटा, सीमित या जन्म और मरण से बँधा हुआ मान बैठा है। दर्पण में हमारा मुख दिखता है और यदि दर्पण टूट जाता है तो प्रतिबिम्ब भी बिम्बरूप हो जाता है, इसी प्रकार अज्ञानवश लिंग देह में अहंता है और इस अहंता के हटते ही जीवात्मा अपने को लिंग देह से पृथक् देखेगा, जैसा कि ऊपर श्रीमद्भागवत के प्रसंग में भगवान् ने कहा है। और ऐसा ज्ञान होते ही यह अपने स्वरूप को प्राप्त हो जायगा, इसका पुनर्जन्म नहीं होगा। अपने स्वरूप का ज्ञान होने से इसके कर्म नष्ट हो जाते हैं, इसीलिए मुक्त हो जाता है। श्रुति कहती है :—

> भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
> क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ (मुण्डक० २।२।८)

अर्थात् उस कार्य-कारण रूप ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने पर इस जीव की हृदयग्रन्थि छूट जाती है। इसके सारे संशय नष्ट हो जाते हैं और कर्म क्षीण हो जाते हैं। कुछ लोग ऐसा भी मान बैठे हैं कि पुण्य कर्मों के फलरूप स्वर्ग अथवा पाप कर्मों के फलरूप नरक भोग लेने के बाद कर्म समाप्त हो जाते हैं, अतः यह जीव मुक्त हो जाता है। इसका पुनर्जन्म तब नहीं होता। पर यह ग़लत है। श्रुति कहती है :—

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥

(मुण्डक० १।२।१०)

अर्थात् इष्ट यानी यागादि श्रौत कर्म और पूर्त, वापी, तड़ाग, कूप आदि बनवाना—ये स्मार्त कर्म ही श्रेष्ठ हैं; ऐसा मानकर जो इन कर्मों को करते हैं, वे स्वर्ग लोक में अपने शुभ कर्मों का फल भोगकर इसी मनुष्य लोक में अथवा इससे निकृष्टतर योनियों में लौट आते हैं। स्वर्ग अथवा नरक में भोग-भोगने के बाद फिर इस जीव को अन्य शरीर धारण करने पड़ते हैं। इसे समझने के लिए हमें यह जानना होगा कि कर्मानुसार ही शरीर, स्वर्ग, नरक या और ऊँचे लोक प्राप्त होते हैं। कर्म तीन प्रकार के माने हैं—संचित कर्म, प्रारब्ध और आगामी कर्म। जो कर्म जन्म-जन्मान्तरों में हमसे हुए हैं, उन सबका फल हमें एक साथ नहीं मिलता। वे जमा होते रहते हैं। उन्हें ही संचित कर्म जानना चाहिए। उनमें से जो फल देने के लिए तैयार हो गए, वे प्रारब्ध हैं और उन्हीं के अनुसार इस जीव को शरीर मिला करते हैं। और मनुष्य शरीर में आकर जो कर्म करता है, जिनका फल आगे मिलने वाला है, वे हैं आगामी कर्म। जिस प्रकार कोई बीज भूमि में डाला जाता है तो उसमें तत्काल अंकुर नहीं फूटता। किसी बीज में कभी अंकुर होता है और किसी बीज में कभी अंकुर होता है। भिन्न-भिन्न

बीज, भिन्न-भिन्न समय में फल देते हैं। इसी प्रकार कर्मों का हिसाब है। चाहे करोड़ों कल्प बीत जायें, पर कर्म फल दिए बिना नष्ट नहीं होते। पर विधि का एक नियम है, फल देने में सुई—कटाह न्याय का पालन किया जाता है। जैसे लुहार को यदि सुई और कड़ाहा बनाना होता है, तो वह पहले सुई बनाता है, पीछे कड़ाहा; इसी प्रकार शुभ कर्म थोड़े हैं तो भगवान् पहले उनका फल दे देंगे, बाद में पाप कर्मों का फल मिलेगा; और यदि पाप कर्म थोड़े हैं, पुण्य अधिक; तो पहले थोड़े पापों का ही फल दे देगा। यमराज के यहाँ सब जीवों के कर्मों का हिसाब रहता है। वह कर्मों के अनुसार ही किसी को स्वर्ग में, किसी को नरक में, किसी को मनुष्य शरीर में धनी-निर्धन कुल में या शुभ आचार-विचार वालों के कुल में, या भिखारियों में या पशु आदि योनियों में भेज देते हैं। इसीलिए मनुष्य के शरीर को कर्म-योनि या खेत के समान कहा है। इस शरीर में ही जीव भविष्य में सुख-दुःख, उत्तम या अधम योनि पाने के लिए कर्म कर सकता है; शेष योनियाँ तो भोग योनियाँ हैं। जब जितने कर्म फल देने की योग्यता वाले हो जाते हैं, उन्हीं के अनुसार शरीर मिल जाता है। कुछ कर्म ऐसे होते हैं जिनका फल पशु शरीर से ही भोगा जा सकता है; कुछ कर्म ऐसे होते हैं जिनका फल स्थावर योनि में ही भोगा जा सकता है और कुछ कर्मों का भोग मनुष्य योनि में भी भोगा जा सकता है। इसी योग्यता को देखते हुए जीव को विभिन्न शरीर मिलते हैं। उन कर्मों का फल समाप्त होते ही, वह शरीर भी नहीं रहता। जिस प्रकार आम पकाने के लिए पाल में दबाये जाते हैं तो वे सब एक दिन ही नहीं दबाए जाते। ऋतु भर उन्हें दबाया और पकने पर निकाला जाता है। इसी प्रकार जब संचित कर्म पक जाते हैं, उनमें जब फल देने की योग्यता आ जाती है, तो वैसा ही शरीर भी मिल जाता है। प्रारब्ध कर्म क्षीण

होते रहते हैं और आगामी कर्म संचित कर्मों में जुड़ते रहते हैं। और इन कर्मों की समाप्ति, जैसा कि ऊपर कहा, ज्ञानाग्नि से होती है। भगवान् ने गीता में स्पष्ट कहा है :—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥ (४।३७)

जिसके कर्म ज्ञानाग्नि से समाप्त नहीं हुए हैं, उसे उनका फल भोगना ही पड़ेगा। कर्म का यह स्वभाव है कि वह बिना फल दिए कभी नष्ट होता नहीं। श्रीमद्भागवत् में माण्डव्य ऋषि की कथा आती है। वह एक नगर से बाहर कुटिया में एकान्तवास करते थे। वह बड़े तपस्वी, योगी और त्रिकालदर्शी ऋषि थे। एक बार ऐसा हुआ कि नगर में राजा के महल में चोरी हुई। चोर बहुत-सा धन उठाकर भागे। उनके पीछे-पीछे राजकर्मचारी भी दौड़े। चोरों ने समझा—"अब पकड़े जायेंगे, बचना कठिन है।" इसलिए उन्होंने माण्डव्य ऋषि की कुटिया में धन डाल दिया और माण्डव्य ऋषि को, जो उस समय समाधि में थे, एक हीरे का हार पहना दिया। और वे स्वयं जंगल में छुप गए। राजकर्मचारियों ने ऋषि माण्डव्य को पकड़ लिया। उनकी समाधि भंग करा दी। उन्हें बहुत से अपशब्द कहे और घसीट कर राजा के पास ले आए। राजा ने उनके पास धन मिला जानकर उन्हें अपराधी मान लिया और प्राचीन काल की प्रथा के अनुसार शूली पर लटकाने का दण्ड सुना दिया। शूली पर अपराधी को चढ़ाकर वे लोग तीसरे दिन उसके शव को उठवाते थे। अतः ऋषि माण्डव्य को शूली पर चढ़ाने के बाद वह लौट गए। तीसरे दिन आए तो देखा ऋषि, जिसे वह चोरों का सरदार पुकारने लगे थे, शूली पर यों ही बैठा है। केवल थोड़ी सी नोक ही उसके चुभी है। वास्तव में माण्डव्य मुनि ने वहीं समाधि लगाकर अपान वायु का वेग नीचे की ओर रोक दिया था, अतः उन्हें शूली चुभ

नहीं सकी। राजा के पास संदेश पहुँचा। राजा को तब अपनी भूल का पता चला। उसने सोचा—"सचमुच ही यह कोई महात्मा हैं। मुझसे बड़ी भूल हुई जो इन्हें पूरी जाँच के बिना ही शूली पर चढ़ाने की आज्ञा दे दी।" अतः उसने महात्मा को शूली पर से उतरवाया। पर वह शूल का अग्र भाग उनके शरीर से बाहर न निकला। इसीलिए बाद में उनका नाम "अणि माण्डव्य" हुआ। तो राजा ने उनसे क्षमा मांगी—"महाराज, आपको मैंने अज्ञानवश बहुत कष्ट दिया। मुझे क्षमा करें। जो आज्ञा करें, मैं पूरी करूँगा।"

माण्डव्य ऋषि ने शान्त भाव से कहा—"सुखस्य दुःखस्य न कोपि दाता। परो ददामि कुबुद्धि ऐषा।" राजन्! मैं कर्मों की गति समझता हूँ। कोई किसी को न तो सुख देता है, न दुःख देता है। सुख-दुःख कर्मों से ही होते हैं। अहंकारवश जब कोई कर्म करता है, कर्ता होने का अभिमान करता है, तभी उसे दुःख होता है। जिन कर्मों में अहंभाव होता है उन्हीं से सुख-दुःख होते हैं। आप सर्वथा निर्दोष हैं। कर्म, जिसका फल हमें मिलता है, अदृश्य होता है। निमित्त दृश्य होता है। भूल से अज्ञानी मनुष्य निमित्त में वैर भाव कर लेता है। हमारा तो आप पर कोई कोप नहीं है।" इस प्रकार माण्डव्य ऋषि वहाँ से लौट आए। पर उनके मन में इस बात की जिज्ञासा उत्पन्न हो गई कि आखिर यह शूली पर चढ़ने की सजा मिली तो क्यों मिली? ऐसा कौनसा कर्म था मेरा जिसका यह फल देखने को मिला। उन्होंने सोचा—"इस जन्म में तो ऐसा कोई कर्म नहीं बन पड़ा है। तब? उन्होंने योगबल से पिछले दस जन्मों तक दृष्टिपात किया। कहीं कोई ऐसा कर्म नहीं दिखाई दिया उन्हें। तब वह क्रुद्ध हो यमराज के यहाँ पहुँचे। उन्होंने यमराज से पूछा—"भगवान्! ऐसा कौनसा कर्म था मेरा, जो शूली पर चढ़ाया गया?" तब यमराज की आज्ञा

से चित्रगुप्त ने माण्डव्य के पिछले जन्मों को और उनके कर्मों को देखना आरम्भ किया। और अन्त में बतलाया—"सौ जन्म पहले आपने बाल्यावस्था में कीकर के काँटे से मार्ग में जाने-आने वाली टिड्डियों का वेधन किया था! आपने इतनी टिड्डियों को कीकर के काँटे पर लटकाया कि आपको तो सौ बार शूली का कष्ट सहना होता; लेकिन आपने चूँकि बहुत काल तक शुभ-कर्म और तपस्या की, इसलिए वह पाप क्षीण हो गया। अब केवल इतना ही कष्ट आपको भोगना था।" यह सुन माण्डव्य ऋषि कुछ समय तक मौन हो गए। फिर बोले—"यमराज! बाल्यावस्था में पाप-पुण्य का विवेक नहीं होता, अतः आपको ऐसे अनजान में किये गए पापों का दण्ड नहीं देना चाहिए।" तब से यमराज ने ५ वर्ष तक के बालकों के पाप-पुण्य का फल उनके माता-पिता अथवा संरक्षकों को देना आरम्भ कर दिया। (कहीं-कहीं १२ वर्ष तक के बालकों का उल्लेख भी मिलता है। फिर भी माण्डव्य ने यमराज को मनुष्य-लोक में जाने का श्राप दिया और वह विदुर बनकर पृथ्वी पर आए।) इस प्रकार विदित-अविदित पाप कर्मों का भी फल भोगना पड़ता है। कर्म फल अवश्य देते हैं। जब तक कर्त्तव्य अभिमान है, तब तक कर्मफल भी है। ज्ञानी अपने को कर्ता-भोक्ता नहीं मानता इसलिए प्रारब्धवश मिलने वाले शरीर से वह जो पाप-पुण्य कर बैठता है उनका फल क्रमशः उससे द्वेष रखने वालों और उसके प्रशंसकों या सेवकों को मिल जाता है। ज्ञान में तो सारे कर्मों की समाप्ति हो जाती है—

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥

इसलिए मुमुक्षु को कर्मों से मिलने वाले नरक-स्वर्ग; शुभ-अशुभ शरीर नहीं चाहिएँ, उसे आत्म-दर्शन के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। जिसने आत्म-दर्शन किया उसका पुनर्जन्म नहीं होगा। वह सब पापों से तर जाता है। श्रुति कह रही है:—

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति।
तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति।
(मुण्डक० ३।२।६)

अर्थात् "जो कोई उस परब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्मही हो जाता है। उसके कुल में कोई अब्रह्मवित् नहीं होता। वह शोक को तर जाता है, पाप को पार कर लेता है और हृदयग्रंथियों से विमुक्त होकर अमरत्व प्राप्त कर लेता है।"

---

## समदर्शन का महत्व

ब्रह्म का सर्वव्यापकत्व बताते हुए श्रुति कह रही है—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म
पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं
विश्वमिदं वरिष्ठम्॥ (मुण्डक० २।२।११)

अर्थात् यह जो अविद्यामयी दृष्टिवालों को सामने दिखाई दे रहा है, वह सबको प्रकाशित करने वाला, स्वयं प्रकाश ब्रह्म ही है। इसी प्रकार पीछे भी ब्रह्म है, दाँयीं और बाँयीं ओर भी ब्रह्म है तथा नीचे-ऊपर सभी ओर कार्यरूप से नामरूपविशिष्ट होकर फैला हुआ वह ब्रह्म ही अन्य पदार्थों के समान भास रहा है। अधिक क्या ? यह विश्व अर्थात् सारा जगत् श्रेष्ठतम ब्रह्म ही है। यह सम्पूर्ण अब्रह्मरूपप्र तीति रज्जु में सर्प प्रतीति के समान अविद्या-मात्र ही है। एकमात्र ब्रह्म ही परमार्थ सत्य है। भगवान् कृष्ण ने श्रीमद्भागवत में उद्धवजी को बताया है कि "यह सबको

जीवित करने वाला परमेश्वर ही इस त्रिगुणमय ब्रह्माण्ड-कमल का कारण है। यह आदि-पुरुष पहले एक और अव्यक्त था। जैसे उपजाऊ खेत में बोया हुआ बीज शाखा, पत्र-पुष्प आदि अनेक रूप धारण कर लेता है, वैसे ही कालगति से माया का आश्रय लेकर शक्ति विभाजन के द्वारा परमेश्वर ही अनेक रूपों में प्रतीत होने लगता है। जैसे तागों के ताने-बाने में वस्त्र ओतप्रोत रहता है, वैसे ही यह सारा विश्व परमात्मा में ही ओतप्रोत है। जैसे सूत के बिना वस्त्र का अस्तित्व नहीं, और सूत वस्त्र के बिना भी रह सकता है, वैसे ही इस जगत् के न रहने पर भी परमात्मा रहता है; किन्तु यह जगत् परमात्मास्वरूप ही है—परमात्मा के बिना इसका कोई अस्तित्व नहीं। × × × वास्तव में मैं एक ही हूँ। यह मेरा जो अनेकों प्रकार का रूप है, वह तो केवल मायामय है। जो इस बात को गुरुओं द्वारा समझ लेता है, वही वास्तव में वेदों के रहस्य को जानता है।" भगवान् के इस अमृतमय कथन से स्पष्ट हो रहा है कि ऊपर-नीचे, बाँयें-दाँयें, आगे-पीछे सर्वत्र वही व्यापक है। उसे भिन्न कुछ भी नहीं। इसलिए ही श्रुति कह रही है—"आत्मैवेदं सर्वम्" अथवा "ब्रह्मैवेद ँ सर्वम्" आत्मा ही यह सब है अथवा ब्रह्म ही यह सब है। छान्दोग्योपनिषद् में कहा—

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत !" (३।१४।१)
अर्थात् 'यह समस्त जगत् निश्चय ही ब्रह्म है, इसकी उत्पत्ति, विनाश और स्थिति उस ब्रह्म से ही है। इस प्रकार जानकर शान्त चित्त हुआ उपासना करे।' तो श्रुति ने ब्रह्म से भिन्न कुछ भी नहीं बताया। जड़-चेतन, स्थावर-जङ्गम सम्पूर्ण जगत् वही ब्रह्म है। इसमें श्रुति का तात्पर्य क्या है ? वह ब्रह्म जब ऊपर-नीचे, बाँयें-दाँयें सर्वत्र है, तो वह परिपूर्ण है। व्यापकता परिच्छिन्न वस्तु में नहीं हो सकती। उससे भिन्न कुछ भी नहीं। यहाँ श्रुति अद्वैत में

हमारी निष्ठा को दृढ़ करना चाहती है। इसलिए उससे पृथक् कुछ भी बताया नहीं। गीता में तो भगवान् ने यहाँ तक कह दिया कि "यह सम्पूर्ण जगत् मेरे एक अंश के आधार ही स्थित है, अधिक जानने में तेरा क्या प्रयोजन ?"

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ (१०।४२)

तो इस प्रकार ब्रह्म सर्वत्र है, फिर भी अनादिकाल से यह जीव माया के वश में हुआ जन्म-मरण को प्राप्त होता रहता है और उसकी अद्वैत में पूरी-पूरी निष्ठा हो नहीं पाती। आजकल की तो बात जाने दें, प्राचीन काल में भी श्रोत्रिय विरक्त ऋषियों के पास हज़ार-हज़ार वर्ष तक आत्मविद्या सीखने पर भी अद्वैत में निष्ठा कठिनता से ही होती थी। ऐसा निदाघ की कथा से पता चलता है। सौवीर-नरेश को जड़भरत ने आत्मविद्या का उपदेश करते हुए बताया था कि—"जैसे बाँसुरी में एक ही वायु अभेद-भाव से व्याप्त है, किन्तु उसके छिद्रों के भेद से उसमें षड्ज, ऋषभ, आदि स्वरों का भेद हो जाता है, उसी प्रकार उस एक ही परमात्मा के देव, मनुष्य, आदि अनेक भेद प्रतीत होते हैं। उस भेद की स्थिति तो अविद्या के आवरण तक ही सीमित है। इस विषय में एक प्राचीन इतिहास सुनो। निदाघ नाम के एक ब्राह्मण थे। यह पुलस्त्य मुनि के पुत्र थे। परमेष्ठी ब्रह्माजी के एक पुत्र ऋभु नाम के हुए थे। उन्होंने निदाघ को सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान का उपदेश किया था। समस्त ज्ञान-प्रधान शास्त्रों का उपदेश प्राप्त कर लेने पर भी निदाघ की अद्वैत में निष्ठा नहीं हुई। ऋभु ने निदाघ की इस स्थिति को समझ लिया। निदाघ महर्षि पुलस्त्य द्वारा देविका नदी के तट पर बसाये गए अत्यन्त सुन्दर नगर वीरनागर में निवास करते थे। वहाँ रहते हुए उन्हें जब एक हज़ार दिव्य वर्ष हो गए, तब तत्त्व-वेत्ता ऋभु अपने शिष्य निदाघ को देखने एक दिन वहाँ पहुँचे।

निदाघ बलिवैश्वदेव के अन्त में द्वार पर बैठे अतिथियों की प्रतीक्षा कर रहे थे। सामने से तपोमूर्ति ऋभु को आते देख उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और वह उन्हें पाद्य एवं अर्घ्य देकर अपने घर में ले आए, हाथ-पैर धुलाये और उन्हें सत्कारपूर्वक आसन पर बैठा दिया। इसके बाद निदाघ ने विनम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर कहा—"विप्रवर! भोजन ग्रहण कीजिए।"

ऋभु बोले—"द्विजश्रेष्ठ! आपके घर में भोजन योग्य जो-जो अन्न हो, उसका नाम बताइये!"

निदाघ बोला—"मेरे घर में जौ की लपसी, सत्त, और बाटी बनी है। आपकी जो रुचि हो, वही ग्रहण कीजिए।"

"ब्रह्मन्! इन सब में मेरी रुचि नहीं। मुझे तो मिष्टान्न दो। हलुआ, खीर अथवा खाँड के बने अन्य व्यञ्जन लाओ!"

निदाघ ने सुनकर प्रसन्नता प्रकट की और अंतःपुर में जाकर अपनी धर्मपत्नी से कहने लगा—"शुभे! हमारे घर में जो श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ सामग्री हो, उससे इन अतिथिदेव के लिए मिष्टान्न तैयार करो!"

निदाघ की पत्नी ने आदरपूर्वक मीठे पकवान तैयार कर दिए। ऋभु ने अपनी क्षुधा-निवृत्ति की। तत्पश्चात् निदाघने विनम्रतापूर्वक प्रश्न किया—"कहिये ब्रह्मन्! आपकी भली भाँति तृप्ति हुई! आप संतुष्ट हुए? अब आपका चित्त पूर्णतः स्वस्थ है ना? विप्रवर! आप कहाँ के रहने वाले हैं? कहाँ जाने को उद्यत हैं और कहाँ से आपका आगमन हुआ है। मुझे यह सब बताइए!" इतना सुन ऋभु ने सरल भाव से कहना आरम्भ किया—"द्विज-श्रेष्ठ! जिसे भूख लगती है, भोजन करने पर तृप्ति भी उसे ही होती है। मुझे तो न कभी भूख लगी, न तृप्ति हुई! मुझसे फिर आप क्यों पूछते हैं? द्विज! यह भूख-प्यास देह के ही धर्म हैं, मेरे नहीं। मुझे कभी भूख लगने की संभावना ही नहीं, इसलिए

मैं तो सदैव तृप्त रहता हूँ। और विप्रवर तुमने जो पूछा—आप संतुष्ट हुए ना ? तो मन की स्वस्थता एवं संतोष यह चित्त के धर्म या विकार हैं, आत्मा इन धर्मों से संयुक्त नहीं होता। और निवास की बात, सो आत्मा सब में व्याप्त है। यह आकाश की भाँति सर्वव्यापक है, अतः इसके विषय में कहाँ से आए, कहाँ जाओगे, कहाँ रहते हो—यह प्रश्न निरर्थक हैं। इसलिए मैं न जाने वाला हूँ, न आने वाला हूँ। तू-मैं और अन्य का भेद भी शरीर को लेकर ही है। वास्तव में न तू-तू है, न अन्य-अन्य है और न मैं-मैं हूँ। यह आत्मा ही सर्वत्र विराजमान है। इसी प्रकार मीठा भी मीठा नहीं है। मैंने जो तुम से मिष्टान्न के विषय में पूछा था, उसमें भी मेरा यही भाव था कि देखूँ यह क्या कहते हैं। द्विज श्रेष्ठ! इस सम्बन्ध में मेरा मत यह है कि तृप्त होने के बाद मीठा अन्न मीठा नहीं लगता और अधिक भूख होने पर फीका अन्न भी अमृत के समान लगता है। ऐसा कौनसा अन्न है जो आदि, मध्य और अन्त, तीनों काल में रुचिकर हो ? जैसे मिट्टी का घर मिट्टी से लिपने पर स्थिर होता है, उसी प्रकार यह पार्थिव शरीर पार्थिव परमाणुओं से पुष्ट होता है। जौ, गेहूँ, घी, तेल, मूँग, दही गुड़, फल आदि सभी भोज्य पदार्थ पार्थिव परमाणु ही तो हैं। अतः ऐसा समझ-कर मन को तुम्हें समदर्शी बनाना चाहिए। समता ही मोक्ष का उपाय है।" इतना उपदेश सुनकर निदाघ की आँखें खुलीं। पूछा उसने—"मेरा हितसाधन करने के लिए आप यहाँ पधारे हैं। आप कौन हैं ब्रह्मन्! कृपया प्रसन्नतापूर्वक बताइए!"

ऋभु ने कहा—"द्विज श्रेष्ठ। मैं तुम्हारा आचार्य ऋभु हूँ। तुम्हें तत्त्व को समझने वाली बुद्धि देने के लिए ही मैं यहाँ आया था। अब मैं जाता हूँ। तुम इस सम्पूर्ण जगत को परमात्मा का स्वरूप समझकर ही परमार्थ तत्त्व का विचार करते रहना। इसमें भेद का सर्वथा अभाव है।" इस प्रकार उपदेश कर ऋभु

वहा से चले गए। लेकिन एक हजार दिव्य वर्ष व्यतीत होने के बात महर्षि ऋभु पुनः निदाघ को ज्ञानोपदेश करने वहाँ आए। उन्होंने नगर से बाहर ही निदाघ को देखा। वहाँ का राजा बहुत बड़ी सेना आदि के साथ बड़ी धूमधाम से नगर में प्रवेश कर रहा था। निदाघ मनुष्यों की भीड़भाड़ से दूर हटकर एक गली के मोड़ पर खड़े थे। वह जंगल से समिधा और कुशा लेकर आए थे और भूख-प्यास से उनका गला सूख रहा था। निदाघ को देखकर ऋभु उनके समीप गए और अभिवादन के पश्चात् बोले—"बाबा-जी ! आप यहाँ एकान्त में कैसे खड़े हैं ?"

निदाघ ने गुरु श्रेष्ठ ऋभु को पहचाना नहीं। बोला—"आज राजा इस रमणीय नगर में प्रवेश कर रहे हैं। अतः यहाँ मनुष्यों की भीड़ जमा है। इसीलिए मैं यहाँ खड़ा हूँ।"

ऋभु ने कहा—"ब्रह्मन् ! आप यहाँ की बातों के जानकार मालूम होते हैं। बताइए, राजा कौन है ? और दूसरे लोग कौन हैं ?"

निदाघ ने कहा—"यह जो पर्वत-शिखर के समान ऊँचे और मतवाले गजराज पर चढ़ा हुआ है वही राजा है, और दूसरे लोग उसके परिजन हैं।"

ऋभु ने तब और टेढ़ा प्रश्न किया। पूछा—"महाभाग ! मैंने हाथी तथा राजा दोनों को एक ही साथ देखा है। आपने विशेष रूप से इनका पृथक् पृथक् चिह्न नहीं बताया। अतः इनकी विशिष्टता बताइए। इनमें कौन राजा है और कौन हाथी है ?"

निदाघ ने उत्तर दिया—"ब्रह्मन् ! यह जो नीचे है, वह हस्ति है और इसके ऊपर यह राजन् बैठे हैं। इनमें एक वाहन है, दूसरा सवार है। भला, वाह्य-वाहक-सम्बन्ध को कौन नहीं जानता ?"

ऋभु ने पुनः शंका की—"ब्रह्मन् ! जिस प्रकार मैं अच्छी तरह समझ सकूँ, उस प्रकार मुझे समझाएँ। "ऊपर" किसे कहते

हैं और "नीचे" शब्द से आपका क्या प्रयोजन है ?"

ऋभु के ऐसे प्रश्नों से निदाघ खीझ गया। सहसा उनके ऊपर चढ़ गया और बोला—"सुनिए! आप जो कुछ मुझसे पूछ रहे हैं, वह अब समझाकर कहता हूँ। इस समय मैं राजा की भाँति ऊपर हूँ और श्रीमान् गजराज की भाँति नीचे। आपको भली प्रकार समझाने के लिए ही मैंने यह दृष्टान्त दिखाया है।"

ऋभु ने फिर भी प्रश्न किया—"महाभाग! आप राजा के समान हैं और मैं हाथी के समान हूँ, तो यह बताइए कि आप कौन हैं और मैं कौन हूँ ?"

ऋभु के मुख से इस प्रकार का प्रश्न सुनकर निदाघ चौंका और ऋभु के चरणों में लेटकर बोला—"भगवान्! आप निश्चय ही मेरे आचार्यपाद महर्षि ऋभु हैं; क्योंकि दूसरे का हृदय इस प्रकार अद्वैत-संस्कार से सम्पन्न नहीं। अतः मेरा विश्वास है, आप मेरे गुरुदेव ही यहाँ पधारे हैं।"

महर्षि ऋभु गद्गद हो आए। बोले—"पहले तुमने मेरी बहुत सेवा-सुश्रूषा की है, इसलिए अत्यन्त स्नेहवश मैं तुम्हें उपदेश देने आया हूँ। महामते! समस्त पदार्थों में अद्वैत आत्म-बुद्धि होना ही परमार्थ का सार है। मैंने तुम्हें संक्षेप से उसका उपदेश कर दिया।" इस प्रकार महर्षि निदाघ ने अद्वैतपरायण होकर मोक्ष प्राप्त कर लिया।

इसी प्रकार हरेक मुमुक्षु को, आत्मा को सबमें व्याप्त जानते हुए अपने में तथा शत्रु और मित्र में समान भाव रखना चाहिए। समता ही मोक्ष की सीढ़ी है। भगवान् का यह वचन हमें नहीं भूलना चाहिए—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ (१३।२७-२८)

इसी प्रकार जिसने सर्वत्र उस परब्रह्म परमेश्वर का दर्शन किया है, वही परमगति को प्राप्त होता है; अन्य नहीं। इसलिए श्रुति ने भी कहा—तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः। अर्थात् एकमात्र परमेश्वर का निरन्तर साक्षात् करने वाले पुरुष के लिए कौनसा मोह रह जाता है? कौन-सा शोक? वह तो शोक-मोह से सर्वथा रहित आनन्दपरिपूर्ण हो जाता है। उसके लिए प्रभु और प्रभु की लीला के अतिरिक्त अन्य कुछ रह ही नहीं जाता। भगवान् ने कहा है—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥

और ऐसी स्थिति तभी आयेगी, जब कि अद्वैत में निष्ठा दृढ़ होगी। और जब तक "अपने आत्मा का साक्षात्कार तथा स्थूल-सूक्ष्म शरीर और उनके कारण तीनों गुणों की निवृत्ति न हो तब तक मनुष्य को चाहिए कि सत्वगुण की वृद्धि के लिए सात्विक शास्त्र आदि का ही सेवन करे, क्योंकि उससे धर्म की वृद्धि होती है और धर्म की वृद्धि से अन्तःकरण शुद्ध होकर आत्मतत्व का ज्ञान होता है।"

---

# इन्द्रियों की उपयोगिता

मनुष्य-शरीर के रहते-रहते हमें अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, ऐसा शास्त्र हमें बता रहा है। ज्ञान-सम्पादन से पहले यह आवश्यक है कि मनुष्य का अन्तःकरण मल, विक्षेप से सर्वथा रहित, शून्य हो जाय। मल अर्थात् अन्तःकरण की मलिनता और विक्षेप, मन की चंचलता। इन्हें दूर करने के दो ही उपाय हैं, जो पहले भी बताए जा चुके हैं, अर्थात् कर्म और उपासना। निष्काम भाव से किये गए कर्मों से मन की मलिनता दूर होगी, वह निर्मल हो जायगा और तब उसमें भक्ति का राज्य विस्तार पायगा। परन्तु जब साधक इस मार्ग की ओर अग्रसर होता है, तब उसे बाहर और भीतर से नाना प्रकार के विघ्न घेर लेते हैं। बाहर से आने वाले विघ्नों को तो सच्चा मुमुक्षु किसी प्रकार परास्त कर देता है, परन्तु भीतर के विघ्नों को पराजित करना अत्यन्त कठिन होता है। इसका प्रमुख कारण है, इन्द्रियों का बहिर्मुख स्वभाव। यह हम बता आए हैं कि इन्द्रियाँ बहिर्मुख स्वभाव वाली ही बनाई गई हैं और उन्हें भक्ति, साधना का मार्ग जिसमें संयम-नियम अधिक हैं, नहीं सुहाता। तुलसीदासजी ने मानस में लिखा है कि—

इन्द्री द्वार झरोखा नाना। तहँ-तहँ सुर बैठे करि थाना॥
आवत देखहिं विषय बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी॥
जब सो प्रभंजन उर गृहँ जाई। तबहिं दीप बिग्यान बुझाई॥

× × × × ×

इन्द्रिह्न सुरन्ह न ग्यान ज्ञान सोहाई। विषय भोग पर प्रीति सदाई॥

तो इस प्रकार इन्द्रियाँ हमें बलात् विषयों की ओर ले जाती हैं। और यह विषय फिर इन्द्रियों के ही सम्पूर्ण तेज को विनष्ट कर देते

हैं। इनका सामर्थ्य नष्ट हो जाने से, साधक इनका कोई सदुपयोग अपनी साधना में नहीं कर पाता। जब यमराज ने नचिकेता से कहा कि "तू ब्रह्मविद्या सीखकर क्या लेगा, मैं तुझे सारे संसार के भोग उपलब्ध करा देता हूँ," तो नचिकेता ने विवेकपूर्ण उत्तर दिया—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैत—
त्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥ (कठ० १।१।२६)

अर्थात् "हे यमराज! यह भोग अनित्य हैं, कल तक रहेंगे या नहीं, इसमें भी संदेह है। इसलिए यह सम्पूर्ण इन्द्रियों के तेज को जीर्ण कर देते हैं। यह सारा जीवन भी बहुत थोड़ा ही है। आपके वाहन और नाच-गाने आपके ही पास रहें, हमें उनकी आवश्यकता नहीं।" तो साधक को चाहिए कि वह इन इन्द्रियों को विषयों से रोके। किस प्रकार, सो मनु बताते हैं—

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम॥ (२।८८)

पण्डित, विवेकशील मुमुक्षु को चाहिए कि मन को हरनेवाली विषय-सामग्री में विचरने वाली इन इन्द्रियों को रोकने में ऐसा यत्न करे कि जैसा घोड़ों को रोकने में सारथी करता है। लेकिन जो इन्द्रियों के इस शत्रु-रूप से ही अपरिचित है वह इन्हें कैसे रोके? एक बार राजा अजातशत्रु ने इस भूमण्डल के सारे राजाओं को परास्त कर दिया और अभिमान से फूला न समाया। जहाँ-तहाँ अपनी वीरता की पूजा कराने लगा। एक दिन जब वह धनुष-बाण लिए अकड़ के साथ अपने उद्यान में विचर रहा था, नारदजी उसके पास आए। बोले—"अजातशत्रु! बड़े प्रसन्न हो, क्या बात है?"

उसने कहा—"नारदजी! मैंने अपने पराक्रम से इस भूमण्डल

के सारे राजाओं को परास्त कर दिया है। अब बताइए, मैं किसे विजय करूँ।"

नारदजी उसका प्रश्न सुनकर हँसे, बोले—"तुमने अभी बाहर के शत्रुओं को ही पराजित किया है। शत्रु तो भीतर हैं तुम्हारे। उन्हें मारो।"

"भीतर कौनसे शत्रु हैं?" अजातशत्रु ने आश्चर्य से पूछा।

नारदजी बोले—"आँख, कान, नाक, जिह्वा, आदि इन्द्रियाँ सब शत्रुरूप हैं।"

"अच्छा! मैं इन्हें मारूँगा।" सगर्व अजातशत्रु ने कहा। और अगले दिन ही सारी सेना को एकत्र कर रण-भूमि में पहुँच गया। किसी शत्रु ने चढ़ाई न की थी, इसलिए राजा की आज्ञा पर सारी सेना चकित थी। मैदान में पहुँच उसने सेनापति को आज्ञा दी—"मेरी आँखों में तीर मारो।" इस विचित्र आज्ञा से सारी सेना में स्तब्धता छा गई। "राजा को आज क्या हो गया?" आश्चर्य में डूब गए सब। इतने में आँख बोली—"अंधे हो जाओगे!" इसी प्रकार कान ने कहा—"मूर्खता मत करो, बहरे हो जाओगे! तब राजा सोच में पड़ गया। बुद्धि ने समझाया, "इन्द्रियों को मारने का यह उपाय नहीं, किसी गुरु को खोज लो। वह उपाय बतायेगा!" तब अजातशत्रु ने गुरु से इन्द्रियों को जीतने का उपाय जाना। इन्द्रियों को जीता जायगा विचार से। मनु ने कहा है:—

न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया।
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः॥ (२।९६)

विषयों में लगी हुई इन्द्रियाँ ज्ञान से, विचार-विवेक से रोकी जा सकती हैं, विषयों को सेवन करने से नहीं। यही बात भगवान् ने भी समझाई है। वह कहते हैं, इन्द्रियों का दमन करने से यद्यपि विषयों को यह पुरुष ग्रहण नहीं करता, तथापि इसके राग नहीं

छूटते। आँखों से सुन्दर रूप नहीं देखता, घ्राण से सुन्दर, मादक सुगन्ध नहीं सूँघता, कान से मनमोहक संगीत नहीं सुनता, पर मन से उनका चिन्तन करता है, ऐसे काम नहीं बनता। आँख पर पट्टी बाँधने अथवा नाक-कान में रुई ठूँसने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, वास्तव में तो इनमें से राग हटाना चाहिए।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥२।५९॥

विषयों को ग्रहण न करने वाले पुरुष के विषय चाहे निवृत्त हो जायँ, पर राग से उसे निवृत्ति नहीं मिलती। और यदि राग छूट जायँ तो परब्रह्म की प्राप्ति सुलभ हो जाय—अथवा परमात्मा का दर्शन कर इसके राग भी निवृत्त हो जाते हैं। इसीलिए भगवान् ने कहा है कि जब तक विषयों से इन्द्रियों को समेट नहीं लेता, इसकी बुद्धि स्थिर नहीं होती। बुद्धि अस्थिर है, तो फिर भगवत्ध्यान नहीं हो सकता।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानवी सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ २।५८ ॥

जिसने कछुए की तरह अपने अंगों को समेट लिया है, अर्थात् विषयों से इन्द्रियों को हटा लिया है, उसकी ही बुद्धि स्थिर हो जाती है। और जिसने इस प्रकार इन्द्रियों को जीत लिया है, वह कृत-कृत्य हो जाता है, उसे फिर कर्म नहीं बाँधते।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ (५।७)

जिसने अपने शरीर और इन्द्रियों को स्वाधीन कर लिया है, अपने वश में कर लिया है; और जो विशुद्ध अन्तःकरण वाला एवं सम्पूर्ण प्राणियों में आत्मरूप से परमात्मा को ही देखने वाला है, वह निष्काम कर्मयोगी कर्म करते हुए भी उनसे लिपायमान नहीं होता। तो इस स्थिति में पहुँचने के लिए यह आवश्यक हो जाता

है कि इन्द्रियों का स्वभाव जानकर हम उन्हें सही मार्ग पर ले जाएं, वे जिधर चाहें हमें न ले जा सकें। और इसका सरल उपाय बताया है तुलसीदासजी ने। वह कहते हैं, हरेक इन्द्रिय को ईश्वर-भजन में, परमात्म-चिंतन में लगा दो। यही उनकी सच्ची उपयोगिता है। यदि उन्हें भगवान् के काम में नहीं लगाया तो उनका होना-न-होना बराबर ही है। इसी दृष्टि से वह कहते हैं:—

जिन्ह हरिकथा सुनी नहिं काना। श्रवन रंध्र अहिभवन समाना॥
नयनन्हि संत दरस नहीं देखा। लोचन मोरपंख कर लेखा॥
ते सिर कटु तुंबरि समतूला। जे न नमत हरि गुर पद मूला॥
जिन्ह हरि भगति हृदय नहिं आनी। जीवत सव समान तेइ प्रानी॥
जो नहिं करइ राम गुन गाना। जीह सो दादुर जीह समाना॥
कुलिस कठोर निठुर सोइ छाती। सुनि हरिचरित न जो हरषाती॥

जिन कानों से हरिकथा नहीं सुनी, वह ऐसे ही निष्फल है, जैसे सर्प का बिल। जिन नेत्रों से प्रभु और संत महात्माओं का दर्शन नहीं किया, वे नेत्र भी ऐसे ही व्यर्थ हैं जैसे मोर के पंख पर बने गोल चन्दे। तात्पर्य यह है कि जब मनुष्य हरिकथा सुनेगा, सत्संग करेगा और श्रद्धा-भक्ति सहित भगवान् के विग्रहों एवं संत-महात्माओं का दर्शन करेगा, तो उसके अन्तःकरण के मल, दोष दूर होंगे और वह शनैः-शनैः भगवत्परायण होगा। भगवत् परायण होने से उसके मार्ग में आने वाले नौ विघ्न आप ही हट जायँगे। नौ विघ्न कौन से, यह भी जान लेना चाहिए। 'पातञ्जल योगदर्शन' में बताया है:—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शना-
लब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्त विक्षेपास्तेऽन्तरायाः॥ (१।३०)

पहला विघ्न है 'व्याधि' अर्थात् शरीर, इन्द्रिय-समुदाय और चित्त में किसी प्रकार का रोग उत्पन्न हो जाना। दूसरा है

'स्त्यान' अर्थात् अकर्मण्यता, साधन में प्रवृत्त ही न होना। और फिर है संशय, साधन करने में फल-प्राप्ति के विषय में दुविधा होना। चौथा विघ्न है "प्रमाद"। सर्वसाधनसम्पन्न होते हुए भी केवल लापरवाही वश भगवत-मार्ग में न बढ़ना। और पाँचवाँ विघ्न है 'आलस्य' इसमें तमोगुण की वृद्धि होने से चित्त और शरीर में भारीपन अनुभव होने लगता है, फलतः साधनों में प्रवृत्ति नहीं होती। इसी प्रकार विषयों में आसक्ति हो जाने से चित्त में वैराग्य का अभाव हो जाता है और तब आती है 'अविरति'। यही छठा विघ्न है। सातवीं बाधा आती है, 'भ्रान्ति-दर्शन' से। इसमें साधक को साधन के विषय में विपरीत ज्ञान हो जाता है और वह पीछे लौट आता है। आठवें विघ्न को महर्षि पतञ्जलि ने 'अलब्धभूमिकत्व' कहा। साधन करते हुए भी जब साधन की स्थिति प्राप्त नहीं होती, फल प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता, तब वह निराश हो जाता है, उसका उत्साह कम हो जाता है। अंतिम विघ्न है, 'अनवस्थितत्व' अर्थात् योगसाधन से किसी भूमि में चित्त की स्थिति होने पर भी उसका न ठहरना। तो यह विघ्न साधक के मार्ग में आते हैं। इन विघ्नों को जो दूर नहीं कर पाता, वह विषयों में फँस जाता है। यह संसार-रूपी वृक्ष राग से ही फूलता-फलता है। यदि वृक्ष में पानी न दो, तो वह मुरझा जाता है। इसी प्रकार संसार में राग न रहे, तो साधक के लिए संसार मृतक समान ही है। इस प्रकार चित्त में राग-द्वेष आने पर मलिनता और परिणामस्वरूप अस्थिरता रहती है। इसे दूर करने का उपाय भी महर्षि पतञ्जलि ने बताया है।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदःखपुण्यापुण्य—
विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ ( १।३३ )

अर्थात् सुखी मनुष्यों में मित्रता की भावना करने से, दुःखी

मनुष्यों में दयाकी भावना करने से, पुण्यात्मा पुरुषों प्रसन्नता की भावना करने से, और पापियों में उपेक्षा की भावना करने से, चित्त के ेष, घृणा, ईर्ष्या, और क्रोध आदि मलों का नाश होकर चित्त शुद्ध-निर्मल हो जाता है। ऐसा उपाय काम में लाने से इन्द्रियाँ स्वतः संयमित हो जायेंगी। पर हमारी स्थिति ऐसी ही है, जैसी विप्रचित्ति के मोह में फँसे हुए दक्ष प्रजापति के श्वसुर की हुई थी। वह अपनी ही पूजा कराने के लिए अत्यन्त कठोर तप कर रहे थे। हजारों वर्ष व्यतीत हो गए। अब देवताओं को चिंता हुई। उन्होंने विप्रचित्ति नामक अप्सरा को उनके पास भेजा और वह उनका तप भंग कर उन्हें भोग-विलास की ओर उन्मुख बनाने में सफल हो गई। एक दिन सूर्यास्त के समय वह तपस्वी राजा अपना लोटा और आसन लेकर बाहर जाने को उद्यत हुआ। विप्रचित्ति ने उसे रोका—"कहाँ चले प्रियतम?"

"संध्या करने।" वह बोला।

विप्रचित्ति ने मुस्कराकर कहा—"६६६ वर्ष ११ माह और २७ दिन मुझे आये हो गए? अब तक आपने संध्या नहीं की? आज फिर क्यों इतनी शीघ्रता है।"

परन्तु, वह फिर भी बाहर आया। देखा तो सब कुछ परिवर्तित है। नदी ने भी अपना प्रवाह बदल दिया है। दिक्-भ्रम नहीं हुआ उसे, वरन् सब कुछ बदल ही गया है, समय बहुत व्यतीत हो गया—ऐसा जब उसे निश्चय हुआ तो वह उस अप्सरा पर बहुत कुपित हुआ। पर क्या हो सकता था—'समय चुके पुनि का पछिताने'! उसने पुनः तप किया और फिर परमपद को प्राप्त किया। तो इस प्रकार इन्द्रियों के वश होने से मनुष्य अपने पथ से विचलित हो जाता है। उसे भगवत्-प्राप्ति नहीं होती। भर्तृहरि ने सावधान किया है—

एतस्माद्विरमेन्द्रियार्थगहनादायासकादाश्रय—
श्रेयोमार्गमशेषदुःखशमनव्यापारदक्षं क्षणात् ॥
शान्तं भावमुपैहि संत्यज निजां कल्लोललोलां गतिं ।
मा भूयो भज भङ्गुरां भवरतिं चेतः प्रसीदाधुना ॥

अर्थात् हे चित्त ! अब तो प्रसन्न हो ! इन्द्रियों के विषयरूपी वन से विश्राम ले, कल्याण-मार्ग का आश्रय ले जो क्षणमात्र में सम्पूर्ण दुःखों का विध्वंस करने में समर्थ है। शान्त भाव को अंगीकार कर और तरंग के समान अपनी चंचलगति को त्याग और कभी क्षणभंगुर सांसारिक सुख की इच्छा मत कर।

जो मुमुक्षु इन्द्रियों को और इस देह को प्रतीतिमात्र निश्चय नहीं करता, उसका द्वैतभाव नहीं मिटता और वह आत्मसाक्षात्कार भी नहीं कर पाता। शास्त्र बताता है कि "जब तक मनुष्य-शरीर रूपी रथ अपने वश में है और इसके इन्द्रिय-मन आदि सभी साधन अच्छी दशा में विद्यमान हैं, तभी तक श्रीगुरुचरणों की सेवा-पूजा से सान धरायी हुई ज्ञान की तीखी तलवार लेकर भगवान् के आश्रय से राग, द्वेष, लोभ, क्रोध, भय, मद, अपमान, प्रमाद, तृष्णा आदि शत्रुओं को विनष्ट कर अपने स्वराज्य-सिंहासन पर विराजमान हो जाय और फिर अत्यन्त शान्त भाव से हम शरीर का भी परित्याग कर दें। अन्यथा, तनिक भी प्रमाद हो जाने से ये इन्द्रियरूप दुष्ट घोड़े और उनसे मित्रता रखने वाला बुद्धिरूप सारथि रथ के स्वामी जीव को उलटे मार्ग पर ले जाकर विषयरूपी लुटेरों के हाथों में डाल देंगे। वे डाकू सारथि-सहित इस जीव को मृत्यु से अत्यन्त भयावने घोर अन्धकारमय संसार के कुएँ में गिरा देंगे।" अतः इस भयावह कूप से बचने के लिए हमें अपनी इन्द्रियों का सदुपयोग करते हुए कल्याण-मार्ग की ओर अग्रसर होना चाहिए; क्योंकि इस मार्ग का अन्त है मोक्ष और यही हमारे मनुष्य-शरीर की यात्रा का लक्ष्य है।

## ज्ञान-सम्पादन का फल—१

श्रुति ने ब्रह्म को अमृतरूप बताया है। "ब्रह्मैवेदममृतं।" अमृत-अर्थात् मृत्यु से रहित। मृत्यु से रहित यानी जिसमें जन्म-मरण नहीं, जो नित्य वस्तु है। और शास्त्र फिर यह भी कहता है कि जो उस अमृत को जानता है, वह स्वयं भी अमृत हो जाता है, मुक्त हो जाता है। भगवान् ने कहा—

ज्ञानं लब्ध्वापरां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।

जिसने ज्ञान प्राप्त कर लिया, जिसे अमृतरूप आत्मा की सहजानुभूति हो गई, वह मुक्त हो गया। मुक्ति नाम ही ज्ञान होने का है। अज्ञान है मृत्यु और ज्ञान है अमृत, मृत्यु से रहित। तो जिसे ज्ञान होता है, उसके लिए और कोई कर्म इस लोक में शेष नहीं रह जाता।

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥

ज्ञान में सारे कर्म शेष हो जाते हैं। ऐसा क्यों कहा? उत्तर स्पष्ट है। ज्ञान स्वतन्त्र है, और द्रष्ट-फल देने वाला है। हमने भोजन किया और तत्काल हमारी तृप्ति हो गई। ऐसा नहीं कि भोजन आज किया और पेट भर जाने की अनुभूति दो दिन पश्चात् होगी। कर्म और उपासना में ऐसी बात नहीं। कर्म मनुष्य को मुक्ति नहीं दिला सकते। कर्म तो लोकों की प्राप्ति अथवा इस लोक के सुख ही दिला सकते हैं। यदि कर्म निष्काम भाव से किये गए तो, वह हमारा अन्तःकरण शुद्ध करेंगे। श्रुति बता रही है—

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना
वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।

यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागा—
तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥ (मुण्डक० १।२।९)

अर्थात् अविद्या में रहने वाले लोग कर्मों को ही सब कुछ मानकर ज्ञान-मार्ग की ओर अग्रसर न होते हुए भी अपने को कृत-कृत्य मान बैठते हैं। फल क्या होता है? वे कर्मफल में राग करने वाले व्यक्ति कर्मफलनाश होने से पुनः जन्म को प्राप्त होते हैं, स्वर्ग से उनका पतन होता है। यही नहीं, श्रुति ने यह भी कहा है कि—

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं
नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढ़ाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं
लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥ (मुण्डक० १।२।१०)

यज्ञादि कर्मों के फलों का भी कालान्तर में नाश हो जाता है और वापी, कूप आदि बनाने से जो पुण्यलाभ होता है, वह भी क्षीण हो जाता है। तब इन कर्मों को ही सर्वोत्तम मानने वाले मूढ़-पुरुष, अवशिष्ट कर्मों के अनुसार लोक अथवा अन्य हीन योनियों वाले लोकों को प्राप्त होते हैं। श्रीमद्भागवत में आता है—"जो जन्म लेता है, उसकी मृत्यु भी शरीर के साथ उत्पन्न होती है। आज हो या सौ वर्ष पश्चात्, जो प्राणी है उसकी मृत्यु होगी अवश्य। जब शरीर का अन्त हो जाता है तब जीव अपने कर्म के अनुसार दूसरे शरीर को ग्रहण करके अपने पहले शरीर को छोड़ देता है। उसे विवश होकर ऐसा करना पड़ता है। जैसे चलते समय मनुष्य एक पैर जमाकर ही दूसरा पैर उठाता है और जैसे जोंक किसी अगले तिनके को पकड़ने के अनन्तर ही पहले पकड़े हुए तिनके को छोड़ती है, वैसे ही जीव भी अपने कर्म के अनुसार किसी शरीर को प्राप्त करने के बाद ही इस शरीर को छोड़ता है। जैसे कोई पुरुष जाग्रत-अवस्था में राजा के ऐश्वर्य

को देखकर और इन्द्रादि के ऐश्वर्य को सुनकर उसकी अभिलाषा करने लगता है और उसका चिन्तन करते-करते उन्हीं बातों में घुलमिलकर एक हो जाता है तथा स्वप्न में अपने को राजा या इन्द्र के रूप में अनुभव करने लगता है एवं अपनी दरिद्रावस्था को भूल जाता है अथवा जैसे कभी-कभी जाग्रत में भी मन-ही-मन उन्हीं बातों का चिन्तन करते-करते अपने शरीर की सुधि भूल जाता है, वैसे ही कर्मकृत कामना और कामनाकृत कर्म के वश होकर दूसरे शरीर को प्राप्त हो जाता है और अपने पहले शरीर को भूल जाता है।" इससे स्पष्ट हो रहा है कि कर्मों से मुक्ति नहीं मिल सकती। निष्काम कर्म करने से अन्तःकरण शुद्ध होने पर यह मनुष्य उपासना में लग जाता है और क्रमशः साधन-चतुष्टय सम्पन्न होने पर ज्ञान का अधिकारी बनता है। इसलिए कर्म और उपासना ज्ञान के हेतु तो हो सकते हैं, परन्तु मुक्ति दिलाने वाले नहीं। इसके विपरीत ज्ञान स्वयं स्वतन्त्र रूप होने से मोक्ष प्रदान करने वाला है, अमृत दिलाने वाला है। इसमें शंका होती है कि जब कर्म से मुक्ति नहीं, तो फिर श्रुति ने यह क्यों कहा कि—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः।

कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे। श्रुति का यह निर्देश है, ठीक है। पर साथ-साथ इसमें यह भी कह दिया कि कर्म ईश्वर-अर्पण करे। जब सारे कर्म ईश्वर-अर्पण होंगे, तो उसके फल में करने वाले की आसक्ति नहीं रह जायगी। भगवान ने भी गीता में कहा है—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥५।१०॥

जो संग त्याग करके कर्म करता है, वह उनमें लिपायमान नहीं होता। यही नहीं कर्मों के फलों में सर्वथा आसक्ति-रहित पुरुष

अमृत पद को पा लेता है। भगवान् ने कहा—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्म बन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥

तो इस प्रकार फल की इच्छा को लेकर अथवा स्वर्गादि की कामना-सहित जो कर्म होते हैं, उनसे मुक्ति नहीं हो सकती। मोक्ष का एकमात्र उपाय है ज्ञान। इसमें दूसरी शंका कुछ लोग यह भी करते हैं कि ज्ञान कारण है मुक्ति का, तो कारण और उसका कार्य एक साथ, एक ही समय में नहीं हो सकते। कारण चाहे एक ही क्षण पहले हो, पर होना कार्य से पहले ही चाहिए। कुम्हार जब घट का निर्माण करता है, तो घट कार्य का उपादान कारण मृत्तिका और निमित्त कारण कुम्भकार दोनों पहले से विद्यमान हैं। अतः ज्ञान होते ही मुक्ति नहीं, कुछ समय पश्चात होनी चाहिए। लेकिन ज्ञान के संबंध में यह बात नहीं। जैसे दीपक के आते ही कमरे में अंधकार नहीं ठहरता अथवा सूर्य के प्रकाशित होते ही रात्रि हट जाती है, इसी प्रकार ज्ञान होते ही अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है, उसमें विलम्ब नहीं। इसी भाव को लेकर श्रुति ने बताया—

जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य
महिमानमिति वीतशोकः। (मुण्डक० ३।१।२)

जिस समय भी जिज्ञासु अपने ध्यान द्वारा उस सर्व-सेव्य एवं सर्वप्रिय ईश्वर को उसकी महिमा-सहित जान लेता है, वह वीतशोक हो जाता है, जन्म-मरण से छूट जाता है। "यदा" से यही भाव स्पष्ट किया गया है कि "जिस समय भी"; उसके लिए कोई विशेष क्षण निर्धारित नहीं, जब भी साधक की साधना सम्पूर्ण हो गई, उसी क्षण उसे ज्ञान हो जाता है और वह जन्म-मरण-रूप संसार चक्र से छूटकर मायातीत हो जाता है। इसी-

लिए ज्ञान को द्रष्ट-फल कहा है। उसका फल तत्काल देखा जा सकता है।

"छन्दोग्योपनिषद्" में जाबाला पुत्र सत्यकाम की कथा आती है। पहले ऐसी प्रथा थी कि गुरु के पास जब ब्रह्मचारी विद्या पढ़ने के लिए जाता था तो सबसे पहले गुरु उससे उसका गोत्र पूछा करते थे। इसी दृष्टि से जब सत्यकाम गुरु के पास जाने लगा तो उसने अपनी मा से प्रश्न किया—"मा! मैं ब्रह्मचर्य-पूर्वक गरुकुल में निवास करना चाहता हूँ; बता मैं किस गोत्र वाला हूँ?"

जाबाला बोली—"वत्स! मैं तेरा गोत्र नहीं जानती; क्योंकि युवावस्था में जब मैं परिचारिणी थी, तब मैंने तुझे प्राप्त किया। अतः तू गुरु से कह देना कि मैं "सत्यकाम जाबाल" हूँ।" सत्यकाम ने ऐसा ही किया। वह हारिद्रुमत गौतम के पास जाकर बोला—"मैं श्रीमान् के यहाँ ब्रह्मचर्यपूर्वक वास करने की इच्छा से आया हूँ।" और जब गुरु ने उसका गोत्र पूछा तो उसने कह दिया—"मैं अपना गोत्र नहीं जानता। मेरी माता जब युवावस्था में परिचारिणी थी, तब उसने मुझे प्राप्त किया। अतः मैं सत्य-काम जाबाल हूँ।"

यह सुन गुरु ने कहा—'ऐसा स्पष्ट भाषण कोई ब्राह्मण ही कर सकता है। तू समिधा ले आ, मैं तेरा उपनयन कर दूँगा।" तब गुरु ने उपनयन के बाद उसे चार सौ कृश गौएँ दे दीं और कहा—"हे सोम्य! इन्हें बन में लेजा और जब यह एक हजार हो जायँ, तब लौट आना। उसी समय मैं तुझे आत्मविद्या का उपदेश करूँगा।" गुरु के वचनों पर अटूट श्रद्धा रखने वाला सत्यकाम बन में चला गया और गौओं की सेवा में तल्लीन रहने लगा। वर्षों बीत गए। गौओं की संख्या एक सहस्र हो गई। पर उसे पता ही नहीं चला; क्योंकि उसमें इतना धैर्य था कि उसने गौओं को

कभी गिना ही नहीं, उनकी सेवा में ही लगा रहा। तब एक दिन बृषभ ने उसे ब्रह्म के एक पद का उपदेश किया। बृषभ बोला—"अब हम एक सहस्र होगए हैं। हमें आचार्य कुल में ले चलो। और तेरी सेवा से हम प्रसन्न भी बहुत हैं, इसलिए तुझे ब्रह्म के एक पाद का उपदेश भी करते हैं।" तब उस बृषभ ने सत्यकाम को बताया कि "ब्रह्म प्रकाशवान् है, और उसकी चार ही कलाएँ हैं—पूर्व दिक्कला, पश्चिम दिक्कला, दक्षिण दिक्कला और उत्तर दिक्कला।" इस प्रकार उस बृषभ ने सत्यकाम को बताया कि जिस प्रकार दिशाएँ सर्व ज्ञात हैं, उसी प्रकार ब्रह्म भी सर्व ज्ञात और व्यापक है। ब्रह्म सर्व ज्ञात है तो फिर श्रुतियों ने यह उपदेश क्यों किया कि 'ब्रह्म को जानो !'—ऐसी शंका होती है। उत्तर है कि हरेक वस्तु का दो प्रकार का ज्ञान होता है। सामान्य ज्ञान और विशेष ज्ञान। जैसे दूर से कोई व्यक्ति आ रहा है, तो हम केवल उसे व्यक्ति कहकर ही जानेंगे, यह उसका सामान्य ज्ञान है और पास आने पर जब हम उसे पहचानते हैं कि यह तो 'देवदत्त' नामवाला है, तो यह उस व्यक्ति का विशेष ज्ञान हुआ। इसी तरह आत्मा अथवा ब्रह्म सर्वत्र ज्ञात है, वह सर्व-व्यापक है; पर अज्ञान का पर्दा होने के कारण हम उसे देख नहीं पाते। जैसे ही अज्ञान दूर होता है, हम उसे नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, एकरस, कूटस्थ, निर्विकार आदि विशेषताओं के साथ जान लेते हैं। इसलिए वह ब्रह्म 'प्रकाशवान्' अथवा सर्व ज्ञात एवं व्यापक कहा गया। इस प्रकार ब्रह्म के एक पाद का उपदेश सुनने के बाद सत्यकाम को बृषभ ने बताया कि उसके दूसरे पाद का उपदेश तुझे अग्नि करेगा। दूसरे दिन सायंकाल जहाँ गौओं ने वास किया वहाँ सत्यकाम समिधाधान कर अग्नि के पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया। तब अग्नि ने उससे कहा—"हे सत्यकाम ! ब्रह्म 'अनन्तवान्' है और उसकी पृथ्वी कला, अन्तरिक्ष कला, द्युलोक कला

और समुद्र कला नाम की चार कलाएँ हैं।" ब्रह्म को अनन्तवान् कहने में अग्नि का तात्पर्य था कि सत्यकाम उसे निस्सीम करके जाने। जिस प्रकार पृथ्वी, अकाश, आकाश से ऊपर के लोकों और समुद्र का इस लोक के किसी भी पुरुष ने पार नहीं पाया, इसी प्रकार ब्रह्म का पार पाना भी कठिन है। किसी भी वस्तु का अन्त तीन प्रकार से होता है। देश, काल और वस्तु से। कोई वस्तु आज इस देश में है और कल किसी दूसरे देश में चली गई, तो उसका यहाँ अन्त होगया। इसी प्रकार कोई वस्तु अभी है और कल या दो मास अथवा ५—१० वर्ष बाद नहीं है, तो उसका भी हम अन्त मान लेंगे। इसी प्रकार कोई वस्तु आज जिस रूप में है, कल उस रूप में न रहे, तो उसका भी रूप से अन्त मान लेंगे। परब्रह्म तो देश, काल, वस्तु-परिच्छिन्न नहीं। इसीलिए उसे अनन्तवान् कहा। ऐसा उपदेश करने के बाद अग्नि ने उसे आशीर्वाद दिया कि—"हे सोम्य! ब्रह्म के तीसरे पाद का उपदेश तुम्हें हंस करेगा।" तब सत्यकाम ने अगले दिन आचार्य कुल की ओर गोओं को हाँक दिया। संध्याकाल जहाँ वे ठहरीं, वहाँ हंस ने उसे ब्रह्म के तृतीय पाद का उपदेश करते हुए बताया कि "लौकिक दृष्टि में जैसे अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और विद्युत स्वयं ज्योति हैं, उन्हें प्रकाशित होने में किसी दूसरे के प्रकाश की अपेक्षा नहीं, इसी प्रकार ब्रह्म "ज्योतिष्मान्" है। इसीलिए उसे "ज्योतिषां ज्योतिः" कहा। तीसरे दिन जब सत्यकाम आगे चला तो संध्याकालीन पड़ाव आने पर मद्गु ने उसे ब्रह्म के चतुर्थ पाद का उपदेश किया। ( मद्गु माने माँगुर मछली, या जल पक्षी विशेष ) मद्गु ने कहा, "हे सोम्य! ब्रह्म आयतवान् है और प्राण कला, चक्षु कला, श्रोत्र कला और मन कला नाम की उसकी चार कलाएँ हैं।" इस प्रकार मद्गु ने उसे समझाया कि जैसे यह शरीर लौकिक दृष्टि से प्राण, चक्षु, श्रोत्र, और मन के आश्रित है, वैसे ही सब कुछ

ब्रह्म के ही आश्रित है। मन, प्राण, चक्षु और श्रोत्र का भी परम आश्रय वही आत्मा है। वह शरीर का आश्रय है, पर शरीर से असंग है। पंचकोशों से परे ही वह शुद्ध सबका आश्रय आत्मा है। उपदेश प्राप्त कर जब सत्यकाम आचार्य कुल में पहुँचा तो गुरु ने उसकी आकृति देखते ही, कुछ भी और प्रश्न नहीं किया, सीधे पूछा—"सोम्य! तू ब्रह्मवेत्ता-सा दिखलाई दे रहा है, तुझे किसने उपदेश किया?"

तब उसने बताया—"मनुष्यों से भिन्न (अर्थात् देवताओं ने) मुझे उपदेश किया। लेकिन विद्या गुरु से सुनने पर ही सफल होती है, इसलिए आप मुझे पुनः इसका उपदेश करें। तब गुरू ने प्रसन्नतापूर्वक उसे आत्मविद्या का उपदेश किया। तो इस कथा से स्पष्ट हो रहा है कि जैसे ही ज्ञान की प्राप्ति होती है, तत्ववेत्ता जीवन्मुक्त हो जाता है, सत्यकाम की तरह। उसकी आकृति पर वह बात झलक आती है। इसीलिए ज्ञान को दृष्ट-फल वाला कहा। उसे कर्म-उपासना की अपेक्षा नहीं, वह अकेला ही इस जीव को मुक्त करने में समर्थ है। इसलिए जो आवागमन रूपी संसारचक्र से छूटना चाहता है, उसे कर्म और उपासन की सीढ़ियों से आगे ज्ञान के परमपवित्र मंच पर पहुँचना चाहिए। यदि इस शरीर के रहते ऐसा नहीं कर पायेंगे तो पुनः-पुनः जन्म-मरण वाले लोकों में शरीर भाव को प्राप्त होंगे। श्रुति चेतावनी दे रही है—

इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक्शरीरस्य विस्रसः।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते। (कठ० २।३।४।)



# ज्ञान-सम्पादन का फल—२

शास्त्र ने हमें बताया है कि—

दुर्लभं मानुषं जन्म प्रार्थ्यते त्रिपदशैरपि ।
तल्लब्ध्वा परलोकार्थं यत्नं कुर्याद् विचक्षणः ॥

(ना० पूर्व० ३२।४७)

अर्थात् "मनुष्य का जन्म दुर्लभ है। देवता भी उसके लिए प्रार्थना करते हैं। अतः उसे पाकर विद्वान पुरुष परलोक सुधारने का यत्न करे।" ऐसा जानकर ही एक बार नारदजी ने सनकजी से पूछा—"भगवान्! कर्म से देह मिलती है। देहधारी जीव कामना से बंधता है। काम से वह लोभ के वशीभूत होता है और फिर उसे क्रोध होता है। क्रोध से धर्म का नाश होता है। फलस्वरूप इसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है और यह पाप में प्रवृत्त होता है। इसलिए वह कौन सा उपाय है कि जिससे यह मनुष्य देह के मोह को त्याग कर, मोक्ष का भागी हो सके?"

तब सनकजी ने बताया कि जिनकी आज्ञा से ब्रह्माजी सम्पूर्ण जगत की सृष्टि, विष्णु पालन तथा रुद्र संहार करते हैं, वही सर्वव्यापी भगवान् नारायण मोक्षदाता हैं, जो आनन्द-स्वरूप, जरारहित, परम-ज्योतिर्मय, सनातन एवं परात्परब्रह्म हैं, जो अद्वैत, निर्गुण, नित्य, अद्वितीय, परिपूर्ण तथा ज्ञानमय ब्रह्म है उसी को साधु पुरुष मोक्ष का साधन मानते हैं। उसी परब्रह्म का ज्ञान मोक्ष दाता है। यह मनुष्य इस संसार में जन्म से लगाकर मृत्यु पर्यन्त नाना प्रकार के कष्ट भोगता है। जिस प्रकार सुवर्ण आदि धातु तब तक अग्नि में तपाये जाते हैं, जब तक कि उनका मैल नहीं जल जाता, उसी प्रकार सब जीवधारी कर्मों के क्षय होने तक अत्यन्त कष्ट भोगते हैं। इसीलिए संसाररूपी दावानल के ताप से संतप्त

मनुष्य को परमज्ञान का अभ्यास करना चाहिए। ज्ञान से वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। ज्ञान शून्य मनुष्य पशु कहे गए हैं। इसलिए संसार-बंधन से मुक्त होने के लिए परमज्ञान का अभ्यास करे।

तस्मात्संसारदावाग्नितापार्तो द्विजसत्तम।
अभ्यसेत्परमं ज्ञानं ज्ञानान्मोक्षमवाप्नुयात् ॥
ज्ञानशून्या नरीये तु पशवः परिकीर्तिताः।
तस्मात्संसारमोक्षाय परं ज्ञानं समभ्यसेत ॥

(ना० पूर्व० ३२।३९-४०)

ज्ञान-प्राप्ति से पूर्व यह जान लें कि ज्ञान का स्वरूप क्या है? सत्-असत का विवेक, असत् में राग की निवृत्ति और नित्य वस्तु का चिन्तन, यही ज्ञान का स्वरूप है। इसकी प्राप्ति के लिए क्या करे? श्रुति ने मार्ग बताया है—

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं। (मुण्डक० १।२।१२)

साधु पुरुषों के सहयोग से, श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरु के आश्रय में इस चराचर विश्व में स्थित नित्य और अनित्य वस्तु का भली-भाँति विचार करे। संसार के सभी पदार्थ अनित्य हैं। इसलिए अनित्य का त्यागकर नित्य पर ब्रह्म का ही आश्रय लेना चाहिए। इहलोक एवं परलोक के जितने भोग हैं, उनसे विरक्त होना चाहिए। जो भोगों से विरक्त नहीं होता, वह संसार में फँस जाता है। अतः शम-दम आदि गुणों से मुक्त हो मुक्ति की इच्छा रखकर ज्ञान-प्राप्ति के लिए साधन करे। जो दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा और समाधान गुणों से शून्य है, उसे ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। साथ ही मुमुक्षु में हिंसा, क्रोध, ईर्ष्या आदि दोष भी नहीं होने चाहिए। शास्त्र कह रहा है—

अहिंसा सत्यमक्रोधो ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ।
अनीर्ष्या च दया चैव योगयोरुभयोः समाः ॥

अपरिग्रह, ईर्ष्या का त्याग तथा दया—ये सद्‌गुण, ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों में समानरूप से आवश्यक हैं। अब कर्मयोग क्या? और ज्ञानयोग क्या? जो सम्पूर्ण लोकों के हित साधन में तत्पर हो मन, वाणी और क्रिया द्वारा देवेश्वर भगवान् विष्णु की भलीभाँति पूजा करता है, वह कर्मयोगी कहलाता है। इस प्रकार के साधनों से पापों की निवृत्ति होती है और बुद्धि शुद्ध हो जाती है। तदनन्तर मनुष्य ज्ञानयोग की ओर प्रवृत्त होता है।

ज्ञानयोग ही संसार बन्धन को दूर करने वाला है। पर और अपर-भेद से आत्मा दो प्रकार का कहा गया है। अथर्ववेद की श्रुति भी कहती है कि दो ब्रह्म जानने योग्य हैं। पर आत्मा को अथवा परब्रह्म को निर्गुण बताया गया है तथा अपर आतमा अथवा अपरब्रह्म को अहंकार युक्त जीवात्मा कहा गया है। इन दोनों के अभेद का ज्ञान ही 'ज्ञानयोग' कहलाता है। इस पंच भौतिक शरीर के भीतर हृदयदेश में जो साक्षीरूप से स्थित है, उसे साधु पुरुषों ने अपरात्मा कहा है, तथा परमात्मा पर (श्रेष्ठ) माने गये हैं। शरीर को क्षेत्र कहते हैं। जो क्षेत्र में स्थित आत्मा है वह क्षेत्रज्ञ है। परमात्मा अव्यक्ति, शुद्ध एवं सर्वत्र परिपूर्ण कहा गया है। जब जीवात्मा और परमात्मा के अभेद का ज्ञान हो जाता है। श्रुति बता रही है—

> द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
> समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
> तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यन—
> श्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥ (मुंडक० ३।१।१)

अर्थात् शरीर एक वृक्ष है, इसमें हृदय का घोंसला बना कर जीव और परमात्मा नाम के दो पक्षी रहते हैं। वे दोनों चेतन होने के कारण समान हैं और कभी न बिछुड़ने के कारण सखा हैं। इनके निवास करने का कारण केवल लीला ही है। इतनी

समानता होने पर भी जीव तो शरीर रूप वृक्ष के फल सुख-दुःख आदि भोगता है, परन्तु, ईश्वर उन्हें न भोग कर कर्मफल सुख-दुःख आदि से असंग और उनका साक्षी मात्र रहता है। अभोक्ता होने पर भी ईश्वर की यह विलक्षणता है कि वह ज्ञान, ऐश्वर्य, सामर्थ्य और आनन्द आदि में जीव से बढ़कर है। साथ ही एक यह भी विलक्षणता है कि अभोक्ता ईश्वर तो अपने वास्तिवक स्वरूप और इसके अतिरिक्त जगत को भी जानता है, लेकिन, भोक्ता जीव न अपने वास्तविक रूप को जानता है, न अपने से अतिरिक्त को। इन दोनों में जीव तो अविद्या से युक्त होने के कारण नित्य बद्ध है और ईश्वर विद्या स्वरूप होने के कारण नित्य मुक्त है। परन्तु इतना होने पर भी इनमें अभेद है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धवजी को समझा कर कहा है कि जीव तो एक ही है, वह व्यवहार के लिए ही मेरे अंश के रूप में कल्पित हुआ है, वस्तुतः मेरा स्वरूप ही है। श्रुति भी बता रही है :—

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः
सहस्त्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ॥ ( मुण्डक० २।१।१ )

अर्थात् जिस प्रकार अग्नि से उसी के समान रूप वाले सहस्त्रों स्फुलिंग निकलते हैं उसी प्रकार अक्षर पर ब्रह्म से अनेकों भाव प्रकट होते हैं।

गीता में भी कहा—"ममैवांशो जीव लोक जीव भूत सनातनः।" तो फिर बंधन और मुक्ति क्या? यही जीव आत्मज्ञान से सम्पन्न होने पर मुक्त कहलाता है। और यह अज्ञान अनादि होने से बंधन भी अनादि कहा जाता है। तो इस प्रकार जन्म-मृत्यु रूप संसार का केवल अज्ञान ही मूल कारण है, कोई अन्य कारण नहीं। इसलिए अपने वास्तविक स्वरूप को, आत्मा

को जानने का प्रयत्न करना चाहिए। भगवान् ने उद्धवजी को बताया है कि अपना यह वास्तविक स्वरूप समस्त प्रकृति और प्राकृत जगत् से अतीत, द्वैत की गंध से रहित एवं अपने आप में ही स्थित है। उसका कोई आधार नहीं। उसे जानकर स्थूल-सूक्ष्म एवं कारण शरीर आदि में जो सत्यत्व बुद्धि हो रही है, उसे क्रमशः मिटा देना चाहिए। जैसे जलने वाली लकड़ी से उसे जलाने और प्रकाशित करने वाली आग सर्वथा अलग है, ठीक वैसे ही पंचभूतों का बना स्थूल शरीर एवं मन-बुद्धि आदि सत्रह तत्वों का बना सूक्ष्म शरीर दोनों ही दृश्य एवं जड़ हैं। उनको जानने और प्रकाशित करने वाला आत्मा साक्षी एवं स्वयं-प्रकाश है। शरीर अनित्य, अनेक, एवं जड़ है। आत्मा नित्य, एक एवं चेतन है। जब आग लकड़ी में प्रज्वलित होती है तो लकड़ी के उत्पत्ति-विनाश, बड़ाई-छोटाई, और अनेकता आदि सभी गुण वह स्वयं ग्रहण कर लेती है। पर वस्तुतः लकड़ी के गुणों से आग का कोई संबंध नहीं। इसी प्रकार जब हम शरीर को ही आत्मा मान लेते हैं, देह के जड़ता, अनित्यता, स्थूलता, अनेकता आदि गुण आत्मा में भासते हैं। जीव को शरीर और शरीर को जीव समझ लेने के कारण ही स्थूल शरीर के जन्म-मरण और सूक्ष्म-शरीर के आवागमन का आत्मा में आरोप किया जाता है। जीव को जन्म-मृत्यु रूप संसार इसी भ्रम अथवा अध्यास के कारण प्राप्त होता है। इसी भ्रम की ज्ञान से निवृत्ति होने पर मोक्ष-प्राप्ति संभव हो सकेगी। लेकिन इस भ्रम की निवृत्ति के लिए हमारी अभेदवाद में, अद्वैतवाद में अत्यन्त दृढ़ निष्ठा होनी आवश्यक है। यहाँ हमें भरतमुनि के उपदेश से कुछ ग्रहण करना चाहिए। एक बार सौवीरनरेश शिबिका पर आरूढ़ हो इक्षुमती नदी के किनारे महर्षि कपिल के श्रेष्ठ आश्रम की ओर जा रहे थे। उस दिन राजा की बेगार में बहुत-से मनुष्य पकड़ लिये गए थे। उन्हीं

के साथ भरतमुनि भी पकड़ लिए गए, क्योंकि वे अपने को इतना छिपाकर रखते थे कि उनके तत्ववेत्ता होने में भी लोगों को सन्देह था। यही नहीं, वे इतने मैले-कुचैले रहते थे कि लोग उनका अपमान करते थे। वे जानते थे कि योग-प्राप्ति में सम्मान सबसे अधिक हानिकारक है।

सम्मानना परां हानिं योगर्द्धेः कुरुते यतः।
जनेनावमतो योगी योगसिद्धिं च विन्दति॥

सम्मान योग-प्राप्ति में बाधा है, परन्तु जो योगी अन्य मनुष्यों से अपमानित होता है, वह शीघ्र सिद्धिलाभ कर लेता है। तो ऐसे भरतमुनि राजसेवक के कहने से राजा की पालकी को उठाकर चलने लगे। परन्तु शास्त्रीय विधान के अनुसार वह चार हाथ भूमि देखते हुए मन्द गति से चल रहे थे। और राजा के अन्य सेवक द्रुतगति से बढ़ रहे थे। अतः राजा ने पूछा—"इस प्रकार टेढ़े-मेढ़े क्यों चल रहे हो?"

उतर मिला—"हममें से एक धीरे चल रहा है।"

राजा ने भरतमुनि को देखा। कहा—"तू तो मोटा-ताज़ा दिखाई दे रहा है फिर ठीक क्यों नहीं चलता? क्या थक गया?"

भरतमुनि बोले—"राजन्! मैं न मोटा हूँ, न मैंने आपकी पालकी ही उठा रखी है। मैं थका भी नहीं हूँ और न मुझे श्रम सहन करने की ही आवश्यकता है।"

राजा ने आश्चर्य से कहा—"तू तो प्रत्यक्ष स्थूलकाय दिखाई दे रहा है और शिबिका तेरे स्कन्धों पर है और बोझा ढोने से देहधारियों को श्रम होता ही है।"

भरतमुनि बोले—"प्रत्यक्ष क्या दिखाई दे रहा है? पहले मुझे यही बताओ? बलवान् अथवा निर्बल विशेषणों की बात पीछे करना। मैंने पालकी उठा रखी है, ऐसा कहना भी मिथ्या है। पैर पृथ्वी पर रखे है, पैरों पर जंघाएँ हैं, उन पर दोनों ऊरु हैं और

ऊरुओं के ऊपर उदर एवं उदर के ऊपर वक्षःस्थल, बाहु और कन्धों की स्थिति है। कन्धों पर शिबिका है। फिर मेरे ऊपर बोझ कैसा? इस शिबिका में तो वह शरीर रखा है, जिसे तुमने भ्रम से अपना स्वरूप समझ रखा है। वास्तव में राजन्! मैं, तुम और अन्य भी समस्त जीव पंचभूतों से ही वहन किए जाते हैं तथा यह भूतवर्ग भी गुणों के प्रवाह में पड़कर बहा जा रहा है। यह सत्त्वादि गुण भी कर्मों के वशीभूत हैं और समस्त जीवों के कर्म अविद्याजन्य हैं। आत्मा तो शुद्ध, अक्षर, शान्त, निर्गुण और प्रकृति से परे है तथा समस्त जीवों में वह एक ही है। उसका उपचय (वृद्धि) और अपचय (क्षय) ही नहीं होते, इसलिए मोटा हूँ, ऐसा नहीं माना जा सकता। जिस पंचभूत से यह पालकी बनी है, उसीसे मेरा, आपका और अन्य शरीर बने हैं और इसी में ममत्व का आरोप कर लिया जाता है।" यह कहकर जब भरत-मुनि मौन हो गये तब राजा ने तुरन्त उतरकर उनके चरण पकड़ लिये। विनम्रभाव से कहा—"प्रभो! कृपाकर बतलाइए, आप छिपे हुए वेष में कौन हैं?"

भरतमुनि बोले—"राजन्! सुनो! मैं अमुक हूँ, यह बात कही नहीं जा सकती। और तुमने जो मेरे यहाँ आने का कारण पूछा है, सो आना-जाना आदि सभी क्रियाएँ कर्मफल के उपभोग के लिए ही हुआ करती हैं। सुख-दुःख का भोग ही देह की प्राप्ति कराने वाला है।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! जो है, वही मैं हूँ,—ऐसा क्यों नहीं कहा जा सकता? यह 'अहं' शब्द तो आत्मा में किसी प्रकार के दोष का कारण नहीं हो सकता?"

भरतमुनि ने तब बताया—"आत्मा में अहं शब्द से यद्यपि कोई दोष नहीं आता, तथापि में अनात्म में आत्मतत्व का ज्ञान कराने वाला भ्रान्तिमूलक "अहं" शब्द ही दोष का कारण है। नृप!

'अहं' शब्द का उच्चारण जिह्वा, दंत, ओष्ठ और तालु से ही होता है, किन्तु यह सब अहं नहीं हैं; क्योंकि यह तो शब्द के उच्चारण के हेतु या करणमात्र हैं। इसी प्रकार यह कर-चरणादिरूप शरीर भी आत्मा से पृथक् ही है! यदि मुझसे भिन्न कोई सजातीय आत्मा और हो तो भी 'यह अन्य है और यह मैं हूँ' ऐसा कहा जा सकता था, परन्तु यहाँ तो समस्त शरीरों में एक ही जीवात्मा विराजमान् है, तब "आप कौन, मैं कौन!" यह सब वाक्य निष्फल ही हैं। वृक्ष से लकड़ी बनी, लकड़ी से शिबिका बनी, तो फिर बताओ इसे लकड़ी कहा जाय, या वृक्ष? रचना-विशेष में स्थित लकड़ियों का समूह ही तो पालकी है। यही न्याय तुझमें और मुझमें भी लागू होता है। नृपति! पुरुष (आत्मा) तो न देवता है, न मनुष्य! न पशु है, न वृक्ष! यह सब तो कर्मजन्य शरीरों की आकृतियों के भेद ही हैं। जिस वस्तु की परिणामादि के कारण कालान्तर में भी दूसरी संज्ञा नहीं होती वही परमार्थ वस्तु है। अतः सावधान होकर विचार करो कि "मैं कौन हूँ।"

ऐसा उपदेश सुन राजा सौवीरनरेश ने परमार्थ के विषय में प्रश्न किया कि 'परमार्थ क्या है, कृपया मुझे बतलाइए।' तब भरत मुनि ने कहा—

एको व्यापी समः शुद्धो निर्गुणः प्रकृतेः परः।
जन्मवृद्ध्यादिरहित आत्मा सर्वगतोऽव्ययः॥
परज्ञानमयोऽसद्भिर्नामजात्यादिभिर्विभुः।
न योगवान्न युक्तोऽभून्नैव पार्थिव योक्ष्यते॥
तस्यात्मपरदेहेषु सतोऽप्येकमयं हि यत्।
विज्ञानं परमार्थोऽसौ द्वैतिनोऽतथ्यदर्शिनः॥

अर्थात्—"आत्मा एक, व्यापक, सम, शुद्ध, निर्गुण और प्रकृति से परे है; वह जन्म-वृद्धि आदि से रहित सर्वव्यापी और अव्यय है। वह परम ज्ञानमय है। नाम, रूप, जाति आदि से उस सर्व-

व्यापक का संयोग न कभी हुआ, न है, और न होगा। 'वह अपने और अन्य प्राणियों के शरीर में विद्यमान रहते हुए भी एक है।' —ऐसा जो विशेष ज्ञान है, वही परमार्थ है; द्वैत-भावना वाले पुरुष तो अपरमार्थदर्शी हैं।'' ऐसा जो आत्मा का विशेष ज्ञान है, उससे ही मनुष्य को मुक्ति मिल सकती है और वह जन्म-मरण-रूप संसार-चक्र से छूट सकता है। इस ओर प्रयत्नशील होने वाला मुमुक्षु एक दिन अपने स्वरूप को जानकर कृत-कृत्य हो जाता है। उसे पुनर्जन्म की प्राप्ति नहीं होती। भगवान् ने स्पष्ट कह दिया है—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ ८।१६ ॥

ब्रह्मा के लोक तक सभी लोकों से इस जीव को पुण्य क्षीण होने पर पुनर्जन्म को प्राप्त होना पड़ता है, परन्तु भगवान् को प्राप्त करके, अपने स्वरूप को जान लेने के बाद फिर इसका जन्म नहीं होता। यह तद्रूप हो जाता है।

---

## अभयपद की प्राप्ति

जिसकी अद्वैत में निष्ठा हो जाती है, वह सर्वत्र, सब भूत-प्राणियों में उसी परमात्मा का दर्शन करता है और किसी से उसको घृणा नहीं होती। श्रुति कह रही है :—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ ( ईशावास्य० ॥ ६ ॥)

सम्पूर्ण प्राणियों में परमात्मा का दर्शन करने एवं परमात्मा में सम्पूर्ण प्राणियों को निरन्तर देखने वाला मुमुक्षु कभी भी किसी से घृणा नहीं करता। वह सबको सुख पहुँचाना चाहता है। भगवान् ने भी कहा है :—

सर्व भूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ ६।२६ ॥

और—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ६।३० ॥

तो सर्वत्र भगवान् का दर्शन करने वाला पुरुष नाश को प्राप्त नहीं होता; मुक्त हो जाता है। परन्तु, ऐसी आस्तिक बुद्धि वाले मनुष्य बहुत कम होते हैं, कठिनाई से ही देखे जाते हैं। भगवान् ने कहा भी है :—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यतत मपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ (७।३)

हज़ारों में कोई उस परमात्मा के मार्ग पर बढ़ता है और फिर उनमें से भी किसी विरले को ही तत्व की प्राप्ति होती है। उन्हें ही उत्तम साधक कहा जा सकता है। भर्तृहरि ने बताया है :—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः प्रारभ्य विघ्ननिहिता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारभ्यचोत्तमजना न परित्यजन्ति ॥

नीचकोटि के पुरुष तो विघ्नों के भय से ही साधन में प्रवृत्त नहीं होते। मध्यम कोटि के साधक विघ्न होने पर बीच में ही छोड़ देते हैं। परन्तु उत्तम जन बारम्बार विघ्न होने पर भी साधन अधूरा नहीं छोड़ते।

ऐसा आस्तिक बुद्धिवाला उत्तम साधक जब सर्वत्र ईश्वर का दर्शन करने लगता है, तब वह निर्भय हो जाता है। जिस प्रकार

जल में रहने वाली मछली के अन्दर, बाहर, भीतर, ऊपर, नीचे सर्वत्र ही जल है, इसी प्रकार हमारे भी चारों ओर वही ब्रह्म है। जब सबमें सर्वत्र वही है, तो भय किस से ? उपनिषद् बता रहा है :—

"द्वितीयद्वै भयं भवति" (बृहदारण्यक १।४।२)

'निश्चय ही दूसरे से भय होता है।' यदि दूसरी वस्तु का भान नहीं होगा तो कर्म के मूलभूत भय, द्वेष, राग का भी कोई आधार नहीं रह जायगा और फलस्वरूप भय का कोई प्रसंग नहीं रहेगा। इसी उपनिषद् में आगे बताया है—

यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन
कं पश्येत् तत्केन कं जिघ्रेत् तत्केन
कं शृणुयात् तत्केन कं विजानीयात् ॥

जब इस मुमुक्षु के लिए सब कुछ आत्मा ही हो जाता है, तब वह किसके द्वारा किसको देखे, किसके द्वारा किसको सूँघे, किसके द्वारा किसको सुने तथा किसके द्वारा किसको जाने ? यही भाव दूसरी जगह व्यक्त करते हुए लिखा है—

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति ।
यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत् ॥

अर्थात् जब तक द्वैत रहता है, तब तक एक दूसरे को देखता है, परन्तु जब सारे पदार्थ आत्मरूप हो जाते हैं, तब कौन किसको देखता है ? तो ऐसी स्थिति में पहुँच कर तत्त्ववेत्ता निर्भय हो जाता है। उसे प्रह्लाद की तरह किसीसे घृणा नहीं होती, किसी से भय नहीं होता, किसी पर क्रोध नहीं होता और किसी से द्वेष भी नहीं होता।

जब प्रह्लाद ने अपने गुरुओं के समक्ष भगवान् विष्णु की महिमा का बखान किया तो उन्होंने क्रुद्ध होकर अग्निशिखा के

समान प्रज्वलित शरीर वाली कृत्या नाम की राक्षसी उत्पन्न कर दी। उसने भयंकर त्रिशूल लेकर प्रह्लाद की छाती पर वार किया, लेकिन त्रिशूल उन्हें छूते ही टूटकर पृथ्वी पर गिर गया।

यत्रानपायी भगवान् हृद्यास्ते हरिरीश्वरः
भङ्गो भवति वज्रस्य तत्रशूलस्य का कथा।

जिसके हृदय में निरन्तर अक्षुण्ण भाव से श्रीहरि भगवान् विराजते हैं, उसमें लगने से तो वज्र के भी टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं, त्रिशूल की तो बात क्या? जब त्रिशूल निष्फल हो गया तो कृत्या ने गुरुओं पर वार किया। जब गुरु जलने लगे तो प्रह्लाद ने—"हे कृष्ण रक्षा करो, हे अनन्त बचाओ!" कहकर पुकारा। तदनन्तर उन्होंने कहा—

यथा सर्वगतं विष्णुं मन्यमानोऽनपायिनम्।
चिन्तयाम्यरिपक्षेऽपि जीवन्त्वेते पुरोहिताः।
ये हन्तुमागता दत्तं यैर्विषं यैर्हुताशनः।
यैर्दिग्गजैरहं क्षुण्णो दष्टः सर्पैश्चयैरपि।
तेष्वहं मित्रभावेन समः पापोऽस्मि न क्वचित्
यथा तेनाद्य सत्येन जीवन्त्वसुरयाजकः॥

अर्थात्—"यदि मैं सर्वव्यापी और अक्षय भगवान् विष्णु को अपने विपक्षियों में भी देखता हूँ तो ये पुरोहितगण जीवित हो जायं। जो लोग मुझे मारने के लिए आए, जिन्होंने मुझे विष दिया, जिन्होंने आग में जलाया, जिन्होंने दिग्गजों से पीड़ित कराया और जिन्होंने सर्पों से डंसवाया उन सब के प्रति यदि मैं समान मित्रभाव से रहा हूँ और मेरी कभी पाप-बुद्धि नहीं हुई है, तो उस सत्य के प्रभाव से यह दैत्य पुरोहित जी उठें।" ऐसा कह कर उन्होंने पुरोहितों को स्पर्श किया तो वे जीवित हो गए। तो सब में ब्रह्म का दर्शन करने वाले निर्भय तत्त्ववेत्ता में इतनी शक्ति होती

है। जो मुमुक्षु इस प्रकार निर्भयपद पा जाना चाहता है, उसे परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। शब्द ब्रह्ममय जो उपनिषद् के महावाक्य हैं—"तत्त्वमसि" 'सोऽहमस्मि' इत्यादि, उन पर विचार करने से जीवात्मा और परमात्मा का अभेद ज्ञान प्रकाशित होता है। मुक्ति का यही सर्वश्रेष्ठ साधन है। जो उत्तम ज्ञान से वंचित हैं, वे ही जगत में नाना प्रकार के भेद देखते हैं, परमज्ञानी की दृष्टि में तो सब ब्रह्मरूप है। श्रुति ने उस ब्रह्म का तटस्थ-लक्षण बताते हुए कहा है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि
जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति
तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति॥ ( तैत्ति० ३।१।१ )

अर्थात् "जहाँ से यह भूत प्राणी जन्म लेते हैं, जिसमें जीते हैं और प्रलय काल में जहाँ लय होते है, वही ब्रह्म है। उसे जानो।" जब सब कुछ वहीं से उत्पन्न होता है, उसी में स्थिति है, और उसी में लय भी होता है, तो उससे अतिरिक्त और है क्या? कुछ नहीं। और दूसरी ओर श्रुति ने उस परब्रह्म का स्वरूप-लक्षण बताते हुए कहा कि वह सत् चित, और आनन्द रूप है। सत्य तो वह जिसका त्रिकाल में भी बाद न हो। लेकिन जो सत्य है वह ज्ञान रूप भी है, क्योंकि बिना ज्ञान के किसी वस्तु की भी स्थिति अथवा अस्तित्व के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। और जो सत् एवं ज्ञान रूप है, वह आनन्द रूप भी है ही। इस प्रकार का जो स्वरूप-लक्षण है, वह भी ब्रह्म में ही घटता है, जगत् के किसी पदार्थ में नहीं। जगत् को तो भगवान् ने कहा है—'अनित्यमसुखं लोकमिमं'। जगत् की जिसने रचना की वह जगत् से पहले अवश्य होना चाहिए और जो जगत् का नाश करता है, वह भी जगत् के नाश के बाद रहना चाहिए, अन्यथा जगत् का नाश होत है, यह कौन जाने, और ऐसा जगत् का रचयिता और

नाशक केवल ब्रह्म ही है । अब प्रश्न उठता है, तटस्थ-लक्षण और स्वरूप-लक्षण में भेद क्या, सो बताते हैं। किसी जलूस में यदि कोई राजा हाथी पर बैठा जा रहा है, उस पर चँवर ढुल रहे हैं, छत्र लगा है, तो हम उसे दूर से ही जान लेते हैं कि जो हाथी पर बैठा है, जिसके सिर पर छत्र है, वही राजा है। तो यह राजा को पहचानने के लिए उसके तटस्थ-लक्षण हैं। अर्थात् वे लक्षण जो कभी हैं, कभी नहीं हैं। अब यदि कहें कि राजा गौरवर्ण वाला, लम्बे कद का और दाढ़ीवाला है, तो यह उसके स्वरूप-लक्षण हुए। वह जब अन्तःपुर में जाता है, तब भी उसमें यह सब लक्षण होंगे, पर हाथी, चँवर और छत्र उसके साथ नहीं होंगे। इस प्रकार ब्रह्म जब विशुद्ध ब्रह्म न होकर माया-विशिष्ट ईश्वर हो गया, तब उसमें से सब उत्पन्न होंगे, स्थिति भी उसमें ही होगी और लय भी सब उसी में होगा। यह ब्रह्म का तटस्थ-लक्षण है और जब वह मायाविशिष्ट नहीं हो तब भी उसमें सत्, चित और आनन्द-रूप विशेषण विद्यमान हैं। यही उसका स्वरूप-लक्षण है। जिसने ब्रह्म के यह दोनों लक्षण जान लिये उसमें फिर पाप-बुद्धि नहीं रह जाती और वह अपने को सब प्रकार से अकर्ता देखने लगता है; क्योंकि आत्मा तो निर्विकार, निष्क्रिय है। किसी भी कर्म के करने में पाँच हेतु होते हैं। भगवान् ने बताया है—

> अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
> विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ॥
> शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
> न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ (१८।१४–१५)

अर्थात् आधार—जिसके आश्रय कर्म किए जायँ—और कर्ता तथा-तथा न्यारे-न्यारे करण (जिन-जिन इन्द्रियादिकों के और साधनों के द्वारा कर्म किए जायँ उनका नाम करण है) और नाना प्रकार की चेष्टा एवं दैव पाँच ही हेतु हैं जिनसे कर्म होता है।

मनुष्य मन, वाणी, शरीर से जो भी विहित अथवा निषिद्ध कर्म करता है, यही पाँच उसके हेतु होते हैं। इनमें आत्मा नहीं है। इसको न मानें तो यह कहा जायगा कि—

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥" (१८।६१)

अर्थात् यदि इन पाँचों को कर्म का हेतु कोई न मानेतो फिर ईश्वर को कर्ता मान लेना चाहिए। भगवान् ने कहा है कि—"हे अर्जुन! मैं इन सबभूत प्राणियों के हृदय में स्थित हूँ और इन्हें मैं अपनी माया से घुमा रहा हूँ। लेकिन यहाँ भगवान् ने कहा है—यंत्रा-रूढ़ानि—अर्थात् जिन्होंने शरीर में ही आत्मबुद्धि कर रखी है या जो अपने को ही कर्ता मान बैठे हैं, उन्हें माया के चक्कर में पड़ना होता है। और जिसमें यह अहंकार नहीं है—

यस्य नाहंकृतोभावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

जिसकी बुद्धि में अहंभाव नहीं है, कर्ता के अभिमान को जिसने त्याग दिया, यदि वह चतुर्दशभुवनों की हत्या भी कर दे (असम्भव बात है, इसीलिए 'यदि' लगा दिया) तो भी वह बन्धन में नहीं पड़ेगा। तत्ववेत्ता इस रहस्य को जानता है। आत्मा न कर्ता है, न भोक्ता है। स्पष्ट कर दिया है—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ (२।१९)

न तो यह किसी का हनन करता है और न ही इसका हनन होता है अर्थात् यह न तो कर्ता है और न भोक्ता। और जो इसे कर्ता या भोक्ता जानते हैं, वे दोनों ही नहीं जानते। तत्त्ववेता आत्मा के इस स्वरूप को जानकर ही न तो किसी में आसक्ति करता है, न किसी से द्वेष करता है। वह जानता है कि मानव-शरीर कर्म-

जन्य है। कर्मों की फल देने की योग्यता समाप्त होते ही वह क्षीण हो जाता है। और तब जिसने इस शरीर में ही ब्रह्म को जाना है, वह निर्भय पुरुष स्वयं भी अभयपद पा जाता है, अपने स्वरूप में मिल जाता है। इसी अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए श्रुति कहती है—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं
कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥ (मुण्डक० ३।१।३)

जिस समय यह जीव, विद्वान् साधक उस सुवर्ण के समान सर्वप्रिय सबके अधिष्ठानरूप निर्विकार, नामरूपात्मक प्रपंच में जो सर्वत्र विद्यमान है, ऐसे सकल जगत्कर्ता ईश्वर पुरुष, जो अपर ब्रह्म-योनि[1] है, को देखता है; वह समस्त बन्धनभूत कर्मों को समूल त्यागकर अद्वयरूप परम उत्कृष्ट अर्थात् निरतिशय समता को प्राप्त हो जाता है। यही अभय पद की प्राप्ति है और इसका मूल-मन्त्र है, सब में उसी परब्रह्म का दर्शन करना।

---

१. ब्रह्मयोनि—अर्थात् जिसमें वेद ही प्रमाण है और दूसरे, जो ब्रह्मांड का उपादान कारण है। 'कर्तारं' से यहाँ ब्रह्म को निमित्त कारण भी कह दिया है और इस प्रकार अद्वैत का प्रतिपादन हो गया है।

# ज्ञान-साधन की स्वतन्त्रता

इस जीव की मुक्ति शास्त्र ने तभी बताई है, जब कि इसे आत्मज्ञान हो जाता है। इस कथन की पुष्टि कई श्रुतियों से हो सकती है। यथा—"तरति शोकमात्मवित्" आत्मज्ञानी शोक-मोह से तर जाता है। "तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुष-मुपैतिदिव्यम्"—ज्ञानी महात्मा नामरूप से मुक्त होने पर परात्पर ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार "तैत्तिरीय उपनिषद्"में भी कहा—"ब्रह्मविदाप्नोति परम्" ब्रह्मवेत्ता परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। "श्वेताश्वेत उपनिषद्" में बताया कि "ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः" परमदेव को जानकर सब प्रकार के पाशों से मुक्त हो जाता है। इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि परमात्मा की प्राप्तिरूप परम-पुरुषार्थ की सिद्धि इस ब्रह्मज्ञान से ही होती है।

परन्तु जैमिनी ने इस सिद्धान्त से मतभेद बताते हुए कहा है कि पुरुषार्थ का साधन कर्म है। जिस प्रकार कर्म के दूसरे अंगों की फल श्रुति उनकी प्रशंसामात्र समझी जाती है, इसी प्रकार ब्रह्म-विद्या से ब्रह्मज्ञान होता है और मुमुक्षु मुक्त हो जाता है, ऐसा कहना भी विद्यारूपी कर्म की प्रशंसा करना ही है। और विद्या कर्मों का अंग है। इसके प्रमाण में जैमिनी ने "बृहदारण्यकोपनि-षद्" का यह प्रसंग कि राजा जनक ने एक समय बहुत बड़ा यज्ञ किया और उसमें कुरु तथा पाञ्चाल देश के बहुत से ब्राह्मण एकत्र हुए थे—प्रस्तुत किया है। साथ ही "छान्दोग्य" में वर्णन आया कि राजा अश्वपति ने अपने पास ब्रह्मविद्या सीखने के लिए आये हुए ऋषियों से कहा—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

'आप लोग सुनें, मेरे राज्य में न तो कोई चोर है, न कंजूस है, न मद्य पीने वाला है, न अग्निहोत्र न करने वाला है और न कोई विद्याहीन है। यहाँ कोई परस्त्रीगामी पुरुष ही नहीं, फिर कुलटा स्त्री तो आई कहाँ से? हे पूज्यगण! मैं भी यज्ञ करने वाला हूँ। एक-एक ऋत्विज को जितना धन दूँगा उतना ही आप लोगों को भी दूँगा, आप यहीं ठहरें।" महर्षि उद्दालक, जिन्होंने अपने पुत्र श्वेतकेतु को ब्रह्मविद्या का उपदेश किया, स्वयं यज्ञ-कर्म करने वाले थे। इस प्रकार श्रुतियों द्वारा वर्णित श्रेष्ठ पुरुषों के आचरण देखने से यही सिद्ध हो रहा है कि ब्रह्मविद्या कर्म का ही अंग है और कर्मों के सहित ही वह पुरुषार्थ का साधन है। इसके अतिरिक्त 'छान्दोग्योपनिषद्' में यह भी कहा गया है कि "जो ओंकाररूप अक्षर के तत्व को जानता है और जो नहीं जानता, वे दोनों ही कर्म करते हैं, परन्तु जो कर्म विद्या, श्रद्धा और योग से युक्त होकर किया जाता है, वह प्रबलतर है। इससे भी यही ध्वनित हो रहा है कि केवल ज्ञान पुरुषार्थ का हेतु नहीं। "बृहदारण्यक" में यह भी कहा गया है कि जब आत्मा शरीर से निकलकर जाता है तब उसके साथ प्राण, अन्तःकरण और इन्द्रियाँ तो जाती ही हैं, विद्या और कर्म भी जाते हैं। इस प्रकार विद्या और कर्म दोनों के संस्कारों को साथ लेकर जीवात्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में गमन करता है और इससे भी यही सिद्ध हो रहा है कि विद्या कर्म का ही अंग है।

परन्तु जैमिनी का यह मत ठीक नहीं। उन्होंने जो युक्तियाँ दी हैं, वे भी आभासमात्र ही हैं। यद्यपि ब्रह्मज्ञान के साथ-साथ लोक-संग्रह के लिए या प्रारब्धानुसार शरीर स्थिति के निमित्त किए जाने वाले कर्म रहें, तो उनसे कोई हानि नहीं है; तथापि परमात्मा की प्राप्तिरूप पुरुषार्थ का कारण तो एकमात्र परमात्मा का तत्व-ज्ञान ही है। इसके सिवा न तो कर्म-ज्ञान का समुच्चय परमपुरु-

षार्थ का साधन है और न केवल कर्म ही; क्योंकि श्रुति में कहा है—

> इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढ़ाः।
> नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥

इष्ट और पूर्त कर्मों को ही श्रेष्ठ मानने वाले पुरुष उससे भिन्न वास्तविक श्रेय को नहीं समझते। वे शुभ-कर्मों के फलरूप उच्च-लोकों में भोग भोगकर पुनः मनुष्य-लोक में अथवा और भी नीचे की योनियों में जाते हैं ऐसा बताकर "मुण्डकोपनिषद्" में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि कर्म-कारणरूप उस ब्रह्म को जान लेने पर इस मनुष्य के हृदय की ग्रन्थि का भेदन हो जाता है और इसके सब संशय एवं कर्म क्षीण हो जाते हैं। अतः यह कहना ही युक्तयुक्त होगा कि ब्रह्मविद्या कर्मों का अंग नहीं।

जैमिनि ने जो श्रेष्ठ पुरुषों के आचार का प्रमाण दिया है, वह सोलहों आने ठीक नहीं उतरता, क्योंकि जहाँ ज्ञाननिष्ठ जनकादि महापुरुषों को लोकसंग्रह के लिए यज्ञादि कर्म करते देखा जाता है, वहाँ केवल भिक्षा से निर्वाह करने वाले विरक्त संन्यासी-महात्माओं को समस्त कार्यों का त्यागकर ब्रह्मचिन्तन में ही रत रहते भी देखा जाता है। जिन्हें वास्तव में ज्ञान प्राप्त है, उनका न कर्म करने से कोई प्रयोजन है, न उनके त्याग करने में कोई हेतु है। भगवान् ने कहा है—

> यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
> आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥३।१७॥

जो आत्म में ही रत है, आत्मा में ही तृप्त है, संतुष्ट है, उसके लिए कोई कर्म शेष नहीं रह जाता। श्रुति भी समर्थन कर रही है—

"ब्रह्मवेत्ताओं में वही श्रेष्ठ है जो (कर्मों से मुक्ति पा)

आत्मा में ही रमण करता है, आत्मा में ही क्रीड़ा करता है।"

आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥

( मुण्डक० ३।१।४ )

जब श्रुति में कर्म-त्याग के आचार का भी वर्णन पाया जाता है, तब विद्या को कर्म का अंग कैसे स्वीकार किया जा सकता है। 'ब्रह्मसूत्र' में इसका स्पष्टीकरण करते हुए बताया गया है कि उपनिषद् में जो आख्यान आए हैं, वे ब्रह्मविद्या को भली भाँति समझाने के लिए कहे गए हैं, अतः ब्रह्मविद्या के ही अंग हैं। इसीलिए इन सब आख्यानों का विशेष महत्व बताया है। आगे कहा है कि—

अतएव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ।३।४।२५॥

इसीलिए इस ब्रह्मविद्या रूप यज्ञ में अग्नि, समिधा, घृत आदि पदार्थों की आवश्यकता नहीं। भगवान् कृष्ण ने इसका समर्थन किया है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥४।२४॥

"उस ब्रह्मचिन्तन रूप यज्ञ में भिन्न-भिन्न उपकरण और सामग्री आवश्यक नहीं होती। उस में तो स्रुवा, हवि, अग्नि, हवनक्रिया सब ब्रह्मरूप ही हैं। उस ब्रह्मचिन्तनरूप कर्म में समाहित हुए साधक द्वारा जो प्राप्त किया जाने वाला फल है, वह भी ब्रह्म ही है।" इस प्रकार यह ब्रह्मविद्या उस परमपुरुषार्थ की सिद्धि में सर्वथा स्वतंत्र होने के कारण कर्म की अंगभूत नहीं हो सकती। इसी दृष्टि से आत्मज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। भगवान् ने अर्थार्थी, जिज्ञासु, आर्त और ज्ञानी जो चार प्रकार के भक्त गिनाए हैं, उनमें ज्ञानी को ही अपना आत्मा माना है।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ॥ (७।१८)

और ऐसा ज्ञानी जो सब कुछ वासुदेवस्वरूप ही देखता है, वह तो अनेक जन्मों के पुण्यों के फल से ही, ऐसी बुद्धि पाता है। भगवान् ने कहा—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ (७।१९॥)

ऐसा ज्ञानी ही भगवान् को पाकर तद्रूप हो जाता है। ज्ञान की महिमा को जानकर भी जो गुरु के समीप जा इस द्रष्ट-फल विद्या को ग्रहण नहीं करता उसका जन्म व्यर्थ ही जाता है। और जिसने इस ज्ञान को पा लिया, वह तो पाप-पुण्य से छूटकर भगवान् से समता प्राप्त कर लेता है। ज्ञान होने के कारण जब राग-द्वेष से मुक्त हो जाता है, तभी इसके पाप-पुण्य भी छूटते हैं; क्योंकि इन का मूल तो राग-द्वेष ही हैं। पाप-पुण्य-रूपी कर्मों से छूटा तो फिर इसका पुनर्जन्म भी नहीं होता। जिसने भगवान् से समता प्राप्त कर ली उसके लक्षण भगवान् ने गीता में बता दिए हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥(१२।१३-१४॥)

और—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति॥
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥ (१२।१७॥)

तो सच्चा ज्ञानी भक्त न तो किसी से द्वेष करेगा और न किसी से मोह-ममता ही रखेगा। अहंकार से शून्य होगा। सुख-दुःख में समान भाव रखने वाला होगा। शुभ-अशुभ में उसकी कोई आसक्ति अथवा प्रतिकूलता नहीं दिखाई देगी। निन्दा-स्तुति शत्रु-मित्र, मान-अपमान सब में स्थिरबुद्धि रहकर वह स्वभाव से भगवत्-चिन्तन में लगा रहेगा। ऐसे ज्ञानी भक्त से स्वयं भगवान्

भ कभी-कभी अपने को लज्जित अनुभव करने लगते हैं। एक कोई ऐसा ही ज्ञानी भक्त था। वह भगवान् के मन्दिर में जाता था। जब वह दर्शन करने जाता, भगवान् उसकी ओर पीठ कर लेते। उसे अपने से बड़ी ग्लानि हुई। उसने सोचा—सम्भव है मुझसे कोई बड़ा पाप बन गया है। इसलिए भगवान् मुझसे पीठ फेर लेते हैं। धिक्कार है, ऐसे शरीर को। चलो गंगा में डूब कर हत्या कर लें। उधर एक कुष्ठ-रोग से पीड़ित रोगी भी मन्दिर के आगे पड़े-पड़े अपने जीवन से तंग आ गया था। उसने भगवान् से कहा—"आपके दरवाजे पर पड़े रहकर भी मैं निराश ही हुआ हूँ। ऐसा शरीर पाकर मुझे भी इससे घृणा हो रही है। मैं कल गंगा में अपने प्राण दे दूँगा।" उसी रात्रि भगवान् ने उसे स्वप्न दिया कि मेरा एक भक्त प्रातः ही गंगास्नान को जायगा। उसके चरण पकड़ लेना। उसने आशीर्वाद दिया तो मैं तुम्हें नीरोग कर दूँगा। बस, वह घिसटते-घिसटते गंगा-तट पर जा पहुँचा और जब प्रातः वही ज्ञानी भक्त वहाँ आया तो उसने उस के चरण पकड़ लिये। वह दुविधा में फँस गया। क्या करे? उसने बहुत समझाया कि मुझे ऐसी कोई सिद्धि प्राप्त नहीं, मुझे छोड़ दो। पर, वह न माना। उसने अपना स्वप्न उसे सुना दिया। ज्ञानी ने आश्चर्य से कहा—"अच्छा, ऐसी बात है तो भगवान् तेरे को नीरोग कर देगा।" बस, उसके इतना कहते ही वह कुष्ठ से पीड़ित व्यक्ति नीरोग हो गया। अब इस भक्त को अपना निश्चय बदलना पड़ा। सोचा उसने-भगवान् कैसे कौतुकी हैं, मुझसे पीठ भी फेरते हैं और ऐसा काम भी कराते हैं। वह सीधा मंदिर में पहुँचा। देखा तो भगवान् उसकी ओर ही मुँह करके हँस रहे हैं। अब उसने उलाहना देकर पूछा—"आज क्यों नहीं पीठ मोड़ी भगवन्? हँस क्यों रहे हैं?"

भगवान् बोले–"तू ने मुझे जाप करते-करते लज्जित कर दिया

था। इसलिए मैं तुझे मुँह नहीं दिखाता था। मैं तेरे कुछ काम नहीं आया था अभी तक। आ तेरी बात रखकर मैंने इस कोढ़ी को ठीक कर दिया, इसीलिए मैं प्रसन्नता पूर्वक तेरी ओर देख पा रहा हूँ।" तो इससे पता चलता है कि भगवान् अपने ज्ञानी भक्तों का कितना ऊँचा स्थान मानते हैं। भगवान् की दृष्टि में सब एक-से ही हैं सब उसके ही स्वरूप हैं। वह हममें है, हम उसमें है। नमक के डले में कौनसा भाग नमकीन नहीं है। सब एकरस है। इसी प्रकार सर्वत्र वह परमात्मा ही ओतप्रोत है। माया से आवृत्त होने के कारण ही हम अपने उस स्वरूपभूत परमात्मा को नहीं पहचान पा रहे हैं। जिसने इस आवरण को हटा दृष्ट-फल ज्ञान का सम्पादन किया है, वह इस स्वतंत्र साधन से ही 'वीतशोकः' हो जायगा। अतः इसी ज्ञान के लिए साधन जुटाने चाहिएँ।

---

## मोक्ष !

भगवान् शंकराचार्य से जब पूछा गया—"बोधो हि को" वास्तविक ज्ञान क्या है ? तो उन्होंने सूक्ष्म में उत्तर दिया—"यस्तु विमुक्ति हेतुः" वह जो यथार्थ मुक्ति का कारण है ! इससे पता चलता है कि ज्ञान से ही मोक्ष सम्भव है और कोई उपाय मोक्ष का नहीं। ज्ञान नाम है अविद्या की निवृत्ति का, यह पहले बता चुके हैं। और मोक्ष क्या है ? मोक्ष है अविद्या की निवृत्ति और आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति। गीता में भगवान् ने भी कहा है—

स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ ५।२१॥

वह पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मारूप योग में एकीभाव

से स्थित हुआ अक्षय आनन्द को अनुभव करता है। ऐसा आनन्द, जिसका कभी क्षय नहीं होता। दूसरे ढंग से कहें तो शंकराचार्य जी के ही अनुसार मोक्ष, मन के नाश का ही नाम है। "ब्रह्मबिन्दु" उपनिषद् का यह मन्त्र हम पहले बता आये हैं कि मन ही बन्धन और मुक्ति का हेतु है। मन में संसार है, तो वह बन्धन दिलाने वाला है और संसार नहीं है, निर्वेद है तो वही मन मुक्ति दिलाने वाला है। भगवान् ने भी ऐसा ही कहा है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥५।१९॥

अर्थात् जिनका मन समत्वभाव में स्थित है उनके द्वारा इस जीवितावस्था में ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया, यानी वे जीतेजी ही संसार से मुक्त हो गये हैं; क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मा में ही स्थित हैं। यह भी मुक्ति का एक स्वरूप है।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ ९।२९ ॥

जो परमात्मा में स्थित हैं, उसे प्रेम से भजते हैं; भगवान् उनमें भी प्रत्यक्ष प्रकट हैं। समत्वभाव में मन स्थित होने का अर्थ ही यही है कि वह सब में उसीको देखे, उसका सब भूतप्राणियों में दर्शन करना ही समत्वभाव है और ऐसा होने पर मन स्वतः संसार से शून्य हो जायगा। मन से संसार हटा तो मुमुक्षु को अपना स्वरूप-दर्शन करने में, भगवान् का साक्षात्कार करने में विलम्ब नहीं होगा। यह स्वरूप-दर्शन, अपने आत्मा का ज्ञान ही मोक्ष है। धृतराष्ट्र को उपदेश करते हुए सनत्सुजात ने बताया कि—"सकाम पुरुष अपने पुण्य-कर्मों के द्वारा नाशवान लोकों को प्राप्त होते हैं; परन्तु, जो ब्रह्म को जानने वाला विद्वान् है, वही उस ज्ञान के द्वारा सर्वरूप परमात्मा को प्राप्त होता है। मोक्ष के लिए ज्ञान के सिवा दूसरा कोई मार्ग नहीं।"

प्रश्न उठता है कि विद्वान् पुरुष—जिन्होंने सत्-असत् का सही विवेक कर लिया है—सत्यस्वरूप परमात्मा के जिस अमृत एवं अविनाशी परमपद का साक्षात्कार करते हैं, उसका रूप कैसा है ? क्या वह सफ़ेद-सा, काजल-सा, लाल-सा या सोने-से पीले रंग का प्रतीत होता है ? सनत्सुजात ने समझाया है कि यद्यपि श्वेत, लाल, पीले, काले और सूर्य के समान प्रकाशमान, अनेकों प्रकार के रूप प्रतीत होते हैं; परन्तु ब्रह्म का वास्तविक-रूप न पृथ्वी में है, न आकाश में। समुद्र का जल भी उस रूप को धारण नहीं करता। ब्रह्म का वह रूप न तारों में है, न ही वह बादलों के आश्रित है। इसी प्रकार वह वायु, देवगण, चन्द्रमा और सूर्य में भी नहीं देखा जाता। ब्रह्म के उस स्वरूप का कोई पार नहीं पा सकता, वह अज्ञानरूप अन्धकार से परे है। महाप्रलय में सबका अन्त करने वाला काल भी उसी में लीन हो जाता है। वह रूप उस्तरे की धार से भी अति सूक्ष्म और पर्वतों से भी महान् है। अर्थात् वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर और महान् से भी महान् है। "अणोरणीयान्महतो महीयान्।" वही सबका आधार है, वही अमृत है, वही लोक है, वही यश तथा वही ब्रह्म है। सभी भूत उसीसे प्रकट हुए और उसी में लीन होते हैं। विद्वान कहते हैं—कार्यरूप जगत् वाणी का विकारमात्र है। किन्तु जिसमें यह सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है, उस नित्य कारणरूप ब्रह्म को जो जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं। वह ब्रह्म रोग, शोक, पाप से रहित है और उसका महान् यश सर्वत्र फैला हुआ है।

उस सर्वशक्तिमान् को प्राप्त करने के लिए हमें भी उसी तरह पापरहित, शोक-राग से विमुक्त होना होगा। लेकिन हम अपने अनादि शत्रुओं के वश हो जाते हैं और अपने आदिगुणों को भूल जाते हैं। अनादि शत्रु कौन हैं ? शोक, क्रोध, लोभ, काम मान, अतिनिद्रा, ईर्ष्या, मोह, तृष्णा, कायरता, गुणों में दोष

देखना और निन्दा करना, यही बारह दोष हैं जो हमारे शत्रु के समान हैं। इसके विपरीत हमारे मित्र-सम भी बारह गुण हैं। धर्म, सत्य, तप, इन्द्रियसंयम, डाह न करना, लज्जा, सहनशीलता, किसी के दोष न देखना, दान, शास्त्रज्ञान, धैर्य और क्षमा, इन बारह व्रतों से जो च्युत नहीं होता वह सम्पूर्ण पृथ्वी पर शासन कर सकता है। इनमें से तीन, दो अथवा एक गुण से भी जो युक्त है, उसका अपना कुछ भी नहीं होता अर्थात् उसकी किसी भी वस्तु में ममता नहीं होती। ममता तो पाश के समान है—

पाशो हि को यो ममताभिमानः

इन्द्रियनिग्रह, त्याग और अप्रमाद—इनमें अमृत की स्थिति है। ब्रह्म ही जिनका प्रधान लक्ष्य है उन बुद्धिमान ब्राह्मणों के यही मुख्य साधन हैं। पूर्वकाल में गौतमी नाम की एक ऐसी ब्राह्मणी हो गई है, जिसने पुत्र की मृत्यु पर तनिक भी शोक न कर उसके हत्यारे सर्प को न मारने की अनुमति दी। ऐसा ही शोक और ममतारहित होना मुमुक्षु के लिए परमावश्यक बताया है। गौतमी की कथा महाभारत के अनुशासनपर्व में इस प्रकार आई है—बूढ़ी ब्राह्मणी गौतमी शान्ति के साथ साधनों में लगी रहती थी। एक दिन उसने देखा, उसके इकलौते बेटे को साँप ने डँस लिया है और उसकी मृत्यु हो गई है। इतने में ही अर्जुनक नाम के एक बहेलिये ने उस सर्प को जाल में बाँध लिया और अमर्षवश उसे गौतमी के पास लाकर कहा—"देवी! तुम्हारे पुत्र के प्राण इसी अधम साँप ने हर लिये हैं। बताओ, मैं इसका किस प्रकार वध करूँ? इसे जलती हुई आग में झोंक दूँ? या इसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर डालूँ? बच्चे को मार डालने वाला यह सर्प अब जीवित नहीं छोड़ना चाहिए।"

बूढ़ी गौतमी ने कहा—"अर्जुनक! तुम अभी नासमझ हो। इसे छोड़ दो। यह मारने योग्य नहीं। होनी को कोई टाल नहीं

सकता। जो इतना सत्य जानता है, वह सर्प को मारकर अपने सिर पाप क्यों लेगा? इसे मार डालने से मेरा पुत्र जीवित नहीं हो सकता। इसको जीवित छोड़ देने में भी कोई हानि नहीं होगी; फिर इस प्राणी की हत्या कर कोई नरक का रास्ता क्यों पकड़े?"

व्याध बोला—"देवि! दूसरों को कष्ट में देख बड़े-बूढ़े लोग तुम्हारी तरह ही दुःखी हो जाते हैं। पर तुम्हारा यह उपदेश तो किसी स्वस्थ पुरुष के लिए हो सकता है, मेरा मन तो खिन्न हो रहा है। मैं इस नीच सर्प को अवश्य मार डालूँगा। तुम भी इसके मारे जाने पर अपने पुत्र का शोक त्याग देना।"

गौतमी ने उसी प्रकार शांत भाव से कहा—"मेरी जैसी स्थिति, अवस्था वालों को शोक नहीं होता। सज्जन पुरुष सदा धर्म में ही लगे रहते हैं। इस बालक की मृत्यु इसी तरह होने वाली थी, इसलिए मैं सर्प को मारने में असहमत हूँ। तू भी कोमलता का वर्ताव कर और इस साँप को क्षमा करके छोड़ दे।"

व्याध ने फिर भी हठ किया—"शत्रु को मारने में ही लाभ है। अहि रिपु पावक पाप प्रभु न गनिअ छोटि कर।"

"अर्जुनक!"—गौतमी ने समझाया—"शत्रु को बंदी बना उसे मार डालने में क्या लाभ होता है, उसे मुक्त न करने से कौनसी कामना की सिद्धि हो जाती है? क्या कारण है कि मैं सर्प के अपराध को क्षमा न करूँ? किस लिए मैं मोक्ष-प्राप्ति के साधनों से वंचित रहूँ।"

व्याध तो तामसी बुद्धिवाला था। फिर तर्क करने लगा—"इसे जीवित छोड़ा तो यह और भी मनुष्यों को काटेगा और उनके प्राण लेगा! अनेकों की जान लेकर एक जीव की रक्षा करना उचित नहीं। धर्म को जानने वाले पुरुष पापी और अपराधी का त्याग कर देते हैं, अतः तुम भी इस सर्प को मारने में बाधा न डालो।"

जब इस प्रकार व्याध के बारम्बार कहने पर भी गौतमी ने सर्प को मारने की अनुमति नहीं दी, तब बन्धन से पीड़ित होते हुए उस सर्प ने धीरे-धीरे साँस लेते हुए मनुष्य की वाणी में कहा—"अरे, अर्जुनक! इसमें मेरा क्या दोष है, मैं तो पराधीन हूँ। मृत्यु ने मुझे प्रेरित किया है। उसी की आज्ञा से मैंने इसे डंसा है, क्रोध से अथवा स्वेच्छापूर्वक नहीं। अतः इसमें अपराध है तो मृत्यु का ही है, मेरा नहीं।"

व्याध ने उत्तर दिया—"भले ही तू ने दूसरे के अधीन होकर यह अपराध किया, पर तू इसमें कारण है, इसलिए तू भी दण्ड का भागी है। अतः तुझे जीवित नहीं छोड़ना चाहिए।"

सर्प बोला—"जिस प्रकार मिट्टी का पात्र बनाने में दण्ड और चक्र कारण होते हुए भी कुम्हार के अधीन हैं, इसी प्रकार मैं भी मृत्यु के अधीन हूँ। इसलिए मुझे दोषी ठहराना उचित नहीं।"

व्याध अपनी बात पर अड़ा था। बोला—"तू अपराध का कारण या कर्ता न भी हो, तो भी बालक की मृत्यु तुझ से ही हुई है। इसलिए मैं तुझे वध्य समझता हूँ। तू बाल-हत्यारा और क्रूर है।"

साँप ने अपना तर्क रखा—"यज्ञ कराने वाले ऋत्विज जिस प्रकार फल के भागी नहीं होते, यजमान को फल मिलता है, इसी प्रकार इस अपराध का दोष भी मृत्यु के सिर है।"

तब वहाँ मृत्यु भी आगई और बोली—"तुझे काल की प्रेरणा से ही मैंने तुझे प्रेरित किया था। इसलिए इस बालक की मृत्यु में न तू कारण है, न मैं हूँ। जैसे हवा बादलों को इधर-उधर उड़ाकर ले जाती है उसी प्रकार मैं भी काल के वश में हूँ। यह सारा जगत काल का ही अनुकरण करने वाला है। सभी काल के अधीन हैं। संसार में जितने प्रवृत्ति और निवृत्ति, धर्म तथा उनके फल हैं, वे सब काल के ही वश में ह। इस बात

को जानकर भी तू मुझे क्यों दोष दे रहा है !"

व्याध ने इतना सुनकर भी सर्प को बंधन मुक्त नहीं किया। तब वहाँ काल आया। वह बोला–"मैं, सर्प अथवा मृत्यु कोई भी अपराधी नहीं है। प्राणियों की मृत्यु में हम लोग प्रेरक नहीं। इस बालक ने जो कर्म किए थे उन्हीं से इसकी मृत्यु हुई है। इसके विनाश में इसका कर्म ही कारण है। जिस प्रकार धूप और छाया दोनों सदा एक दूसरे से मिले रहते हैं, उसी प्रकार कर्म और कर्ता भी एक दूसरे से सम्बन्ध रखते हैं। इस प्रकार विचार करने से इस बालक की मृत्यु में मैं, तू, ब्राह्मणी, सर्प, काल, कोई भी कारण नहीं। यह बालक स्वयं अपनी मृत्यु में कारण है। इस प्रकार व्याध को कुछ संतोष हुआ। उसने सर्प को छोड़ दिया। काल, मृत्यु, सर्प जैसे आए थे, वैसे ही चले गए। और गौतमी भी पूर्ववत् शान्त हो अपने साधनों में लगी रही। तो इस उपाख्यान से समत्वबुद्धि, दया, एवं आत्मा के कर्तृत्व-हीन, सूक्ष्म, इन्द्रियातीत स्वरूपका उपदेश मिला रहा है। आत्मा असंग है, अपने-अपने शुभाशुभ कर्मों से ही जीवात्मा दुःख-सुख, स्वर्ग-नरक भोगता है। इस सत्य को समझकर जो मुमुक्षु निष्काम भाव से कर्म करता हुआ असंसारी हो जाता है, वही असंसारी, "निरंजनं, निष्कलं" ब्रह्म को प्राप्त हो मुक्त हो जाता है। भगवान् कहते हैं :—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते परम्॥ (१८।५४)

अर्थात्—सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में एकीभाव से स्थित हुआ प्रसन्नचित्त वाला पुरुष न तो किसी वस्तु के लिए शोक करता है और न किसी की आकांक्षा ही करता है और सब भूतों में समभाव हुआ मेरी पराभक्ति को प्राप्त होता है। पराभक्ति

यानी तत्वज्ञान की पराकाष्ठा, जिसे प्राप्त होकर कुछ जानना बाकी नहीं रहता, जिससे मुमुक्षु कृत-कृत्य हो जाता है, जिससे प्राप्त प्राप्तव्य हो जाता है। और यही अविनाशी परमपद है, जिसे पाकर लौटना नहीं होता। उसीका जन्म सराहनीय है जिसका फिर जन्म नहीं होता—"जातो हि को यस्य पुनर्न जन्म।"

---

## शान्तिपाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं
पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय
पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शन्तिः